

हमारी कुछ जीवनोपयोगी पुस्तकें

	कीमत	टा० गप
आराध्यवी कृती	० ४४	० २०
गीतावा मन्त्र	० ३०	० १३
गाथवा	१ ५०	० ३५
बाबूब वत्र पुमारी प्रेमा हन बटरके नाम	४ ००	१ ०५
बाबूब वत्र मारके नाम	२ ००	१ १५
मगल प्रनात	० ३३	० १३
मरा धम	२ ००	० ८०
रामनाम	० ५०	० २०
विश्वानिवा अहिनव माग	० ४०	० १३
गरीर-ध्रम	० २५	० १३
गच्छी रिवा	२ ००	१ ००
गयरे प्रयाग अपवा आमवपा	१ ५०	० ५०
सत्य ही आँवर है	० ८०	० ३०
सर्वोप	२ १००	० ८५
हिन्द स्वराय	० ७०	० २०
आगावा अकमात्र माग	२ ००	० ८०
भूतान-धम	१ २५	० ३०
विचार-ज्ञान १	१ ५०	० ३५
विचार-ज्ञान २	१ ५०	० ३५
विदक और साधना	४ ००	१ १५

गीता-रत्न-प्रभा

[गीताके पुा हूँ अथपन पागारी विवरणी]

भावासाहय बालेलवर



मवजीवन प्रकाशन मंदिर
अहमदाबाद-१४

मुद्रा और प्रशासन
जीएसटी शाखाभागी द्वाजी
नाजीवन मुद्राशास्त्र, अगस्त-१४

○ नवजीवन ट्रस्ट, १९६१

पहली आवृत्ति ३०००

रत्न-प्रभाषा सफलप

श्रीमद्भगवद्गीताके ७०० श्लोकोंके अन्दर कुल भिन्नकर ३८६५ पद हैं। (पद यानी शब्दोंके विभक्ति आदि प्रत्ययोंके साथ बगने-वाले भिन्न-भिन्न रूप।) अिन सब पदोंमें से अगर गीताके शब्द चुने जाय तो अनुकी मर्यादा पदांगे कम ही होंगी। लेकिन जेक ही शब्दके अर्थ हर जगह अेकसे नहीं होंते। कहीं-कहीं छटा बदलनी है, कहीं-कहीं सारा पूरा भाव ही अलग होता है।

कभी शब्द मानव-जातिकी जीवन-सिद्धिमें सम्बन्ध रखते हैं। अिमलिअे अनुका भाव बहुत ही गहरा होता है। केवल मामूली कोशमें देखकर अैसे शब्दोंका पूरा भाव खयालमें नहीं आता। भिन्न भिन्न भाष्यकारोंकी ओरसे जब अैसे शब्दोंका दार्शनिक विवरण किया जाता है तब उसका मनन करनेसे शब्दशक्तिका परिचय होता है, लेकिन अर्थ-गहन शब्द जीवनके जिस पहलूको या पुरुषार्थको व्यक्त करते हैं, उसीका मनन करने पर अैसे भाव-गहन शब्दोंका पूरा भाव प्रकट हो सकता है।

श्रीमद्भगवद्गीताको ध्यानसे पढते और अुत्साहसे पढाते अिस रत्न-प्रभाकी कल्पना मनमें जम गयी। सन् १९४२ में जब गाधीजीके 'गीता-पदार्थकोश' की नयी और परिवर्धित आवृत्ति तैयार कर रहा था तब अिस रत्न-प्रभाका सकल्प पक गया और गीतामें से करीब तीन सौ शब्द चुनकर अनुका भाव स्पष्ट करनेके लिअे अनुका विवरण लिख डाला।

बातों में गाता कि अगि आबुसिदा अगर पूरा फायदा गानासे नागिगाभू विद्यापिपारा पहुचाना हा ता जिन गणारा बमावेग मनन हा गवना है अग गव गण पर कुछ न कुछ गिगना जरूरी है।

जिनना गिगय हात ही और धार मौजे बराद गण त गिये और अतर धारेमें जा जानकारा आब-यन थी यह गिग टाग। अिनमें दगग अधिन गियाग नही ह। गीतार गियापनाकी सुवीग मनन अमी गिगेय न्हा हुआ है।

खरग-अ अंगारनर धारण जर (१९६६में) हम धारर जेल्में गाय ध तव गानियाग थी धनुभुज जगापान गीता-गणधकाग'की नभी आबनि तयार बरनमें मन् की हा ध। अरार अुगाहन धारण अिन गान ती गणारा विवरण भी गिगा गया। बागारगव गिगामें मन् प्रयाग पाग हाता मुगिग ध। जिनना धा ही गृगा और जरूरी मालूम हुआ वहा यग पर अुनार गिया है। अिन दीधकाग धा जब अिग प्रवागित बरनता तय गिया तव गारी यन्तु म फिरग ग्य गया। जरूरी गुधार गिय तजिन विवरणावा बरा भी बड़ाया नहा।

अिन विवरणीता अुग्गाग बरनयागता अिगता गाय हागा कि अिगमें अिन-जरूरी धावें नहा आती ह और जररतम अधिन गणगामें हम बग भा अतर नग है। जा गीताप्रेमी गानावा ममीहनवा जयने जीवनमें अुनारना चाहत ह और अिगा दृष्टिम गीतावा गमयना धात ह, अुर्तिके लिजे यह अक गहपमीका प्रयाग है।

मन्, गिगेय और महत्वपूण रताकी कामत बटन हाती है। हाग आतारमें मन्वकी जनेक धावें और मूल्य गगहात बरनकी रताका गविन गव जानत ही ह। गीताव जग अय-गहन और अय धन गणावा चिन्तनक लिजे हापमें गत ही अुनकी जा प्रभा नजरव गामने फग गनी वही अिन विवरणीमें प्रतिबिंबित थी है।

गीता-रत्न-प्रभा

[गीताञ्च पुन ह्ये अपपन शङ्काञ्च विवरणी]

गीता-रत्न-प्रभा

अध्याय [४-१६, १८]

सब प्राणियों में मनुष्य की विचरता यह है कि वह विचार और मनन कर सकता है—'मनतात् मनुष्य'। लेकिन बुद्धि दूधरी किया गया यह है कि कुरुरान बुग हाप रिरे ह। गस्तनमें हापीको बरी कहा जाता है। मवमुच ता यत नाम मनुष्य ही माप्य है। जितनी कम-कुगता मनुष्यमें है अतनी आर किमी प्राणामें नही पात्री जाती।

'विचारपूर्वक कम करता समीक कम न करता निणल कम न करना यह भी मनुष्यकी ही प्रतिष्ठा है। वर जानता है कि कम न करत हुभे भा यट कनी कभी अग कुछ परिणाम ला मरता है जा कम करनग पन नहा हा मरन।

मनुष्यन गतरात्री विचार कर कम मामासा बनात्री है। कम कि वर अधम किम कहें और विषम सानी निविड कम किम कहें—'जिगती विविक्ता मननील मनुष्य ही कर लपता है। बुमन यह भा पाया है कि कम करने हुअ नी कभी कभी व 'नहीं कियक गमान' हा जान ह और कुछ न करत हुन भा कम कियेका सुतरामित्व बुस पर आ जाता है। गानान सासकर अमी युक्ति वतात्री है कि जिगता कम करत हुन भी मनुष्य कम-वपनस मुकन रह मयता है। अरम सलमें व सब भाव आ जान ह। गीताका कथन है कि कात्री अकमष्टू यानी कम किये बिना रह ही नही सपता। सबल कम न करतम 'नष्कम्य सिद्धि' प्राप्त नही होती किन्तु 'काम-सकल्प' (८-१९) छादनस ही हानी है। अकमष्टू ता कोत्री

जिनने अग्निही पुगानना एगो दी जोर जो पमोतापमे जदग
 हुआ, वर आश्रमके विदाजमे भेदे ही गन्यागी हो, किन्तु केवल अिनना
 ही कर्मे पर भगवान जुगे गन्यागी नहीं पढ़ते।

अघम् [३-१३]; अघायुः [३-१६]

‘अघम्’ का अर्थ होता है ‘पाप’, नग्न-गाना या नमाज-पातक
 अयोग्य काम । अघता अर्थ तपलोफ, नकट, अज्ञान या अपवित्रता
 भी होता है । जो पापमे मुक्त है उन्हें अनघ कहते हैं । अनघका
 अर्थ ‘मुन्दर’ भी होता है । जिसका जीवन पापपूर्ण है, नमाजद्रोही
 है अथवा अर्थशून्य और विफल है उसे अघायु कहते हैं । जो मनुष्य
 नमाजकी सेवा करनेमे अनकार करता है, केवल अपना स्वार्थ और
 विन्द्रियोंका सुख ही मायता है, असा नमाजद्रोही मनुष्य अघायु है,
 उसका जीवन मोघ यानी व्यर्थ है । समाज-सेवाके लिअे अन्नोत्पत्ति
 कर उसमें से अपना अुचित हिस्सा लेना ही मनुष्यका सामाजिक धर्म
 है । अिस धर्मको भूलकर या छोडकर जो अपने ही लिअे अन्नोत्पत्ति
 करता है या अन्न पकाता है, वह अन्न नहीं खाता किन्तु पाप ही
 खाता है, असा गीताका स्पष्ट अभिप्राय है ।

अचापलम् [१६-२]

‘चापलम्’ अथवा ‘चापल्यम्’ का अर्थ है ‘चञ्चलता’ । जिसका
 मन और शरीर स्थिर नहीं, हवाके समान अधर अधर दीडता है
 वह ‘चपल’ है । (अिसीसे आकाशमे चमकनेवाली विजलीको भी

'बाला बहा है।) ध्यात्म अथवा अधिस्तरान् नामे जा मुक्त
 ह अत स्थिर-दृढ़वृत्ति मनुष्याके गुणको अध्यात्मम् कहत ह। रत्नागुणी
 मनुष्यागे स्थिर नहीं बडा जा सकता अितलिखे बिना बिना कारण
 भी ब हाथ धर ओर जान बलाने रहत ह। आगुरी वृत्तिका यह
 लक्षण ही है। गामात्रिक आत्मा बार बार बलाना वासनाक बगने
 प्रति हाथर बिना ताचे कुछ कर बडना अिद्वितीय बाने करना
 और तातु मित्र आत्मा बार बार बलान रहना आगुरी वृत्तिक ही लक्षण
 ह। आन मगन आत्माके स्थिर रहना गमात्रिका अुत्तम गुण है।
 अुमी गुणको गानान अध्यात्मम् कहा है।

अज्ञानम् [५-१५, १६, १३-११, १४-१६, १७, १६-४],
 ज्ञानम् [४-३३ मं ३८, १३-७ से ११ अित्यादि]

✓जा [अवस्थापन विभाग] याना जानना परीक्षा करना महयुग
 करना पहिचानना सूचना करना।

मनुष्य जा जा बाने जानता है गमना है जिनकी अुपरति
 ोर व्यवस्था लगाता है व सब बाने जानत अतगत हैं। जान
 आमाका गुण है जगा बनका अगगा वह आत्माका स्वरूप है अंगा
 पहना अुपुन हागा। समुचा विद्व आमाका अथवा धननका आवि
 पार हानक कारण विषयका समस्त जान आत्मजानक अतगत ही है।
 दहपारी मनुष्य अिद्विनाके द्वारा और मनक द्वारा जो भी त्रियाअे
 करना है अुनका अन्तिम पत्र जान ही है [४-३३]।

गानान, अथ कर्म आग बडकर जानप्राप्तिक साधनरूप गुण
 गमुनायका भा जान कहा है। अितलिख गीतार अथमें जान knowledge
 भी है और culture भी है। जावनमें प्राप्त होनेवाकी सब जानकारीम
 जावनक अनुभवग तथा श्रदाग मिद्व हानवाली जीवन-दृष्टिस फलित
 हानवाला हमार विषयक प्रति रहत आत्मा जीवन जीवन प्राप्त हानवाकी
 सश्रुति और अन्तमें जिन समस्त साधनाग हानवाला आत्म विद्यात
 अेक आत्म-मताय सब जान ही ज्ञान है। यह ज्ञान आत्माका स्वरूप
 हानक कारण आत्माक साथ हमंगा रहता है परन्तु किमी अनात

कारणसे भुस पर पटल आ जाता है । अिग पटलको दूर करते ही स्वयम्भू ज्ञान आप ही आप प्रगट होता है (५-१५, १६) ।

जब कोओ मनुष्य, हित-अनहित पूगे तरहगे ममजनं हुअे भी, अनहितकी ओर ही दीडता है तब भुसे ज्ञानी कहे या अज्ञानी ? व्यवहारमे हम कहते है कि वह मनुष्य ज्ञानी तो है, किन्तु हृदय-शुद्धि अथवा सत्त्व-सशुद्धि न होनेके कारण भुमकी क्रिया ज्ञानके अनुरूप नही हो रही है । परन्तु गीताकी ज्ञानकी कमीटी अलग है । गीता अैसे आदमीको अज्ञानी ही कहेगी । गीताका कथन है कि सत्त्व-सशुद्धिके बिना ज्ञान हो ही नही सकता । जहा ज्ञान मचमुच प्राप्त हुआ वहा सब दोष जल ही जाने चाहिये । मकल्प-शक्तिकी कमी सच्चे और पूरे ज्ञानकी ही कमी है । जिसलिअे ज्ञान-साधनाके वास्ते प्रथम आत्मशुद्धि ही करनी चाहिये ।

गीता कहनी है कि ज्ञानमे अैसी अद्भुत शक्ति है कि भुमके प्रगट होते ही सब पाप धुल जाते है । जिन्होंने ज्ञानकी सहायतासे अपने पाप धो डाले है, अुन्हे गीताने 'ज्ञाननिर्धूतकल्मषाः' (५-१७) कहा है । ज्ञान मनुष्यका चक्षु है (१३-३४, १५-१०) । ज्ञान जीवन-मार्गके लिअे दीपक है (४-२७, १०-११) । ज्ञान ही समर्थ तप हे (४-१०) । पाप यदि अेक समुद्र है तो भुसे पार करनेके लिअे ज्ञान अेक प्लव अर्थात् नौका है । (४-३६) ।

ज्ञानप्राप्तिके साधनोमे गीताने चित्तशुद्धि पर विशेष भार दिया है । काम, क्रोध, मोहका आवरण दूर होने पर ज्ञानका मार्ग खुल जाता है, किन्तु जिसके लिअे श्रद्धाकी आवश्यकता है । अिन्द्रिय-सयम और श्रद्धा जिसके पास है और जो ज्ञानपरायण है अुसीको ज्ञानकी प्राप्ति होती है । जहा तक गुरुके पाससे ज्ञान प्राप्त करनेका प्रश्न है वहा गीता कहती है कि गुरुके समक्ष जाकर अपने अज्ञानका स्वीकार करो, अपनी नम्रता प्रगट कर गुरुकी अनुकूलता प्राप्त करो, और वाद-विवादके ढगसे नही किन्तु जिज्ञासु वृत्तिसे बार बार अनेक दृष्टिकोणसे प्रश्न पूछो और गुरुकी सेवामे रहकर भुसके जीवनका निरीक्षण करो तथा अपने (शिष्यके) गुणदोषका परीक्षण करनेका गुरुको मौका

दा तब गुरु पूजाया जाना न मर्गे और अंगे जानें हों कि त्रिग
 पान पर फिर कभी माह न हागा तथा त्रिवायम्बका मागाकार
 हागा (४-६-२७)। अंगे पानान् जाननर लिख कुछ पा
 रता हा नरी (७-२)।

अतपस्वाय [१८-६७]

त्रिगन तरावर्षा नरी की है जा तरावर्षा पानी गयमा नरी है
 अम अतपस्व बहन ह। [तराग गलका व्यासक अथ अंग गलक
 नीर श्रिय।] त्रिग मनुष्यन कभा कभी पुताथ नहीं किय
 मन्त्ररूपान पान स्थान सामध्य या वगुका प्राजिक लिख कष्ट नहीं
 भुठाय वह त्रिगी नी वगुका हाथ या रहस्य नहीं जान गयता। अंग
 मनुष्यका विद्याका दान श्रिया जाय ता विद्या ही अतमानिन इानी है।
 पुदगाथान मनुष्यक हाथा विद्याका नेत्र नष्ट हाता है अंगका दुहायाग
 भा हाता है। अंगील्लिख तपारहित प्रपल-शुय मनुष्यका भारत विद्या
 नहा रता चाहिय। क्याकि यह अतपस्व है।

अतिमान [१६-४]

जव मनुष्य अपन लिख बडा पुष्यभाव रयता है और अंगाव
 समपडमें चलता है तत्र अंग अतिमाना बन ह। प्रत्यक मनुष्यमें
 स्वाभिमानका कुछ मात्रा ता रहता हा चाहिय जा नम्रताका विरानी
 नहीं है। परंतु जव यह मात्रा बढ़ता है तव जारनका अंगका आवलन
 ही किरत हा जाता है। अतिमाना मनुष्य और गव वानामें पाग्य
 हात हुन नी कवल अित अथ लयक कारण लगामें अत्रिय हाता
 है और अनवाते हात्कि महपागव कविन रता है। त्रिगी दापका
 ध्यानमें रयकर वाज्रिजिम्में बहा है—Pride goeth before
 destruction and a haughty spirit before a fall त्रिगीरा
 हम कह गरत ह "अतिमानो वजत्यप।"

कही बहा पर 'अतिमान' की जगह 'अभिमान' पाडातर है। अंग
 पाठन भी अथ तो बहा निचलता है। लकिन 'मानकी मात्रा बढ़न

पर ही पर योग्य बन है, 'कर्म भाग' ही 'सिद्धि' पाठके ही पाया जाता है। 'अभिमान' वाले पाठम पर मूर्ति नहीं करी।

अत्यन्ततः [६-१६]; अनन्ततः [६-१६]

इसने ज्ञान प्राप्त किया 'अन्त' या 'अन्त' नहीं है। मनुस्मृतिके जेठ धर्मार्थ 'अभिमान' दास नहीं है।

अनारोग्यम् अनाप्यम् अन्वयम् धानिभोजनम्।

अपुष्य तीर-विद्विष्ट; तन्मान् ननु पत्न्यन्वेत् ॥

अन्तमे मत भी जेठ दास बनाता नहीं है कि 'अभिमान' योग्यता जीवनके लिये भी वास्तव है (६-१६)।

अनन्तम् यानी किन्तु न यानी अन्तको अनन्तत् करने है। अन्तके लिये भी योग नहीं है।

अदम्भित्वम् [१३-७]; दम्भ [१६-४, १७, १७-१८];

मिथ्याचार [३-६]

√दम्भ (दम्भने) = टांग फटना, ठगना, अज्ञाना पहचाना। दम्भ = धर्मव्यजित्वम् = स्वधर्मप्रगटीकरणम् = (जो अपनेमें नहीं है) अज्ञानी वगैरही करना, गुणशीलता, परोपकारिता और तपस्विताका श्रद्धा फहराना। दम्भी मनुष्य 'अपनेमें जो नहीं है अज्ञानी' भलाअज्ञानी और वदपनका दावा और दिखावा करके समाजको ठगता है और बहुमान, प्रतिष्ठा आदि लाभ पाता है। दम्भ असत्यका एक बड़ा और निर्लज्ज रूप है। दम्भी मनुष्य आत्मोन्नति नहीं कर सकता। अज्ञानका पश्चात्ताप और अज्ञानका प्रायश्चित्त भी दिखावेके होते हैं। अज्ञानके बारेमें कहा है— 'Even in penance planning sins anew' एक और पुराने पापोंका प्रायश्चित्त करते हुए दूसरी ओर नये नये पापोंके संकल्प भी करते जाते हैं।

अज्ञान मनुष्य जब कोअी देव-मन्दिर बनाते हैं तब मन्दिरके अन्दर पूजाके लिये सचमुच अपने अभिमान और दम्भकी ही मूर्ति रखते हैं, भले ही अज्ञानका नाम और रूप भगवानका हो। अज्ञान

मनुष्यारे किये हुए यथाशा मीतान मन्नाय (१६-१७ १७-१२)
 मानी पागण्ड चलनक त्रिभ किये हुए कटा है।
 दम्न अहंकार (मान) और म तीना गाय गाय चलन है
 (१६-१० १७-५)।

मिष्याचार। मनुष्य भी दम्नीय ममान ही प्राप्त होता है।
 बड़ा दफ बट दम्ना (डागा) हाता भा है। किन्तु मिष्याचार अयमें
 दम्नवा ममान नहा हाता।

मिष्या = अविविहान निरन्त है आचार त्रिगुणा त्री मनुष्यका
 मिष्याचार बहत ह।

दुबल और गिबिल मन्नाया मनुष्य जब मन्मता अनुगोचन
 या प्रपल करता है तब जार बरत अरता कर्मोदियाता त्रिपय-मपनग
 रावता है गही पल्लु गाय-गाय मनहा वामुमें लानहा आवररकता
 नही ममानम (अथवा सनसवर ना गबिन तीर बिच्छाव अभावमें)
 बबल मनन डागा अन्त हा अन्त विरराथा मानमिग मवन करता
 है। पल्लु बुगवा बाह्य त्रिपट निरन्त और निरथक हाता है। अम
 मनुष्यता ही मिष्याचार या मिष्याचारी कन्ना चाहिये। बुगरा
 दुबलता अथवा गिबिलता समाज लन नहा मवता अिगलिअ समाज
 बुगवण मयना या पुण्यना मान लना है। मिष्याचारी स्वय समाजका
 टगना नही भा पाहता हागा बरत लन्नाक कारण अपना मानमिग
 अवन्पाका प्रगट नही करता हागा। अिगलिअ जब तब यह समाजक
 धमस लान नहा बुगवा तब तब बुग हम दम्नी न बट महा
 अच्छा है। वह अनी तरफन समाजकी वचना नहा करना चाहता
 आम-नरना भा नहा करता हागा। यह दुर्वेवा अवन्य है और पापी
 भी है कबालि बट अपना अनहित करता है। अम मनुष्यारे कारण
 समाजका अनहित नही हाता है गो भी नही।

अिदियाता रावरर मनन डागा विषयापमाण बनन गारारिक
 मानसिक और नगिक कितुनिया पन् हाती ह, और समाजमें बुनका
 रोग फन्ता है। अिमीअिअ मानम-गास्त्री बहने ह Desires eradicated
 or overcome give peace but desires suppressed breed

pestilence नामनाआता मधुः नाश करनेमें या तब पर जिसके पारनेमें
 पाण्डु-नामि मिती है। नामनाआता है तब वास्तव स्थानमें मानों
 सूतके रोग पैदा होते हैं।

मिथ्यानामी भेदे दम्भी न हो, परन्तु दम्भीके दम्भी को
 मिथ्यानामी रहना ही है।

अद्रोह [१६-३]

√द्रुह् (जिसनायाम्) किमीके वारमें मनमें द्वेष और हिंसावृत्ति
 धारण करना, किमीका नृत्मान पाटना।

राजद्रोह, प्रजाद्रोह, समाजद्रोह, आत्मद्रोह, दीनद्रोह, गुरुद्रोह,
 मित्रद्रोह (१-३८) अन्वादि द्रोहके अनेक प्रकार जाने हुये हैं। द्रोहके
 अन्दर केवल हिंसावृत्ति ही रहती है। मान्यकारोंने देखा है कि
 देहधारीके जीवनमें कुछ न कुछ जीवद्रोह अथवा 'मूना' (हिंसा) आ
 ही जाते हैं।

धनी मनुष्य दीनोंका द्रोह करता ही है। हम सब ग्राम्य
 पशुओंकी सेवा लेते हैं, दुग्धादि लेते हैं, अमलिअे हमारा पशुद्रोह
 तो अस्पष्ट चलता ही है। अैसे द्रोहको हटानेका अथवा घटानेका प्रयत्न
 करना ही जीवनकी सफलता है। अिमीलिअे कहा है कि 'अद्रोहमे
 अथवा अल्पद्रोहमे जीविका प्राप्त करनी चाहिये।' 'अद्रोह' काफी
 मात्रामे पाया जाता है सिर्फ मन्यामी और यतियोंके जीवनमें ही।

अद्रोहेर्णव भूतानाम् अल्पद्रोहेण वा पुनः ।

अजिह्याम् अशठां शुद्धा जीवेत् ब्राह्मण-जीविकाम् ।

(मनु ४-२, ११)

(मित्रद्रोह शब्द भी देखिये।)

अद्वेषटा [१२-१३]

√द्विष् = वैर करना। द्वेष = वैर।

जो हमें दुःख देते हैं, जो हमारी अच्छाके विरुद्ध चलते हैं,
 अथवा जिन्हें हम पराये और प्रतिकूल समझते हैं अन्हीका हम द्वेष
 करते हैं। जिन मनुष्योंके स्वभावमे साम्य-वृद्धि आ गयी है वे किसीको

भी पराया नहीं ममता अन्तमें अपना बाजी निजा स्वाय नहीं हानेके कारण य विगाथा द्वेष नहीं करत । दुष्टानि प्रति भी अनर मनमें या या अनुरग्ना रहता है या अशमीनता अथवा अपुत्रा — अिमन्त्रिणे य द्वेषभावग रहित हात ह । मवत्र आरमभाव दगगन अथवा प्राणिमात्र विवपरितारी हा प्रजा ह य भाव दुइ हातग भवन लाग द्वेषग मुक्त रहत ह । अगावा अजातगद् भी वरत ह । मवा बहगा मुक्तिा और अनेगा अिन चार कृतिवाका यागगात्रमें चित्तप्रमानम्' कहा है । बौद्ध परिभाषामें अिह ब्रह्म विहार कडा ह [ब्रह्मण्येव चार मूग भी गाएय य हा ह] । अट्टेपान गाय गीतामें भक्तन जा स्थाण स्थिे गव ह अन्तमें ये गव आ जात ह ।

अधर्माभिभव [१-४१]

√अभि+भू = बढ़ना आक्रमण करना । अधिभव गणा सामाय अय हाता है पराभव (हाता या करना) परन्तु यत्र पर अय हाता है जोर पकटना बढ़ना या पलना । अधमक अधिभवग यानी अधम बढ़ जानसे, अधमका आक्रमण हातग ।

अधिकार [२-४७]

अधि+√ष्ट (करण) । अधिकार = गगरग नियुक्त काम हव, हुकूमत पात्रता, सम्पत्त, स्वान अित्यादि । अधिकारक शत्रता भी अधिकार कहत ह । मनुष्यका अधिकार कम वरत तत्र ही सीमित रहना चाहिये । जा कम वरगा अुमवा अुग कमक पलव अपर कम या अधिव अधिकार ता रहता हा है । गाता अुमवा अिनवार नहीं वरता, चिन्तु कहता है कि अुग अधिकारका छाड ग । गाता यह नहीं कहती कि तुम्हारा अधिकार नहीं है चिन्तु यह कहता है कि जितना कुछ भी अधिकार हा अुमे अपन पाग न रगा ।

अध्यात्मचेता [३-३०]

जीवन-दृष्टिको अंग्रेजीमें View of life कहत ह, Outlook on life भी कहते हैं । जिस दृष्टिम या दृष्टिचित्तम हम गमय

जीवनही और देखेंगे वही प्रथमता जीवन ही है हमें मिलेगा । जीवन-दर्शनता अर्थ होता है — A systematic, comprehensive and unified interpretation of the Totality known as life.

'The Greek view of life' और 'The Hindu view of life' में फिर्तारं मजदूर है ही ।

हरजेक मनुष्यही दृष्टि जानी शुद्ध और जानी व्यापक होती है, बुतना ही अमका जीवन-दर्शन मन्व, मगूद्ध और मृत्तितार होता है । अमका दृष्टिदिन्दु अगर गौण रहा ना जगत जीवन-निप कुल और बोधमून्य होगा । अमके विररीन यदि अमका दृष्टिदिन्दु मतरके केन्द्रता रहा तो वहीने जीवनके मव अग-प्रतरगौके तूर परांन प्रकाम पडेगा और अमका जीवन-दर्शन 'अमशय और ममग्र' होगा ।

आर्योका निश्चय है कि 'अंमा दृष्टिदिन्दु आध्यात्मिक ही हो सकता है,' क्योंकि अमके अभिप्रायके अनुसार आत्मा ही अकमाय सत्य है, वही नवं-नमथं और शुभकर है । अमन्दिअे अध्यात्म-दृष्टिको ही वे मन्नी जीवन-दृष्टि मानते है । भगवानने गौतामें अध्यात्म-दृष्टिसे देखनेका ही अपदेम दिया है । यदि जीवनको सदानारी और धर्मको शुद्ध बनाना है, तो जीवनही सब प्रवृत्तिया आध्यात्मिक मनमे — अध्यात्मचेतसा — चलानी चाहिये । 'अन्तरात्मा ही अिस विष्व-जीवनका नियता है । अुसीका कार्य हमें करना है ।' अंमा जिसका निश्चय हुआ, वह अपने मरं कर्म अुमीको अर्पण करता है । अंसेकी अहता और ममता नष्ट होती है, फलभोगका वह त्याग करता है और जो कुछ भी वह करता है, आसवितके ज्वरसे रहित होनेके कारण निर्दोष और वन्धनगून्य बनता है । अध्यात्म-दृष्टिकी यह महिमा है ।

अध्यात्मम् [७-२९; ८-१, ३; ११-१]

'स्वभावोऽध्यात्ममुच्यते' (८-३) प्रत्येक शरीरमे अन्तरात्मा-रूपी परब्रह्मका जो भाव है अुसे स्वभाव कहते है । अुसी स्वभावको गीताने अध्यात्म कहा है । अपनिपदमे अध्यात्मके अनेक अर्थ हैं — देह, मन, व्यक्तित्व, अन्तरात्मा, परब्रह्म । अेक विद्वानने Personality के

अधमें अध्यात्म गन् अस्तमात् गिया है। यह गन् जब अध्यात्म होता है तब भुगवा अध होता है आत्मा विरपय अधया आत्मा-गम्बधा।

आत्मा परमात्मा और दाताका गम्बध श्रियात् विषयाकी भीमागा जिगमें आता है भुग अध्यात्म विद्या (१०-३०) कहत ह। सब विद्याधामें यह विद्या निरोमति है। जा लाग जात्माका हा परम-अत्य माना ह और भुगीका कद्रमें रगपर जावन-याग गिद कहत ह, अहं अध्यात्म नित्या (१५-५) कहत ह। जिनका मन अध्यात्म-परायण है (३-३०) व हा जावन-यागका यथाय रूपग मिद कर गवन ह। श्रियात् अ अध्यात्म तात नित्य क'का भावा अर लक्षण गिना गया है।

आत्मा ता प्रत्य गरीरमें रहती हा है किन्तु प्राहत लाग अर भूत्वर गरीरका श्रष्टता देत ह और मन तथा श्रिद्रियारे वग रहत ह। जो शानी ह व आत्माका श्रष्टता स्वीकार कर अरना जीवन त्रम आत्माप्रतिव अनुभूत बना देत ह। अंगको अध्यात्म नित्य (१९-५) कहना चाहिये।

अनयचेता [८-१४]

चेतन् = मत। जितना मन श्रिधर भुधर दोडता है अमन्ती वान पर स्थिर नहीं रहता है, अरु अयमता अधया अनयचेता, absent minded कहत =। यह दाप जिगमें नहा है यह अनयचेता है। अरने ध्ययका ध्यान करनेमें जितना मन अवाग्र रहता है यही यागा है यहा भवन है। असा अवाग्र ध्यान लगानार (मतनम्) और शपका तव हमगा (नियग) यरनम भगवन् प्राप्ति मुल्भ हाता है।

बक आध्यात्मिक ध्यानमें ही नहीं, किन्तु हरजेव काममें जोर हरजेव साजमें अवाग्रताका आवरता है। जिग तरह बहिवृत्त (convex) वा (सूयवान् मणि) व द्वारा सूय किरण अवाग्र करने पर जवरत्न तेज पग हाता है, अमी तरह मानी अवाग्र करनेत अलौकिक शक्ति पग हाता है।

वृत्तिका स्थापित है। अच्छे राम्यग जो लोग जाते हैं अथवा राम्या पर जा प्रभाव पड़ता है अथवा राम्यग जो शास्त्री जलता है यह पुनः गुणाका भाग्य रूपमें दगता है और बसा जाहिर करता है। द्राह जीरा मगर और राम्या ये सब कुछ एक तब भिन्न हैं किन्तु बहुत हैं तब अन्त-राम्यग मिलनवाला गुण है।

जा प्रभाव या वृत्ति अथवा राम्यग किन्तु मुक्त है अथवा वृत्तिका अनगुणा बहता है। [जिम तरह पालीमें अनिच्छा या अनुरोध हा गया है असी तरह हमारी देना भाग्यामें अनगुणा' या अनगुणा हा गया है।]

पुराणमें बताया है कि अत्रि अपित्री पत्नी अनगुणाक पत्ने ब्रह्मा, विष्णु महर्षीकी निमूतिवा दत्तात्रयक रूपमें जन्म हुआ। जा अथवा अत्रि याता गुणानात है और जिन्का अगण्ड सम्बन्ध अनगुणा वृत्तिका है वह परम स्तित्वाका श्री तत्त्वका हा जन्म लगा और वह तत्त्व किन्तुगवामें ही अताता अपित यानी दत्त करणा। यह बाध अथवा मिथ्यात अथवा पौराणिक कथाग हम पान है।

ओराका दाग बूझन रहता यह स्वभाव कभी कभी वास्तव बटु बनस्यरा रूप धारण करता है किन्तु मनुष्यका गिराता है। जब मनुष्य गुणाका भाग्य रूपमें दगता लगता है तब जमा मनुष्य अपनका ता गिराता ही है किन्तु समाजमें अमरी हम्नी भी धापन्य हाती है। अथवा अथवा अनगुणा वृत्तिका अध्यात्म भागमें — आमोप्रतिभ भागमें अत्यन्त मन्त्र बनाया है।

अनहवादी [१८-२६]

अहवादी (यानी अहवादी) जिममें नहीं है अथवा अनहवादी बहुत है। ज्ञानियगाम्त्र कहता है कि बुध, शुक्र, मंगल, गुरु, शनि आन्विके समान हमारी पृथ्वी भाग्य यह ही है। और अथवा समान सूर्यक अग्निद यमनी है। सूर्य स्वामी है और पृथ्वी परिचर है किन्तु चमचगके अनुभवका गनी मानकर मनुष्यने पृथ्वीका विश्वका बन्ध माना और सूर्यका भी चन्द्रके समान पृथ्वीकी परिचरमा करनवाला अथवा परिचर मान लिया और अनन्त खगाका अथवा छाटस भूगाम्त्र आमपाम

धूमनेवाली ज्योतियोके रूपमे बता दिया। फलत मनुष्यका ज्योतिष-शास्त्र जटिल (अटपटा) और अयथार्थ हो गया।

जीवनमे भी जब मनुष्य अपनेको ही केन्द्रमे रखता है और अपना सुख-दुख, लाभ-हानि सोचकर ही चलता है और अपना ही प्रभाव सिद्ध करनेकी कोशिश करता है, तब उसकी जीवनविद्या भी भू-केन्द्रित ज्योतिष-विद्याके समान वेबुनियाद और व्यर्थ हो जाती है। अपनेको ही केन्द्रमे रखनेवाले आसुरी वृत्तिके लोगोको गीताने अहवादी कहा है। गीताके प्रारम्भमे दुर्योधन भी 'मदर्थ' का, अपने स्वार्थी हितका विचार करता है। अिस दोपसे जो मुक्त है वे दैवी वृत्तिके सात्त्विक लोग होते हैं। उनुकी श्रद्धा होती है कि सब कुछ करनेवाले हम नही हैं, भगवान ही हैं; और हमे जो जीना है वह भी अपने स्वार्थके लिअे नही किन्तु भगवानका कार्य करनेके लिअे ही।

अनामयम् [२-५१; १४-६], दुःखशोकामयप्रदाः [१७-९]

आमय कहते हैं रोगको। जिसमे मन रोगी अवस्थामे नही है उस अवस्थाको सत्त्व कहते हैं। जो पुरुष मुक्त हुआ है उसकी स्थिति भी अनामय है। रजोगुणकी प्रवृत्ति हर तरहके रोगोको प्रश्रय देती ही है। वासनाओसे मुक्त, अतअेव गात वृत्तिके मनुष्यका मन ही निरोगी रहता है। वाकी यह सारी दुनिया और यहाका मनुष्य-जीवन आमयमय ही है, अिसीलिअे तो उसे दुःखालय कहा है।

अनार्यजुष्ट [२-२]

अिसमे से 'आर्य' शब्दकी ओर विशेष ध्यान देना चाहिये। भारतके अितिहासमे आजकल बताया जाता है कि 'आर्य नामक अेक वंश था, जिसके लोग वाहरसे हिन्दुस्तानमे आये। उनुके पहले जो लोग अिस देशमें रहते थे उनुको अनार्यका नाम दिया गया। उनुहे दस्यु भी कहते थे। विजेता अपनेको श्रेष्ठ समझे और जिन लोगोको जीते उनुहे सस्कारशून्य, हीन समझे यह स्वाभाविक ही है।' किन्तु हमारे साहित्यमें आर्य और अनार्य ये दोनो शब्द जातिवाचक या वंशवाचक

नहीं, किन्तु गुणवाचक पाये जाते हैं। वृत्तेन हि भवत्पार्षो न घनेन
 न विद्यया । जो सरकारी है सज्जन है व अर्थ । आयता त्रिगणे
 सात्री है अपवा प्राप्त नहीं की है यह अनाप । अथ ही वग या
 जानिमें वग हाग आय हाग वग अनाप हागे ।

शोडश गणित्त्वमें आय और अाय गण गुणवाचक ही पाये जाते
 हैं वगवाचक नहीं ।

आय व ह जा हात वम नहा वरा, दुगतरणा परहेत्र रगत
 है, गमय पर वाम वरत है वहादुर हात ह आपररायण गगृतिरा
 ही पगन् वरत ह साछनग डल ह ।

गीतामें आय गच्छ त्रिगो अर स्थान पर आया है और महा
 पर वह वगवाचक नहीं है ।

अनिवेत [१२-१९]

वत् अपवा वदनमूवा अय हाता है पर । अनासा निवत्न अपवा
 निवेताम् भी वहा ह । जम "गान्निवत्तन" । जा मनुष्य किमी गग
 घर या स्थानम वया हुआ नहीं है वत् अनिवत्त है । अगे अनगार
 अयका अनगाग्वि भी वहत है ।

मनुष्यग मुख्य वया है घर और पत्नी । अिहीके द्वारा गृहस्था
 श्रम गम्यन्न हाता है । पत्नीको भी गृह वटनेका रिवाज है । अनगाग्वि
 अपवा अनिवत्त यत् विनेयण पग्नित्राजग गयागाग लित्रे याग्य है ।
 किन्तु गानामें भरतारि लक्षणमें अिन विनेयणमे अुगगार विया गया है ।
 त्रिगणत्रे त्रिगवा गच्छाय न एषर विगी घरव माय त्रिगवी आगवि
 नहा है अितना ही अय र्ना चाहिये, याना घरका स्वय स्वामी
 हानका भाव त्रिगव मनमें नहा है और विगा विगिष्ट स्थानके माय
 त्रिगवा मन बद्ध नहीं है वही अनिवत्त है ।

महानारतमें अथ अुपिवा वधन आता है, जा हमेगा पृथ्वीमें
 सचार करता रत्ता था । जहा माय हा जाना अुगी स्थानको अपना
 घर गम्यन्नर वहा वह विधाम करता था । अुगवा नाम ही हो गया
 था ' यव-माय-गृहा मुनि ' ।

[क्या असा सिद्धान्त हम बना सकते हैं कि जिसका घर स्थिर हुआ उसकी मति अस्थिर होती है और जिसका कोयी घर स्थिर नहीं है उसीकी मति स्थिर होनेकी सभावना अधिक है?]

अनिर्विण्णचेतस् [६-२३]; निर्वेदः [२-५२]

अनुत्साह-शून्य यानी अउत्साहित मनसे । अनिर्वेद यानी अद्वेग जिसमे नहीं है असा मन । निर्वेदका अर्थ होता है अउत्साहका अभाव, अरुचि या वैराग्य । विपादको भी निर्वेद कहा जा सकता है । वैराग्यके अर्थमे निर्वेद अिष्ट चीज है । अनुत्साह या अरुचिके अर्थमे निर्वेद दोष-रूप है । गीतामे असि शब्दका प्रयोग दोनो अर्थोंमें हुआ है ।

योगकी साधना करते समय अनुत्साह आदि जो कषाय पैदा होते हैं, अउन्हे दूर करके अउत्साहपूर्वक योगकी साधना करनी चाहिये ।

अनुद्विग्नमनाः [२-५६], अनुद्वेगकरम् [१७-१५]

दुःख प्राप्त होते हुअे भी जिसका मन प्रक्षुब्ध यानी अस्वस्थ नहीं होता असे कहते हैं 'अनुद्विग्नमना' ।

सात्त्विक वृत्तिका मनुष्य जब किसीसे वातचीत करता है तव सत्य और हितकारी बोलते हुअे भी अैसे ढगसे बोलता है कि सुननेवालोको तनिक भी अद्वेग पैदा न करे । अैसी वाणीके तपोयुक्त वचनको अनुद्वेगकर वाक्य कहते हैं । 'अनुद्वेगः श्रियो मूलम्' ।

मनुष्यको साधना द्वारा अैसी योग्यता प्राप्त करनी चाहिये कि प्रिय वस्तु प्राप्त हुअी तो हर्षमे वह अपना भान न भूले और अप्रिय या अनिष्ट वस्तु प्राप्त हुअी तो अद्वेगके वश न हो जाय । हर्ष और विपादके वशमें जाना मनुष्यकी प्रतिष्ठाको शोभा नहीं देता (५-२०) ।

मनुष्यको अपने जीवनमे असि तरह चलना चाहिये कि न कोयी लोग असुके आचरणसे सतप्त या क्षुब्ध हो — अद्विग्न हो — और न वह स्वयं किसीके आचरणसे या घटनासे अद्विग्न हो जाय (१२-१५) ।

हर्ष, अमर्ष (असहिष्णुता), भय और अद्वेग ये चारो मनोवृत्तिया मनुष्यको असुकी शानसे गिराती हैं, असे अप्रतिष्ठित करती हैं और असुका मानसिक स्वास्थ्य नष्ट करती हैं ।

अनुबंध [१८-२५, ३९]

Co-relation अनुबंध या अथ है आगरी भाग सिरा अथवा अन्न और दूसरा अथ है सम्बंध।

√बन्ध (बध्) = बाधना जानना बाना आकषण करना।

अनु + √बन्ध = पाठ जाता जाटना विचार करना।

गिगी जत घटनाएँ पीछे-पीछे जा दूसरा पन्नायें आ ही जाती ह और अनुबंध बन्त ह। अतः यन्तुरा जिन जिन अथ यन्तुराएँ गाय गिनित सम्बंध बना रहता है अतः सम्बंधता अनुबंध कहा ह। [गिगी सम्बंध अनुसार जब बिना अथ यन्तुरा पान दन ह तब अतः सम्बंध गाय अनुबंध दूसरी यन्तुरा भी पान दनम मूल यन्तुरा पान सम्बंध हाता है अथवागमें आता है, और अनुबंध यन्तुराका पान आमाताम हजम हाता है और गिनितता बाध बाधरूप कहा हाता।]

चायनाम्बमें चार प्रकारके अनुबंध बताय ह। विषय प्रयाजन अधिकारी और सम्बंध ये हैं वे तार अनुबंध। बाकी भी धम करने समय अंगक परिणाम क्या क्या हाग और कहा तब पढ़वेंगे यह द्यना बुद्धिमाताका काम है। अतः अनुबंध नहीं द्यना वह काम सामा गिता जाता है।

अनुमन्ता [१३-२२]

अनुमोदन देनेवाला। जो स्वयं कुछ नही करता किन्तु करनेवालाका अपना मनाप या गुणी बनाकर प्रालाहा देता है, अतः अनुमात्र या अनुमता कहते ह।

भगवान या अन्तरात्मा स्वयं कुछ न करता हुआ मन, जिदियादि जब बाकी धम करने लगते ह तब अनुषा निवारण नही करता, अतः रोचना नही करत तत्स्य मागीरूप रहता है। अगलिअे भाग हाता है बि वह अनुबंध कमके अनुबंध है। अगलिअे अतः अनुमता कहत ह।

गानामें अन्तरात्मा — महंवर — का अनुमता कहा है। अतः निष्ठ भवन भा अपना मारा धनध्य भगवानके हाथमें गीपकर स्वयं निराग्रही रहता है। अतः समय भगवान अतः जा कुछ करता है

अुसमें अपनी ओरसे मानसिक और हार्दिक अनुमतिका भाव रगना और हमने सब कुछ भगवानके हाथमें सोप दिया है जिग अर्पण-स्मृतिको जाग्रत रगना यही है भातकी गायना । अिग तरह भक्त भी अनुमता बन सक्ता है ।

अनुशासितारम् [८-९]

शासनका अर्थ होता है अुपदेश देना, राज्य करना, नियमन करना, नियम बनाकर अुगके वशमें रगना । अिगीकों अनुशासन कहते हैं । भगवान सम्पूर्ण विश्वका अनुशास्ता है । वह बांध भी देता है, नियमन करता है और तटस्थ रहते हुअे भी सबका अनुशासन करता है ।

अनुस्मरणम् [८-७, १३]

अनुस्मरण अथवा अनुचिन्तन (८-८) का अर्थ होता है लगातार स्मरण, चिन्तन, मनन या ध्यान करना । जीवनकी विविध प्रवृत्तिया करते हुअे भी, भक्त अपना भगवत्-चिन्तन अेक क्षणके लिये भी बन्द नही होने देता है । हिन्दू परिवारकी वहू घरका सब कामकाज करती है, अपनी आज्ञाकारितासे सास, ननद आदि सबको सन्तुष्ट करती है, तो भी अुसको अुत्कट और अखण्ड ध्यान अपने पतिका ही रहता है । अिसीलिये अुसकी अुपमा भक्तोके अनुस्मरणके लिये दी जाती है । दूसरी जो अुपमा दी जाती है वह भी वहूकी ही है । पनषटसे घडे भर कर वहू अपने सिर पर रखती है और घर आते समय सारे रास्ते पर अपनी सहेलियोसे हास्य करते आती है, तो भी अुसका अखण्ड ध्यान सिर परके घडेका तोल सभालनेकी ओर ही रहता है । भक्तोका ध्यान-कौशल्य या अनुस्मरण अैसा ही रहता है ।

अनेकजन्मसंसिद्धः [६-४५; ४-५ श्लोक भी देखिये]

‘आत्मा है’, ‘आत्मा अमर है’, ‘कर्मका फल भुगतना ही पडता है’ अिन तीन सिद्धान्तो पर विश्वास रखना आस्तिक्यका लक्षण है । भारतीय सस्कृतिकी यह वुच्चियाद ही है ।

अन ताताता मानेने वा पुत्रमवा गिद्वान आर ही आर पलिन और पाप हा जाता है। गीताके अध्याय ४-५ में भगवाना स्वष्ट गत्तमें तम तरारावा गिद्वान भात लिता है। केवा वल्लातव तोर पर नही गिनु अपने ज्ञा जीर अनुभवके आधार पर।

अन गिद्वानव अनुगार मृनु जीवता लूगविराम नही गिनु अर स्वल्पिगम ही है। अेव जमने हम जा बुल भी करत है पान ह — माधनाह द्वारा गिद्व परत ह वर — भुगवा मार — दूगर जमने कामिव पूत्रीव तोर पर हमें मिता है और जुग पुमारी बुतिया पर हम जागरा व्यापार वर गरा ह। जीवन-भावताका जावन-मृद्विका पावतानुभवता अमा बडता पूत्रीव कारण ही मनुष्य माध प्राप्त करता आगा वर गवता है। अर जमता माधनाह द्वारा जा गिद्व मिनी वर दूगर जमव लिअ माधनरूप बनती है। अन तरा अरर जमव प्रयनामे हम गुद और गिद्व हा जान ह। अनान्त्रिे भगवान बहा ह — पुष्यवर्माता ताग नही हाला। पीर अन बुद्वि वरागव गमिद्वि प्राप्त हानी है। माधव गगुद्व किरिय हाार परामनिका प्राप्त करता है।

अनतर और परतर दाना अर-दूगरव माध गवद +। दाना मित्रवर ही विगाल और गनाना जावन गपूण हना है और जाकिरवार हरअव जीवन सरुता प्राप्त करता हा है।

अन्तराराम [५-२४]

अन्तर (आत्मनि) अर आराम वाटा यस्य स। जिसे अपने ही अन्दर मुत मिलता है वर। गुन और आराममें षोडा फर है। अर यवान दूर हानका बोअी भुपाय हम करत है तय अम हम आराम बहन ह। अत मुन और अतराराम ये दा शर अद्रियाराम (३-१६) के विद्व ह। अद्रियाराम मनुष्य विषयाभोगसे गुव पानकी काणि करता है। यागी अद्रियाका छोटवर केवल अपने ही हृदयमें आरम गुव पाता है। अद्रियारामकी स्थिति छाडवर अन्तराराम बननका यागमाग हा गानामें बताया है।

अन्तर्ज्योतिः [५-२४]

प्रकाशका जिमका साधन अन्दर ही हृदयमें है, अपनी अन्तरात्माको ही जिसने अपना प्रकाश बनाया है, अंगे मनुष्यको 'अन्तर्ज्योतिः' कहते हैं। यह योगीका वर्णन है। जिसे प्रकाश बाहरमें नहीं लेना पडता है, जिमके अन्दर ही प्रकाश है, अंगे योगी 'अन्तर्ज्योति' है। बुद्ध भगवानने भी अपने अन्तिम थुपदेशमें अपने शिष्यको कहा था — 'आत्मदीपो भव'। दूसरे अेक कविने कहा है — "अपने अन्दरसे ही प्रकाश पाना आसान काम तो नहीं है किन्तु बाहरसे या दूसरे किसी भी तरहसे प्रकाश पाना बिलकुल ही अशक्य है।" यह बात जो समझेगा वह अपने अन्दरके ही प्रकाशको प्रज्वलित करनेमें लगेगा।

अन्तःसुख [५-२४]

जिसे सुख अन्दरसे ही मिलता है वह अन्तःसुख है, बाह्य पदार्थोंके साथ सन्निकर्ष साधकर भी जो अुदासीन है, बाह्य सुखोंकी जिसे रुचि नहीं रही है और जो अपना सारा सुख अन्दरसे ही पाता है, अैसा योगी अन्तःसुख कहा जाता है। अुसका सुख परावलम्बी न होनेके कारण वह पूर्णतया स्वतंत्र यानी मुक्त होता है।

अन्नम् [३-१४, १५-१४]

यह शब्द अद् धातुसे आया है, जिसका अर्थ है खाना, भक्षण करना। जो चीज खाने लायक है वह अन्न है। प्राण-धारणके लिये या शरीरकी पुष्टिके लिये जो खाया जाता है वह अन्न है। खानेके ढगका खयाल करके अन्नके चार विभाग किये गये हैं १ भक्ष्य — चबाकर खाने लायक, २ चोष्य — चूसकर खाने लायक, ३ लेह्य — चाटकर खाने लायक और ४ पेय — पीने लायक।

अिस तरह अन्न खाकर ही प्राणी जीते हैं और अन्नका ही लहू और शुक्र बनकर नये प्राणीकी अुत्पत्ति होती है। अैसे जीवनाधार अन्नकी अुत्पत्ति पर्जन्यसे होती है और पर्जन्य यज्ञके कारण ही हो सकता है। [यह कैसे होता है वह यज्ञ शब्दके विवरणमें देखा जाय।]

प्राण धारणके लिये अन्नका मजन आवश्यक है। विन्तु यदि अन्नका अति मजन किया जाय तो वही अन्न मनुष्यका ना जाता है। (मनुष्यका ही अन्तर्गत अंगलिङ्गे किया है कि अय प्राणी अत्याहार या विरुदाहार करने आगर नहा पाय जान।) अन्निपद्में अन्नकी विरति हो है

अघने अति वा भूतानि अति अन्नम्।

अपदेवताभवता [७-२०, ९-१३]

अन्नरामारा अयान् परमांमारा छाडकर गौतम स्वामी जो भक्ति करते हैं अन्त्यव्याप्तक कहा है। गीतामें भगवान् कहे हैं कि अग लग भी भेरी ही भक्ति करते हैं विन्तु मरी भक्तिरी विधिवा और अपना भक्तिपुत्रिका मन्त्रा स्वयम् व गही जानने। अंगलिङ्गे व भजन पूजन और यजनके पूण फलम वचित रहन ह।

विस्वामारा सवश्रेष्ठ मिदाल्ल है कि श्रीरत्नक विवाय दूगरा काभी अन्तर है नहा । सामान्यतया अमका अय किया जाता है कि सुता अरु हा दानक कारण अमके विवा और विसीपके सुता मानकर अवाप्त नहीं करनी चाहिये। अगर कोभी करता है तो वह सबसे बडा पाप करता है।

अन मुस्लिम यागाने अिगी वचनका दूगरा स्प किया है, जा गीताक वचनम मिलता जुलता है और हृदयके पूरा सन्ताप भी दता है। अक सुताके विवा और कोभी सुता है ही नही यानी आप विमी भी सुताके अवादन करने जाय वह मच्छ सुताकी ही अवाप्त होती है। मनुष्य-जानिने आज तक अिगी भी अक सुताकी पूजा नही की है जो सच्चे और अद्वितीय सुताके भिन्न हो। किमा भी सुताकी पूजा करने जाय व सच्चे सुताकी ही अवादत हा जाती है। क्याकि दुनियामें अगा काभी भी सुता माना या पूजा नही गया है जा सच्चे सुताके जुता हा।

गीतामें भगवान भी यही कहत हैं कि 'मुझे छोडकर जा अय स्वताकी भक्ति करते ह वे गलत भले ही हा, विन्तु मरी ही भक्ति

करते हैं—यह वस्तुस्थिति वे नहीं जानते तो क्या हुआ, मैं तो बराबर जानता हूँ।”

अन्य देवताओंकी भक्ति करनेमें कौनसी न्यूनता आती है, वह भी भगवानने स्पष्ट किया है।

जो लोग अर्यार्यी हैं, सकाम भक्तियों परे नहीं गये हैं, वे पुत्र, पशु, स्वर्ग, धन, मान, अधिकार इत्यादि कामनाओंके कारण मृदबुद्धि होते हैं, वे मुझ परमात्मा—अन्तरात्मा—को छोड़कर अन्य देवताओंकी अुपासना करते हैं। अन्य देवताओंकी अुपासना आशुफलदायी होती है, लेकिन अुसका फल विलकुल ही तुच्छ होता है तो भी हृदयमें भक्तिका अुदय होनेके कारण वे क्रमशः भगवानके नजदीक ही जाते हैं।

अपरा [७-५]; परा [३-४२; ७-५]

अपरा — निकृष्टा, अशुद्धा, अनर्थकारी, ससारबन्धनात्मिका। पच महाभूत, मन, बुद्धि और अहकार ये आठ तत्त्व मिलकर अपरा प्रकृति होती है। जिससे अलग आत्मभूत अर्थात् जीवभूत परा प्रकृति है, जिसे क्षेत्रज्ञ भी कहते हैं। यह प्राणके लिये आवारभूत परा प्रकृति पिंड और ब्रह्मांड दोनोंका धारण करती है। सामान्य तौर पर ‘परा’ का अर्थ होता है श्रेष्ठ, अूचा, दूसरा, परेका। अपरका अर्थ भी हो सकता है दूसरा, बेतमून, श्रेष्ठ। किन्तु अुसका सामान्य अर्थ है नीचेका, पीछेका, दूरका। परा शब्द गीतामें गति, शान्ति, सिद्धि, भक्ति, अैसे शब्दोंके विशेषणके तौर पर आया है। वहा पर अुसका अर्थ श्रेष्ठ, परम, अथवा अूची अितना ही होता है। ‘परा’ का अर्थ सूक्ष्म भी होता है (३-४२)।

अपरिग्रह [६-१०]; परिग्रह [१८-५३]

√ग्रह (अुपादाने) पकडना, धारण करना, लेना। परिग्रहके अनेक अर्थ हैं। जिस किसी भी वस्तुको हम अपनाते हैं, पकड कर रखते हैं, वह हमारा परिग्रह है। सबसे पहला परिग्रह है हमारा शरीर। धन,

माल-भक्ता अंस्टेटका भी परिग्रह रहत है। दानी विवाह भी परिग्रह है। पत्नी परिग्रह है। पतिवा परिग्रहीता कहा है। एडोका गान्भे लेनवाले पितापो भा परिग्रहीता कहा ह। दा एनेका भी परिग्रह कह सता ह किन्तु भुगव लिभे राग दण है प्रतिग्रह।

मनुष्य मानता है कि परिग्रह बढ़ोग भुगवा सामर्थ्य बढ़ता है भुगव गुणमें वृद्धि हानी है। किन्तु अनुभव कहता है कि परिग्रह बढनस स्वतंत्रता कम होता है चिन्ता और बंधन बढ़ने ह और हमारे व्यक्तिगत स्वतंत्रता कम होना है। किमाने सही कहा है— 'Our possessions possess us' अर्थात् जो आप्पातिम स्वतंत्रता चाहता है भुग चाहिये कि सब परिग्रह छोड दे और साधमी बने। बाह्य परिग्रह पूणतया नहीं छूटन ह। किन्तु मुहें जहाँ तक हो सक कम करना चाहिये और आत्मनिर्भर आन्तरिक परिग्रहना ता विलकुल गूय करना चाहिये।

दरार धारण लिभे श्रेव धमक अनुष्ठानक लिभ बाह्य परिग्रह रखा जाना है भुग भा प्रयत्नपूर्वक कम करना ही योग्य है। अमी अपरिग्रह-वृत्तिसे कहा गया है

धर्मायं धन्य वित्तेहा वर सत्य निरीहता।

प्रभालनात हि पक्वस्य दूरात अस्पान वरम् ॥

अपलायनम् [१८-४३]

पलायनम यानी भाग जाना हिम्मत हारकर हट जाना। दानियाका मुख्य धम है मुद्धम मुह नहा मोटना। प्रतिवार करनेका समय आने पर कायर बनकर अजायबकारक सामने गिर नहीं गुवाना।

जिमका अर्थ यह नहीं है कि गनुका बल बढ़ने पर धाजी झुलटने पर अथवा प्रतिक्रिया टाटनेके लिभे दानिय अपना झूह न बल्ल। पलायनका अर्थ हाता है हिम्मत हारकर प्रतिवार-वृत्तिवा त्याग करना— गनुआने प्रति पराक्रम होना पीठ दिगाना। दानियाके लिभे यह लज्जाकर है।

लडाजीमें अकसर पाया गया है कि लउनेके समय या व्यवस्थित ढगसे पीछे हटनेके समय अितनी मनुष्य-हानि नहीं होती है, जितनी हिम्मत हारकर, घबराकर, अव्यवस्थित भगदड मचनेसे होती है। अुस भगदडको ही गीताने पलायन कहा है।

अपहृतचेता: [२-४४]

जिनकी बुद्धि चुराजी गयी है, जिन लोगोके मनमें वासना भरी है और अपने सुखान्त भागके जो लोभी है, अैसे लोगोकी रोचक वाणीमें जो फस गये है और फलत. जिनकी विवेक-बुद्धि गुम हो गयी है अैसे लोगोका यहा अल्लेख है।

अैसे लोगोकी बुद्धि व्यवसायात्मिका यानी स्थिर नहीं हो सकती है।

अपुनरावृत्ति: [५-१७]

पुनर्जन्मको पुनरावृत्ति कहते हैं। अपुनरावृत्तिका अर्थ होता है — मोक्ष, पुनर्जन्मसे मुक्ति, देह-बन्धनसे सदाके लिअे मुक्त होना। जब तक मनुष्यकी वासना नष्ट नहीं होती, अहकार नहीं जाता, मैं कर्ता हू यह भ्रम दूर नहीं होता, तब तक कर्मोंके बन्धनोके कारण अुसे बार-बार जन्म लेना पडता ही है। जब वह अहकार छोड देता है, कामनाओके सकल्पोसे मुक्त हो जाता है, और ज्ञानाग्निके द्वारा अपने पूर्व पापोको जला डालता है, तब वह पूर्णतया अीश्वराधीन बनकर बार-बार जन्म लेनेकी झझटसे छूट जाता है।

अपुनरावृत्तिका अेक नया अर्थ भी कर सकते हैं। आवृत्ति अथवा आवर्तनका अर्थ होता है किसी कामको बार-बार करना — repetition करना। कोजी काम जब तक कुशलतासे नहीं कर सकते हैं तब तक अुसे अधिकाधिक ध्यानसे बार-बार करना ही पडता है। चोरी करनेवाला सजा पानेके क्षणमें तो पश्चात्ताप ही करता है, किन्तु अगर वह पश्चात्ताप कच्चा रहा तो चोरी करनेकी वृत्ति फिरसे जागृत होगी और फिरसे सजा पाकर ही अुसका चित्त कुछ हद तक चोरीसे विमुख होगा। मनुष्य बार-बार जन्म लेता है अिसीलिअे कि अुसकी जीवन-दृष्टि कितनी गलत है अिसके विषयमें अुसकी प्रतीति दृढ नहीं होती है।

जीवन-स्वामा भुग हर तरहका प्रयोग करनेवा स्वतंत्रता दता है। जब आज तरहका मोठे और बड़ब अनुभव एकर भुगका निरूपण हाता है कि जीवर हा मत्य है भुगाकी कारण जानेमें ही कृताथता है तब मनुष्यके सब प्रयोग सत्म हान हैं और गिगा पूरी हाकर यह अगुनरा युक्तिवा प्राप्त करता है। अगुनगुनर हा जान पर कौपी बाड घाटनवा गाम नहा रहता।

अपंगुनम् [१६-०]

जा मनुष्य दूसरके दिनाका कृपा है और अम छिद्र प्रगट करनेमें जिग आनन्द हाता है अत गिगुन बहने ह। विगीवा निन्ना करना, धुगला गाना यह भुगका स्वभाव ही हाता है। असे मनुष्यमें दुष्ताकी जिननी मात्रा हाती है अमग अधिक होता है हानतावा। पन्त अमा आमी तिसीव पीठ पीछ ही भुगकी निन्दा करता है और छिद्र प्रगट करता है। अमा करनेग समाजमें भुगकी प्रतिष्ठा घटना है और अन्तमें अपन ह्मयके सामन भी यह अपमानित हाता है। समाजमें प्रतिष्ठा खानस मनुष्यका अुनना नुबसान नहीं हाता है जिना अपने हृदयक गामने गम्मान गानग होता है। अंस मनुष्यका घर या भट्टियकी अपुमा नहा दी जाता। घासमें छुपकर तिसीव परका काटनवाल मपकी ही अपुमा अुग याग्य हाती है। अगवि लिअे षविने बहा है

अहो सल भुजङ्गस्य विचित्रोऽयं वधप्रम ।

अयस्य दगति धोत्र अय प्राणवियुग्यते ॥

समाजमें दुष्ट और क्रूर लागवि प्रति अितनी घृणा और अितना तिरस्कार नहीं हाता है जितना गिगुनके प्रति हाता है।

बभी बभी गिगुन मनुष्य अपने मनमें मानता है और बहता भी है कि 'म सत्यकी ही सेवा कर रहा हू, असा बटु कतव्य करनेके त्रिअ समाजका मुझे घमसान दना चाहिय परन्तु भुगकी जगह लाग मेरी निन्ना करत ह, जसी निन्ना महन करके भी मैं बठोर और नम्र हाकर मत्यका प्रगट करता हू यह मेरी बीरता है मेरा बलिदान है।

अन्य लोग सत्यनिष्ठाको शिथिल करके और अपनी भलाभी दिखानेके लिये चुपकी साधकर बैठ जाते हैं। जिसलिये दुर्जनोको अवकाश मिलता है और हमारे जैसे सत्य-सेवक समाजमें कम होनेके कारण हमें अनुकी कद्र सहन करना पड़ती है। और समाज भी कैसा विचित्र है कि हमारी सेवासे लाभ भी अुठाता है और हमें हीन भी लेखता है।”

सच्ची कसौटी यह है कि मनुष्य पहले यह सोचे कि पर-छिद्रका अुद्घाटन करनेकी सचमुच आवश्यकता है या नहीं और छिद्र खुला करनेका, प्रकट करनेका अुसे अधिकार है या नहीं।

पिशुनके गुणको पिशुनता कहते हैं। जिस समाजमें पिशुनता बढ़ती है और सर्व-सामान्य बनती है, अुस समाजका अुत्कर्ष कभी भी नहीं होता। अुसके सब सद्गुण मटियामेट हो जाते हैं। इसीलिये पिशुनताको असामाजिक वृत्ति कहा है। दैवी वृत्तिवाले समाजमें अिस दोषका अभाव होता है। ‘अपैशुनम्’ दैवी सपद्का अेक मुख्य लक्षण है।

अपोहनम् [१५-१५]

√अूह (वितर्क) — धातु परसे यह शब्द आया है। कल्पना या अनुमान करना, अेक तर्कके विरुद्ध दूसरा तर्क करना — यह अुसका स्वरूप है। किन्तु गीतामें अपोहनका अर्थ होता है अभाव। स्मृति और अुसका अभाव, ज्ञान और अुसका अभाव, अिन सबकी अुत्पत्ति मुझसे होती है अैसा भगवानने कहा है। जो लोग पुण्यकर्मा हैं अुनका ज्ञान और अुनकी स्मृति बढ़ती है। जो पापकर्मा हैं अुनका ज्ञान भी नष्ट होता है और अुनकी स्मृति भी गायब होती है। गायब होनेको ही अपोहन कहते हैं।

[भगवानकी यह कितनी कृपा है कि घायलको जिस तरह दुःख अमह्य होने पर भगवान सज्ञाशून्य (वेभान) करता है, अुसी तरह पापीको वचानेके लिये अुसे भगवान ज्ञान और स्मृति दोनोसे वचित करता है।]

अप्रवृत्ति [१४-१३], निवृत्ति [१४-२०, १६-७, १८-२०], प्रवृत्ति [११-३१, १४-१२, २२, १५-४, १६-७, १८-२०, ४६]

√यत् (यत्तो) होना बनना रहना। प्रवृत्तिरा अय हाता है अद्योग त्रिया बनन, आरम्भ प्रगति, प्रवाह। और अप्रवृत्तिरा अय हाता है प्रवृत्ति नही करना, या त्रियाका मन्ता। प्रवृत्तिरा विराधी गन् है अप्रवृत्ति। निवृत्तिमें त्रियाका अभाव नहा है, किन्तु त्रियाका परिवर्तन है। निवृत्तिपरायण मनुष्य निष्क्रिय नहा रता है किन्तु प्रवृत्तिम धूर्तनसी प्रवृत्ति करता है। अप्रवृत्त मनुष्य तमागुणका ही बढ़ाता है।

प्रवृत्ति याना आग बढ़ना और निवृत्ति यानी अगली स्थानकी आर लौटना। दानामें घटना ता है ही। अप्रजीमें जिम evolution कहन ह वेन्में जिम विसृष्टि कहा है अगीका प्रवृत्ति भी कहा जा सकता है। अगर प्रवृत्ति evolution है ता निवृत्ति involution है। दाना मित्रकर अय चर पूरा हाता है। प्रवृत्ति अगर अल्पमन पदा करती है ता निवृत्ति असीका गुणाता है। प्रवृत्ति अगर बोनका वाम करती है ता निवृत्ति पाल काटकर बोठारमें भर देती है। जा आमुद वृत्तिर लोग हैं वे प्रवृत्ति निवृत्तिरा यह रहस्य नही जानन। जिमलिभ्रे अुनरा जीवन प्रयाजन-शून्य होता है। जा योगी है यह न तो अनेगी प्रवृत्तिरो महत्त्व देता है न अनेगी निवृत्तिरा। जो गुणातात है वह दानाकी आर अुगमान रहता है।

अफलप्रेप्सु [१८-२३], अफलाकाङ्क्षी [१७-११, १७]

फन्की प्रेप्ता याना तृष्णा याना त्रिच्छा जिम है अुग फन्प्रेप्सु कहन ह। अगी तृष्णासे जा मुक्त है वह है अफन्प्रेप्सु। जा मनुष्य स्वाथरन्ति है अनासवन है, ज्ञानयोगी है वह अफन्प्रेप्सु हाता है। अुमाका कमयाग सिद्ध होना है। फन्प्रेप्साका फन्प्रादाट्क्षा भी कहन ह। अैसी काटक्षा या आकाटक्षा जिसने छोड दी है वह अफन्प्रा कागी है। असेका त्रिया हुआ यन अयका तप मात्तिक ही हा सकता है।

अबुद्धि [७-२४]

अबुद्धिका यहा अर्थ होता है जैसे अज्ञानी मूर्ख लोग जिनमें बुद्धि नहीं है। गीतामे इस शब्दका यही अर्थ आया है। अबुद्धिका सामान्य अर्थ है बुद्धिका अभाव, अज्ञान। हमारे देशमे ज्ञानका प्रचार कम होनेसे और अन्ध रूढ़ि तथा वहमोका साम्राज्य बढ़नेसे देशमें सर्वत्र अबुद्धिका रोग फैला हुआ है। पढे हुअे लोगोमे भी यह कम नहीं है।

बुद्धि [२-३९, ४९ अित्यादि]

√बुध (बोधने) जानना, समझना। बुद्धिका अर्थ होता है समझनेकी शक्ति, जानी हुओ बातोके वारेमे निर्णय करनेकी शक्ति। निश्चयात्मक-वृत्तियुत अन्त करणम् = बुद्धि। गीतामे बुद्धि तीन प्रकारकी बताओ है — सात्त्विकी, राजसी और तामसी (१८-३०, ३१, ३२)। इस बुद्धिके सात गुण बताये जाते है

शुश्रूषा, श्रवणं चैव, ग्रहणम् धारणं तथा ।

अूहापोहोऽर्थविज्ञानं, तत्त्वज्ञानं च धीगुणाः ॥

अिस बुद्धिको नष्ट करनेवाले वारह दोष बताये गये है

शोकः क्रोधश्च लोभश्च कामो मोहः परासुता ।

ओर्ष्या मानो विचिकित्सा हिंसाऽसूया जुगुप्सता ॥

बुद्धिनाशः [२-६३]

बुद्धिनाशके जो अनेक कारण बताये है अुनमे गीताने बुद्धिनाशका कारण स्मृति-भ्रश बताया है। (स्मृतिका अर्थ होता है जागृति, alertness, memory, विवेक)। अिसके नाशसे बुद्धिनाश होना स्वाभाविक है। (विशेष विवेचनके लिये 'बुद्धियोग' शब्द देखिये।)

अभवतः [१८-६७]; भक्तः [४-३ अित्यादि]

√भज् (सेवायाम्) सेवा करना, पसद करना, आदर करना, आश्रय लेना। अभवत वह है जिसके मनमे भगवानके प्रति या गुरुओके प्रति भवित नहीं है। जैसेको आत्मज्ञान देनेसे वह अुसका दुरूपयोग ही करता है, और रहस्य नहीं पा सकता।

अगर बाभी बघ या डॉक्टर आगाका कहता जाय कि म ही
 पछनम ह ता यद बहाभ्राता पगन्ता परन हगा। और आगाके मनमें
 अमर प्रति अश्रदा हा बड़ेगी। एकिन प्रता एगा या दिनकर बाग्ग
 अता। मुनि न करोजाग बघ भी कभी कभी पयगये हूअ मरीजका
 कह सकता है कि जान रागा निवारण करनका सामय्य मुसमें
 है। जान निमित्त रहिये। म आता जस्य रागमुका कग्गा
 हो। अगे आम विवासक बघन अता अिगत करनका
 मगादका हा बटे जा मकने ह अविशगाता रहा। अतन गुन
 या सामय्यका कया करना पातक ता है एकिन स्वयं भगवानन
 अजुनका अतन अिद क्रम-अग्गी बात का है। जमसक गामा जमी
 बात नहीं हा मकता। यह गो आ बदनमें आम प्रगगाता राय हा
 आगा।

अभयम् [१०-४ १६-१], भयानये [१८-३०]
 भयम् [१०-८, १८-३५]

√ना (भय) दरता चित्त हाना। चित्तवल्थ्यम् भयम्।
 वैकल्थ्यम अस्थिरताम्। अतिशयी आगताम और अगका अुपाय नहा
 मृगनगे हानवागे अग्मयताका भय कतन ह। अिगकी आग्ग भय
 पता हाना है अुग टालनेरी कृति भयमें विगेष होती है। जहां नाति
 पता हूना कया प्राति आभीयता नष्ट हूआ। अुपनिषद्में कता है
 "द्वितीयात् य भय भवति", जहां जुगरी या भिग्रता है वहा भयका
 कारण है ही। अिमन्थि गच्चा अभय अडनमें हा है। दाहिना राय
 बायें हायम नहा दरता अिमन्थि कि दाना अक गरीरक हानक
 बाग्ग दानामें अन्त है।

अभय का प्रकारका है (१) म रिमाग न डर (२) मुसग
 बाभी डर गव जगा कारण म नहीं द (१२-१५)। अडा मिडिके
 द्वारा ही यह अभयता पता हा मकता है। जहा दह-बुडि है वहा
 अिच्छा, राग भय और काष रज्ज ही (२-१६ ४-१० ५-२८)।
 अिन तानाके चणे जानेम मनुष्य मुक्त हाना है। अुगीका विष्ट अवस्था

फलने हैं। भयभीत बुनियादमें अहता और गमता होती है। जिगीसों देह-बुद्धि कहते हैं।

अभिक्रमः [२-४०]

अभिक्रमण अर्थ होता है किनी चीजकी जांर जाना, तिनी कार्यका प्रारम्भ करना। कौआी कर्म अंगे होते है कि जिन्ह आरम्भ करनेके बाद अन्त तक ले जानेमे ही अनुका फल मिलता है। बीचमें छोटा देनेमे मारीकी सारी प्रवृत्ति बेकार हो जाती है। गेती करने लगे और बीचमे ही छोटा दी तो बीज भी नष्ट हुआ और जमीन भी विगड गयी और हाथमें कुछ नहीं आया अंमा होता है। दूसरी चन्द्र प्रवृत्तिया अंसी होती है जो जितनेका अतना ही फल देती है, जैसे पानी पप करनेकी या कपटा धोनेकी प्रवृत्ति। जितना किया अतना फल मिल गया। मोक्ष-प्राप्तिकी दृष्टिमे जो कर्म किये जाते है अनुका और फल कुछ भी हो, चित्त-शुद्धिका फल तनिक भी सतरेमें नहीं रहता। जितना किया अतनी चित्त-शुद्धि हो गयी। अुमने नुकमान कुछ भी नहीं होता। थोडेसे कर्मका भी महान फल मिलता है। वडे सकटमे हम बच जाते है, क्योंकि अुसमे कर्मके प्रारभका अभिक्रम-नाश नहीं होता है।

अभिजातः [१६-३, ४, ५, १५]

अभिजात यानी जन्मा हुआ। गीतामे दैवी और आसुरी अंसी दो सम्पद् यानी सस्कृतिया बतायी है। जिसका जन्म दैवी सम्पद्मे हुआ है अुसके गुण अलग होते है। आसुरी सम्पद् लेकर जो जन्मा हुआ है अुसके गुण अलग होते है। असली 'अभिजात' शब्द अितना ही अर्थ बतलाता है कि जन्मा हुआ, किन्तु आगे जाकर अुसका अर्थ होता है अच्छे सस्कारके साथ जन्मा हुआ यानी सस्कार-सम्पन्न।

'अभिजात वाङ्मय' जैसे शब्द-प्रयोगमे अभिजातका अर्थ होता है मुरुचि-युक्त, श्रेष्ठ वाङ्मय, 'Classical literature'। अिसी शब्द परसे आभिजात्य शब्द आया है जिसका अर्थ है सस्कारिता। परम्परागत खानदानमे जिसका जन्म हुआ है अुसे 'अभिजनवान्' कहते

ह। आगुरा सम्पत्तियामें जम इन्द्राग अरिता अभिजनवान मानार और बतार गजनाकी नजरमें हास्याम्प बनो ह।

अभ्यासयोग [६-३५, ८-८, १०-१ १० १०, १८-२६] पूर्वाम्यास [६-८४] अभ्यासनम [१७-१५]

अभ्यास याना पुनरुक्ति पुनरावनन अप्ययत गुणारार गामाप्य ध्यान आत्म विवाज।

अभि + √आ जाना बार बार करता। विगी धीनका बार बार करना अगारा करना आना है अगमें बुगगा आना है गुग हाता है और दतार कारण य स्वभावका अग बा जाना है। अभ्यासका मत्स्य कगक अनुगीनन विज और चरिग-गगटनन विज बत है।

अभ्यासो नाम चित्तभूमौ कस्याचिन समानप्रत्यवावर्ति चित्तस्य। अयातर द्वाग म चित्तका अिष्ट वस्तुग विग तरह भर दन ह वि जय विगी वस्तुका वग म्यान ही नहा मिता।

चित्तरय अेकस्मिन आत्मन्यन सतत समाहृत्य पुन पुन स्थापन अभ्यास, ततपूजरो योग समाधानलक्षण अभ्यासयोग।

चित्तरा गय जाग गचकर बार बार अेक ही अलम्बनमें स्थापित करनको अभ्यास कहत है। जस अभ्यासको योगम समाधान हाता है नमादि विद्ध हाता है। अम अभ्यासका प्राप्त की हुआ विद्धि जमानरमें भी काममें आती है (६-४४)।

अभ्यासका यह अगाधारण गविन करकर मनुष्यका चाण्डि वि अगर भूगम काभी कुवम हा गया हा ता अुमका पुनरावनन न करे बुरा वागनाका मनमें बार बार न आव — यहा तर कि पचात्तापन नामम भी कुवमरा और कुवामनाका बार बार स्मरण न करे।

अमानित्यम [१०-७], अतिमानिता [१६-३]

√मान् (स्वम्भे पूजायाम) गय करना, विगीका बडमान करना। मान यानी अभिमान, गय। अत्यथ मान अतिमान आत्मन इलाघनम

मानित्वम् तत् अभाव अमानित्वम् अर्थात् नम्रता, आत्मस्तुतिका अभाव ।

जिस तरह आत्मश्लाघा बुरी है अुगी तरह आत्मनिन्दा भी बुरी है । अिसील्लिअे कहा है— 'न आत्मान अवसादयेत्' ।

अमृतम् [२-१५, ४-३१, ९-१९; १०-१८, १२-२०; १३-१२, १४-२०, २७; १८-३७, ३८]

'मृ' यानी मरना । मरे हुअेको मृत कहते हैं । मृत्युमे जो मुक्त हो गया है असे अमर कहते हैं । जिस साधनके द्वारा अमरता प्राप्त होती है असे अमृत कहते हैं । पीराणिकोंका कथन है कि स्वर्गवासियोंको 'अमृत' नामक स्वादिष्ट पेय मिलता है जिसके सेवनसे मुख तो होता ही है, किन्तु अिसके अलावा जरा और मरण दोनो टल जाते हैं ।

अिस परसे जो चीज रोचक भी है और हितकर भी है असे अमृतकी अुपमा देते हैं ।

श्रीकृष्णके अुपदेशको 'धर्म्यामृतम्' कहा है । द्वन्द्वरहित सर्वहितकारी अनासक्त, साम्यवृत्तिको स्वयं भगवानने 'धर्म्यामृत' कहा है । स्मृति-कार कहते हैं कि प्राणियोंका द्रोह किये विना और जिनकी सेवा करना आवश्यक है, अुनकी पूर्ण सेवा करनेके वाद जो कुछ खानेका हम पाते हैं वह अमृत है । (अिसी सिलसिलेमे 'विघस' शब्द देखने लायक है ।) गीताका कहना है कि जो बुद्धिमान मनुष्य सुख-दुख दोनोसे पर हुआ वह अमृतत्व-प्राप्तिका, मोक्षका अधिकारी बना ।

गीतामे अमृत शब्द भिन्न भिन्न अर्थोंमे आया है । जब स्वर्गीय अश्व अुच्चै श्रवाको अमृतोद्भव कहा है तव अुसका अर्थ यह नहीं कि अमृतमे से यह घोडा पैदा हुआ है । अमृत-प्राप्तिके लिअे देव-दानवोंने जो समुद्र-मथन किया अुसमे से अिस घोडेकी अुत्पत्ति हुअी थी । अिसलिअे अमृतोद्भवका अर्थ अमृतमे से पैदा हुआ अैसा न करके 'अमृतके साथ पैदा हुआ' अैसा करना चाहिये ।

नौवे अध्यायमे अपना स्वरूप या अपनी विभूति समझाते हुअे जब भगवान कहते हैं कि मै सत् भी हूँ और असत् भी हूँ, मै अमृत

भी है और मृत्यु भी है तब शकटाचार्य अथ करते हैं कि देवाका अमरता और मानवाकी मरणशीलता दोनों में है। अथवा साँ अमृतका सम्बन्ध हमेशा हम व्यापक अथ कर सकते हैं कि अलग विश्वमें जा अमृत यानी अविनाशा तत्व है वह भी में है और जा अर्थात् शक भगुर तत्र है वह भा में है।

जानन साधक यस्तुआमें गव-दृष्ट ता भास्वरी तत्व है अमृत जाननम मनुष्य अमर तत्वका प्राप्त होना है। यहा अमर तत्वका अथ पदार्थ अतिना हा नहा है कि यह फिरम नहीं करता। व्यापहारिक अथमें परम गानी ना मर चुक है। पुराणामें जिन गान ध्यनिपाका किराया बताया है व भा जीवित रूपामें नहीं पाग पढ़ना। स्वय दृष्टका भी अवतार-शील गत्य हा जान पर त्र छाडना पडा। अमरिअ मृपुरा और अमरताता दूगरी हा भविता पर जाकर अथ करना चाहिय।

आमा अमर है। तिनु आत्माका मूल जाना अग्न आत्म तत्वका विभूति होना यही महान और दाप बाल तब चालू रहन बाग मृत्यु है। आमाका गान्धीमत्व और प्रभुत्व मृत्युकर शक बन जाना वागदाभाकी भूमिका पर अतुर जाना यहा मृत्यु है। अिती मृत्युका विना लिय शकत लिअ नहा तिनु स्याया रूपम मुक्त होना यहा अमृतत्व है।

परमात्माका साक्षात्कार होना पर मनुष्यको जा अल्पिता अना मक्ति और स्वतंत्रता प्राप्त होती है तीन गुणों माहा जा मुक्ति मित्री है यहा अमृतत्व है (१४-२०)। अगी अमरता प्राप्त होना पर हम जम मय बुझाया और विविध प्रकारक दुःख आदि मव अनमनाम विमुक्त हा जान है।

भगवान जय अपनी विभूतिका वणन करते हैं तत्र अजुन भगवानकी वाणाका हा अमृत कट्टा है। अत अथमें सारी गीता ही जाननका परमामृत है।

(सब मानते हैं कि अमृत काआ स्वादिष्ट चीज है और यहा दुःखाप्य है तिनु गीतान मात्किर मुखकी व्याख्या की है वही अमृत

लिअे लाग् करनी चाहिये । अमृतका रवाद जहरके गमान कडुआ है और अुसका फल अत्यन्त मीठा है । अिस अमृतकी मात्रा दुप्प्राप्य नहीं है, किन्तु अुसके सेवनकी हिम्मत रगनेवाले पानवीर ही मुष्किलमें पाये जाते हैं ।)

अयज्ञः [४-३१]; यज्ञः [३-९, ४-२३ से ३२; १७-११, १८-५]

✓यज्ञ (देवपूजा-सगतिकरण-यजन-दानेपु) यज्ञ करना, आहुति देना, पूजा करना, सम्बन्ध रखना, दान करना । यज्ञका अमली अर्थ है कर्तव्य-भावसे अर्पण करना, र्वार्यत्याग करना । प्राचीन कालमें अग्निको प्रज्वलित करके देवताओंके नामसे अुसमें आहुति देनेको यज्ञ कहते थे । तानि प्रथमानि धर्माणि आसन् । यज्ञ ही आर्य-धर्मका प्रथम और प्रधान स्वरूप था । अिस यज्ञका प्रतीक स्वरूप छोटा था, किन्तु अुसकी भावना विशाल थी । अिस तरह यज्ञ मनुष्यका धर्म था अुसी तरह सारे विश्व-व्यापारका भी यज्ञ अेक सार्वभौम धर्म था । गीतामें यज्ञ-धर्मका अत्यन्त व्यापक स्वरूप पाया जाता है ।

अिस विश्वमें जो कुछ है वह सब कुछ परस्पर सबद्ध है । हरअेकका अेक-दूसरेके प्रति अुत्तरदायित्व है । अिस अुत्तरदायित्वको अृण कहते हैं । अिस अृणसे अुअृण होनेके लिअे प्रजापतिने प्रजाको यज्ञ-धर्म दिया है ।

अिस यज्ञ-धर्मको जो नहीं मानता, अुसका पालन नहीं करता है अुसे गीताने अयज्ञ कहा है । अयज्ञ मनुष्य समाज-धर्मका द्रोही है । अुसके लिअे यह लोक भी नहीं है, फिर परलोककी तो वात ही क्या ? (४-३१)

आजकल समाजवादी लोग समाज-सत्ताकी स्थापना करना चाहते हैं । सम्पत्ति पर समाजका ही कम या अधिक अधिकार स्थापित करना चाहते हैं । अधर गीता तो लोगोके हृदयको ही समाजधर्मी बनाती है, अिसके बिना समाज-सत्ताकी सच्ची स्थापना असम्भव है, और अगर हरअेक मनुष्यका हृदय समाजधर्मी यानी यज्ञधर्मी हुआ, तो मनुष्य

मनष्यका मन्त्रय कौटुम्बिक भावग पत्न्या और फिर रिगी प्रवाराता
 मताकी स्थापना हा नहा करना पडगा। आजकालका दुनिया स्वभावसे
 ही अयग है। भुग यग पम गिगाना और यगपमी यनातकी कागिग
 करना यह मयस थष्ट बाप है।

अयति [६-३०] यति [५-२०]

√यत् प्रयत्न करना महात करना। जा मन्त्रत करना & व
 यति है। √यम् (धुपग्म) रातना गयम करना। गयम करनवात्का
 भा यति कन्त ह। गातामें जग अयति गल् आया है कग अतवा
 अय हाता है जा प्रयन्ताग नहा है। अग वृत्ताम गग हात ह जा
 थडावान ह किन्तु भुवा प्रयत्न नहा हाता और पत्त मनापागत न
 म्बिनम व गिर जात ह। अगात लि० मनमें कग्गा र्पकत जगत
 भगवानम पूया ह कि भुनका गति क्या & ?

गावर अध्यायक छव्यीगर्वे दगाकमें जा यति गल् आया है
 वहा यतिरा अथ है सयमा सचागा और जिगन अपन मन वाग
 और मव अिद्रियाका कारुमें रगा है। अिगी गल् परम भापामें यति
 जति गल् आय ह।

अयुक्त [२-६६, ५-१२, १८-२८]

अ+ √युज जागना गगाना नियक्त करना मनवा अकाप
 करवे ध्यान करना अयवा काममें लाना। याग गल् अिगी धानुम
 आया है। मयाग याजना जानना यागायाग अययुक्त जाही yoke
 अित्यागि मर गल् अिगी धानुम आये ह। जा मनुष्य अपन आपका
 भगवानके गाव जाह तेता है और अिगागिजे बागीका सब चाजामे
 अपन मनका राव गता है वह योगा अयवा युक्त कडा जाता है।
 जा प्राकृत मनुष्य अपनी वातनाआत अधीन हाता है वह याग
 युक्त न हातक बाग्ण बचनमें पडता है। भुम अयुक्त कहत ह। जिगन
 अपन जीवनमें गमनुग (balance) गमाली है व युक्त है।
 जिगाका तीग गिगड गया है वह अयुक्त है। गीतामें यागीक अधमें
 युक्त गल् अतक बार आया है। जा चक है अय्यवरियत है अगिर

है, जिसका समत्व नहीं रहा, वह अयुक्त है, और जिगने अीग्वरके नाथ ली लगाओ है, जिमके जीवनमे समता है, वृत्तिगोका यथायोग्य विनियम है, असा योगी 'युक्त' कहलाता है। यह स्थिति स्थिर होने पर उसे नित्ययुक्त अथवा सततयुक्त कहते हैं। उसे योगयुक्तात्मा भी कहते हैं।

अरतिर्जनसंसदि [१३-१०]

'विविक्तदेगमेवित्वम्' का ही यह दूसरा रूप है। मनुष्योंकी — प्राकृत जनोकी — भीडमे जाकर बैठनेकी अरुचि भी ज्ञानियोंका लक्षण है। सस्कार-शून्य अविनीत मनुष्योंकी सेवा करनेके लिये ज्ञानी अुनके बीच अवश्य जायगा। किन्तु अुनकी असस्कारी गोष्ठीमे और जलमोमे शरीक होनेकी रुचि अुसमे नहीं रहेगी।

असस्कारी लोगोके अैसे अुत्सवोको सम्राट् अशोकने अपने शिलालेखमे 'समाज' कहा है और अुनका निषेध किया है।

अर्थकामः [२-५]

अिस शब्दके अनेक लोगोने भिन्न भिन्न अर्थ किये हैं। अर्थ यानी सम्पत्ति और काम यानी अिन्द्रिय-तृप्ति। असा अर्थ लेकर 'अर्थकामान्' शब्द 'रुधिर-प्रदिग्धान्' के साथ 'भोगान्' का विशेषण मानकर लोग अर्थ करते हैं कि गुरुओको मारकर सपत्ति और कामोपभोगवाले किन्तु लहूसे भरे हुअे भोगोका हम अुपभोग करे अिससे वेहतर है कि अिन महानुभाव गुरुओको न मारकर युद्धको छोडकर हम वैरागी बने और भिक्षान्नका सेवन करे।

(२) अन्य लोग 'अर्थकामान्'को 'गुरुन्'का विशेषण समझते हैं। अुनका अर्थ होता है ये हमारे गुरु अर्थकाम हुअे हैं यानी धनके लालची बने हैं। असा देखकर हम अुनको मारे और अुनके खूनसे लिपटे हुअे भोगोका अुपभोग करे, अिससे वेहतर है कि हम अिन महानुभावोको न मारते हुअे भिक्षा मागनेका रास्ता ले लेवे।

(३) अर्थकामको 'गुरुन्'का विशेषण मानकर च्द लोग और अेक अर्थ निकालते हैं। अर्थ यानी हित, कल्याण। ये आचार्य, गुरु,

दुर्बोधता धारा रुद्ध हूँ ता नी क्या हुआ मनमें ता मरे ही
 हितका — अथवा — बाल कर रू ह अंग समाध-नाम गुरुआका
 मारकर अियात्ति।

(४) अथवामान् प बन्ते अथवामान् अता पाठ एकर
 पत्ता अथ करन ह पत्त सगति और रायकी प्राप्तिही (भावना)
 कामना मनमें रखकर हम लाग अिन गुरुआका मार और मृत्यु भर
 हुए भागाका भागें अिगम बहुरर पट है कि अियात्ति।

अर अिनमें ग अथवामाना भागारा विगण बताना भारकी
 दृष्टिय टोक है किन्तु अिगम दूरावका दाप आ जाता है।

अथवामाना गुरुआका विगण करना ही टोक है। अिगमें ना
 अथवामाना अथ मरी बल्लाकी कामना करनारा अगा करनम
 गरआर प्रति गम्भाव भी व्यक्त हाता है और अुनका मारनमें
 अुनघनताका दाप भी स्पष्ट हाता है।

अथवाम याना धनर लाना बन हुये। अता अथ कर अंग
 गुरुआका विगण करनम अिग दलाकरे दा विबल्लाका भाव अल्पा
 स्पष्ट हाता है। य हमार आचाप और गुरु धनर गभी बन ह अुह
 याप और धमका गया नहा रहा है अता गाकार कुट्टे मार दालना
 और स्वजनाने रक्ता भरे अुश्र भोग भागना यह अथ राग्ना हमारे
 सामन है। दूगरा रात्ता यह है कि ये हमार गुरु ह पूजनीय ह अिग
 पर मगानुभाव ह। यह ध्यानमें रखकर हम अिह मारनमें अिनकार
 कर और पत्त धमपुद्धम भी निवृत्त होकर अिग अुनियामें अतमानिन
 जावन व्यतात कर। दाना माग अत्रता नहा रुपत किन्तु यह दूगरा
 माग बहुरर है। परन्तु हृत्प बन्ता है कि अिन दानामें ग कौनगा
 श्रेष्ठ है या हम नहीं जानत (न घतब यिन्म कतरशो गरीय २-६)
 और हम यह भी नहीं जानत ह कि अुनकी जीत होगी या न्मारा
 (यदा जयेम यदि वा ना जयेमु)।

अथ [१-३३, ३६ २-५, ६६, २-१८]

√अथ (अुगयाञ्चवामाम्) मागना अरमा करना चाहता हुना
 समझना। अथक अथ अन्क ह। अर यानी हतु अिद्या कारण पत्तय

द्रव्य, सम्पत्ति, प्रयोजन। 'मदर्थे' यानी मेरे लिये, 'येषामर्थे' यानी जिनके लिये; अर्थसचय यानी द्रव्यसचय; अर्थकाम यानी द्रव्यकी अिच्छा रखनेवाला। मनुष्य-जीवनके प्रधान हेतु चार माने गये हैं। अन्हें पुरु-पार्थ कहते हैं। धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष अिनमें काम और मोक्ष 'साध्य-रूप' हैं। धर्म और अर्थ साधन-रूप हैं। काम शरीरका साध्य है। मोक्ष आत्माका साध्य है। धर्म मोक्षका साधन है। अर्थ कामका साधन है। अर्थ यानी अुपभोगके सर्व साधन, द्रव्य, सम्पत्ति आदि वाह्य पदार्थ।

गीताका समाजशास्त्र कहता है कि काम धर्मका अविरोधी रहना चाहिये (७-११)। मोक्षशास्त्र कहता है कि अर्थ, धर्म और काम भले ही साधन हो, किन्तु मोक्षकी दृष्टिसे अर्थ अनर्थ ही है (अर्थ-मनर्थम् भावय नित्यम्।)।

पृथ्वी, अप्, तेज, वायु, आकाश अिन पाच महाभूतोंके गन्ध, रस, रूप, स्पर्श, शब्द ये गुण अिन्द्रियोंके अर्थ हैं, क्योंकि अिन्द्रिया अिन्हे ढूढती हैं, चाहती हैं।

(नीचेका अर्थार्थी शब्द भी देखिये।)

अर्थार्थी [७-१६]

भक्तोंके चार प्रकारोंमें यह नाम आता है। चार प्रकारके भक्त होते हैं — आर्त, जिज्ञासु, अर्थार्थी और ज्ञानी। अिन शब्दोंके जो सामान्य अर्थ किये जाते हैं वे सतोपकारक नहीं हैं। क्योंकि गीताने चारोंको अुदार यानी अुत्कृष्ट कहा है (७-१८)। वे (अर्थार्थी) केवल धनके लोभी अथवा (आर्त) चोर, शेर, वीमारी आदिसे डरे हुअे मत्तलबी भक्त शायद ही हो सकते हैं।

भक्तोंके आर्ति-स्तोत्र देखनेसे पता लगता है कि वे भवपागसे पीडित होकर अपने हृदयकी व्याकुलता प्रगट करते हैं। अिसलिये आर्तभक्तका स्वरूप है भव-बन्धनसे पीडित।

अर्थार्थी भक्त अपने हितकी साधनाके लिये प्रयत्न करता है, वह कर्ममार्गी है।

जिगामु मरुत बुद्धिप्रदान हानक कारण पानन द्वारा भीवर प्राप्ति
 पाता है (स्वस्वरूपानुसंधान भक्तिरूपभिधीनो — आमान स्वप्न
 सात्र करत रहना यही भक्ति कहा जाता है)। और
 पानी ता भीवरगु मायुज पाया १३ हानन (ज्ञानी स्वात्मव
 म मतम्) भक्ति जगता निर्होतु स्वभाज ११ बन जाता है।
 अपितमनोबुद्धि [८-७ १२-१८]

भीवरत जिअ अपना धन-दौलत और अपना सेवा आग
 करना मामूली बाा रहा है। ता भा कानि या प्रतिष्ठाक लाभक जयवा
 बुनियात भूष कर नी मनुष्य जग त्याग कर मरता है। किन्तु अपना
 मन और अपना बुद्धि (अर्थात् अपना हृदय नी) आन्तरका अपण कर
 दना पर ता आय भक्ति गियाय हा रही मरता। मन बुद्धि
 आन्तरका अपण करने ही जीवनमें और तावन-जिमें भी जामगा
 परिवर्तन हो मरता है। अगर अगा अपण पूरापूरा हा गया ता
 नस्तिभावता परम अत्यय हाकर मनुष्य निगम्य भीवरक पाग पंच
 जायगा।

मनसा काम है तरह तरह मरल विकल्प मरु करना और
 बुद्धिका काम है अन्त विषय करव निणय दना। जिमजिअ जय मन
 और बुद्धि दाना आन्तरको अपण हुआ तब तार मरल नी जाकर
 परत हो हाग आर बुद्धि जा निणय गया व भा मव भीस्वरूपगया
 हाग क्याकि दोनाका दृष्टिमें आप्यात्मिक दृष्टि हानी है।
 अलोलुप्तवम [१६-२]

जा चीज स्थिर नहीं है हिता गनी है बहती है अंग मरु
 तमें लाल कहत ह। घटाक अन्तर बजानक जिने जा घातुका लवा
 टुकडा लगता रहता है अंग लागव करत ह। धूमरके गलत ता
 मव जानत हा ह।

बोजी आवपक वस्तु दसवर अयवा अपन विषय पाकर हमारी
 अिद्रिया जब अपना स्थिरता गारक जुनकी आर अपसर हाती ह
 और प्राप्तिक लिअ अधीर हाती ह तब बुद्धि गायु कहते ह। अपना

स्वास्थ्य, अपनी प्रतिष्ठा और अचित मयम गाने पर लोलुपता प्रगट होती है। अिष्ट वस्तुका आकर्षण होना अेक चीज है और अुम आकर्षणके अत्यधिक प्रभावमे वह जाना, अपनी प्रतिष्ठा राना दूसरी बात है। लोलुपता दोष-रूप है। जिम समाजमें लोलुपता बढ़ती है, अुसमे चारित्र्यकी मात्रा कुछ भी नहीं रहती है। अिम दोषमे जां समाज मुक्त है वही देवी सम्पत्तिका अधिकारी है।

'अलोलुप्त्वम्'की व्याख्या अिस तरह की है — अिन्द्रियोंके त्रिपय नजदीक होने पर और प्राप्य होने पर भी जत्र अिन्द्रिया अपनेको सभाल सकती है, अपनेमे विक्रिया यानी विकार नहीं होने देती, तव अुम स्थितिको अलोलुप्त्वम् कहते हैं। लोलुपताके कारण सब तरहकी हीन वृत्तिया बढ़ आ सकती है और आत्म-गौरवका नाश होता है।

अल्पमेधा: [७-२३]; दुर्मेधा: [१८-३५]

मेधाका मूल अर्थ है स्मरण-शक्ति। जो कुछ भी देखा-सुना हो अुसे मनके अदर स्थिर रखना, गायत्र नहीं होने देना, अैसी शक्तिको मेधा कहते हैं। धारणावती धी मेधा। अिसी अर्थको व्यापक करके मेधा शब्दका अर्थ किया है 'बुद्धि'। (मेधा शब्दमे मेध्, मेद्, मेथ् धातु है जिसका अर्थ होता है जानना, हिसा करना अथवा मिलना।) गीतामे मेधाका अर्थ सामान्यतया बुद्धि ही किया है। दसवे अध्यायके चौतीसवें श्लोकमे स्मृति और मेधा दोनो शब्दोको साथ लाकर बताया है कि मेधा शब्द स्मृतिके अर्थमे नहीं लेना है।

जिनकी बुद्धिकी पहुच अधिक दूर तक नहीं है अैसे मनुष्य तात्कालिक लाभको देखकर छोटे-मोटे देवोकी (अन्यदेवता) अुपासना करते हैं और छोटासा तथा अन्तवान फल पाते हैं। अिनको गीताने अल्पमेधस् कहा है।

आगे जाकर धृत्तिका वर्णन करते हुअे भगवान कहते हैं कि तामस प्रकृतिके मनुष्यमे धृत्ति यानी जिदसे किसी चीजको पकडकर रखनेकी शक्ति तो बहुत कुछ होती है, किन्तु किस चीजको पकडकर बैठना योग्य है अिसका विवेक अुनमे नहीं होता। क्योकि वे दुर्मेधा

हान ह। जो चार्जे हितकर नहा ८ अथवा तिग्गार ह अंगा पीत्रारा
 त्या करनक बजाय अहावा परदर रगनमें भुवरी बुद्धि नर
 नित्य नहा निया। अगा बुद्धिना दुमेषा अथवा कुणित मया
 वहन ह और अा मनुष्यवा नी दुमेषा वहा ह।

अविधिपूर्वकम् [९-२३, १६-१७]

यह वचन गानामें दश बार आया है। जो गाय प्रतिप्यार गयारा
 गम्भिर बनकर पण करत ह व आगुरी वृत्तिक हान ह। अुनर
 अुम पणमें आत्मिक भाव पमभाव न हानग अग दावा अविधिपूर्वक
 कहा है। बाह्यविधिया शायद पूरा पावन हुआ ना हा किन्तु थडाकपी
 आन्तरिक विधिया अुममें अनाव रणा है।

औररवा पूजा थडा और गानव युक्त हाना चाहिय। जिनमें
 ना थडा मुख्य है। अगर थडा है ना भगवान अुम पूजाका जात्र
 पूरक स्वीकार करत हा ह। किन्तु पूजा गानक माध हा तभी वह
 अुत्तम पूजा माना जानी है। जो गाय औररवा स्वयं न जाननक
 कारण द्वा-मा-अय न्व-वैविका नजा ह अुनका अगा पूजा भा
 अन्तमें भगवानक पाग हा पचनी है। भगवान अुमका स्वाकार नी
 करत ह। किन्तु गानरी कमीक कारण वह अविधिपूर्वक हानी है।
 अुतना दाप कभा न कभी दूर करना हा पटना है। अुा दापक दूर
 करनमें भगवान स्वयम् गायक हान ह।

अविभक्तम् [१३-१६, १८-२०], विभक्तम् [१३-१६,
 १८-२०]

विविधतामें अेवता यदा जिकका नियम है जो मू-में जेक
 है और आकरि तव जक ही रहता है अुमका आन- अिगामें है जि
 अनन और विविध रूप धारण करत हुआ भा अुमरी अेवता खडित या
 बाधित नहा हाती। अिगका सप्रयाग अनुभव करनमें विरोध आन-
 मिलना है। (ररदका लम्बा पनला टुकडा हाय आने पर वक्क लोग
 अुम गीच-गानकर रेगन ह कि यह टूटे विना वहा तव खाचा जा मरना

हे। अन्हें अिमीमे भानन्द आता है कि खत्र गीनने पर न तो टूटता है और न अपने अमन्त्री आकारमे लीटने हुंजे अ्मे कोअी कठिनाअी होती है — अद्वैतमिद्विका ही यह आनन्द है।)

जानी पुरुष जन अिस विष्वका रहस्य ढन्ता है तत्र अ्मे प्रथम सर्वत्र विविधता दीख पडती है। भेद, भिन्नता, पृथक्ता, अगबद्धता ही अुसकी नजरमें आती है। किन्तु ज्यादा रोज करने पर अुसके ध्यानमे आता है कि अिस भासमान अथवा प्रतीयमान भेदके पीछे सर्वव्यापी, सर्वसमर्थ, सार्वभौम, अभेदकारी व्यवस्थाका राज्य है।

विशेष गवेपणा करनेके बाद वह आश्चर्यमे बोल अुठता है कि यहा पर भेदके जो तत्त्व हैं वे परिमित हैं, छिछले हैं और विशेष तो वे अस्थायी हैं। अिसके विपरीत जो अभेदके तत्त्व हैं वे अनेक हैं, अपरिमित हैं, अधिक हैं और गहरे तथा स्थायी हैं (चिरतन)।

जिसकी दृष्टि रजोगुणी है, जिसका ज्ञान राजस है, अुसका ध्यान पृथक्ताके अूपर ही बैठ जाता है, विविधता, भेद और विरोध ही अुसे मत्यरूप दीख पडता है।

जिसका ज्ञान सात्त्विक है वह समझता है कि भेद तो भासमान ही है। असली वस्तु-स्थिति अभेदकी ही है। अिस अभेदको गीताने अविभक्त भी कहा है (१८-२०)।

यह दृश्य जगत यानी बाहरी दुनिया भेदसे भरी हुअी है। किन्तु अुसके अदर जो परमतत्त्व, परमात्मतत्त्व वास करता है, वह स्वय अविभक्त, अखण्ड-दडायमान, अव्ययभाव अेकधारिक अद्वैत तत्त्व ही है। यही सर्व ज्ञानका विषय है यानी ज्ञेय है।

अव्यक्तः [२-२५, ७-२४, ८-१८, २०, २१, १२-१, ३, ५, १३-५]; व्यक्तः [७-२४, ८-१८, १०-१४]

वि+√अज् (विशेषणे, व्यक्ति-अ्रक्षण-कान्ति-गतिषु) व्यक्त करना, प्रगट करना, दिखाना। व्यक्त = प्रगट, स्पष्ट, अिन्द्रियोके द्वारा जिसका अनुभव हो सकता है अैसा। और समान पदार्थोंसे अपनी विशेषताके कारण जुदा पडनेवाला।

श्रित परम अक्षय्य माना अक्षय्य अग्रत अग्रत श्रितियाति
 लित्र अगावर। माग्वारी परिभाषामें अक्षय्यता अप हाता है प्रधान।
 आना श्रितियागावर नहीं है श्रितिया अक्षय्यता क्त जाता है। पर
 गाग विच जन्मकर्म म पत्त हाता है। बुद्ध का व्रत छतर
 श्रित अक्षय्यतामें हा लीन हा जाता है। श्रितिया श्रित स्वप्पना
 पूरा मान नहीं हा माना (२-१८ ८-१८)। अ श्रित अक्षय्य
 काय्य मानने ह। भुवागततामें अक्षय्यता घ्या परना श्रियागत
 लित्र कठिन है। श्रितिया घ्या (मूनि) का घ्यात किया जाता
 है। (१२-५)

अव्यभिचार [१३-१० १४-२६ १८-३३]

भाषामें व्यभिचारका अप हाता + म्ना या पुण्यता रिवा
 मन्वपत्र प्रति दोष पर-स्त्री या पर-पुण्यत गाप मन्त्रि मन्वपत्र। मूत्रमें
 श्रित गल्पा अप व्यगत है। नियमता बुद्धपन निष्ठाता भग
 अवाप्रताम विचरत यह भुगता व्यास अप है। पह अक्षय्यतामें
 बुद्धपता ताग हात पर म्त्रिया बुद्धा बना हा बुद्धा म्त्रिया
 बुद्ध हात पर वागतर हाता है श्रितिया विचरन अजनक भाषणमें
 आया है। वहा व्यभिचार मन्वा प्रयाग नहीं हुआ है। तीन स्थाना
 पर अव्यभिचार गल्पा अक्षय्य आया है। अ स्थान पर
 (१३-१०) व भक्तिवा विपण है दूगर स्थान पर (१८-२६)
 व भक्तियागता रिपण है और तातर स्थान पर (१८-३३)
 घनित रिपणक रूपमें वह आया है — (अव्यभिचारिण्या घ्या)।

भगवानस यति भक्ति हा गयी ता फिर जिसा और दव-रियाका
 भक्ति नहा कर्नी चाहिये। गुद्ध भगवत् भक्तिर लिखे और विगीकी
 भक्ति करता गुनाह है। भुने त्रिम्याममें गित कर्तन ह। भक्ति करत समय
 भगवानक साथ निमी और तत्करा गरीक करना यही है गित जा मव
 गुनाहामें बडा या खराब माना गया है। भक्ति हा तो व अव्यभि
 चारिणी हा कारण लता है ता अ भगवानका हा लें। अगी कारण
 लन पर और किसीकी आगा नहीं रखनी चाहिय।

धृति यानी मन, प्राण, अिन्द्रिय अिन सबकी क्रियाओंको गलत रास्ते पर जानेसे रोकनेवाली शक्ति अव्यभिचारिणी यानी अविचल रहनी चाहिये (१८-३३)। चारित्र्यमे अेव आध्यात्मिक साधनामे निष्ठा ही सबसे बडी चीज है। निष्ठाको ही अव्यभिचार कहते है।

अव्यवसायी [२-४१]; व्यवसायात्मिका [२-४१, ४४];
व्यवसाय [१०-३८, १८-५९]

व्यवसायका अर्थ होता है प्रयत्न, अुद्योग और निश्चय। गीतामे अेक स्थान पर (१८-५९) अुसका अर्थ लिया है निश्चय। दसवे अध्यायमे अपनी विभूतिया कहते हुअे भगवानने व्यवसायको अपनी अेक विभूति बताया है। वहा अुस शब्दका अर्थ होता है प्रयत्न अथवा अुद्योग। वहा पर निश्चयका अर्थ भी लिया जा सकता है।

दूसरे अध्यायमे (२-४१, ४४) व्यवसायका अर्थ लिया है निश्चय। जिसके मनमे निश्चय हुआ है, अपने निश्चयके अनुसार चलनेका जिसका स्वभाव है, अुसका रास्ता ठीक अेक ही रहता है। अिससे विपरीत जो लोग विवेक-बुद्धिसे रहित होने है, मनमे कोअी अेक निश्चय नही कर सकते, अुनके मनमे विचारोकी, सकल्पोकी और सग्योकी अनेक शाखाये अुठती है, वे क्षण-क्षण अपना निश्चय बदलते है। अुनकी बुद्धिके रास्ते अनन्त होते है। फलत अुनके कार्यमे निष्फलता ही आती है। जो लोग भोगैश्वर्यमे फसे हुअे है अुनके मनमे कोअी अेक दृढ निश्चय नही होता। अैसोको अव्यवस्थितचित्त भी कहते है। अैसे लोगोने किसीका भला करना चाहा तो भी अुसमे खतरे पैदा होते है। अव्यवस्थितचित्तानां प्रसादोऽपि भयंकरः।

अशास्त्रविहितम् [१७-५]; शास्त्रम् [१५-२०, १६-२४];
शास्त्रविधिम् [१६-२३, १७-१]

विद्या और शास्त्र अिन दो शब्दोका अेक साथ विचार करना चाहिये। विद् धातुका अर्थ होता है जानना। अनुभवसे या तर्कसे, निरीक्षण, परीक्षण या अनुमानसे जो कुछ जाना जाता है अथवा गुरुमुखसे जो पाया जाता है, वह सब जानकारी विद्यामे अन्तर्भूत

होती है। जानकारी व्यवस्थित रूप से जब पता चानी है तब अंग
विद्या कहते हैं जिन गणितविद्या रसायनविद्या और ज्योतिषविद्या।

शास्त्र में जानकारी तो हानी है, रचना और व्यवस्था भी हानी
है। हिन्दु शास्त्रों का अर्थ स्पष्ट और समाजका अनुशासन करने का हाना
है। विद्या प्रदान करने के बाद तुम्हें अंग तरल चलना चाहिये अंग
तरल नही चलना चाहिये अंगियाँ सूचनाओं के लिए जहाँ विमीक्षा
नियमन रिया जाता है, आचारका रचना बनाया जाता है वह सब शास्त्र
है। मनुष्य का ध्यान देकर नमीहृत या हृत्त देकर जहाँ शास्त्रों
की रास्ते पर चलनेकी या चलानेकी शास्त्र हानी है वही शास्त्र पता
हाना है (√ शास्त्र अनुशास्त्री)। शास्त्र, शास्त्र अनुशासन शास्त्र प
मन शास्त्र शास्त्र प्राप्त आये हैं। शास्त्र भी अंगी परिवारका शास्त्र
है। विद्या अथवा विज्ञानमें जानकारिका सम्बन्ध आता है। शास्त्रमें
अनुशासनका नियमनका। [आजकल गणित शास्त्र पशुविज्ञान शास्त्र,
अंगियाँ शास्त्र प्रयोग पाय जान ह विन्दु व टाक नही ह। मनुस्मृति
के धर्मशास्त्र शिम्शरी गिरि प्रवचन है मुराबा बाइ शाणक्यका
अथशास्त्र ये सब शास्त्र-शास्त्र नमून ह।]

शास्त्रों में भगवान् कहते हैं कि मनुष्य जब काम करने के लिए
प्रवृत्त होता है तब कौनसा काम योग्य है और कौनसा काम अयोग्य है,
श्रमका नियम करना कभी कभी वही कर्तव्य होता है।

काय और असायका व्यवस्थिति काभी रचना तो अस्सक प्रति
मनुष्य बड़ा ही श्रम होता है। गुस्सा काम ही काय असायका
विवेक बनानका हाना है। अम अनव गुरआकी आरम जा विधि
और निषेधकी व्यवस्था भी जानी है अंगीके सप्रहको शास्त्र कहते हैं।
शास्त्रमें जानिकी तथा समाज हित चिंतकोंकी धर्मबुद्धिका निराह पाया
जाता है। (अपनिपदमें कहा है— धर्मशास्त्र महर्षीणां अत-करण
सभतम।) अंगलिङ्गे भगवानका कहना है कि कार्यालयकी व्यवस्थितिक
कार्योंमें— क्या करना और क्या नही करना जिसका मनुष्य बुझने पर
शास्त्रों ही प्रमाण मानना चाहिये। शास्त्रका विधान (आना, व्यवस्था)
जानकर ही काम करना चाहिये (१६-२६)।

शास्त्रोंमें मनुके हिसाब पशुपान-गर्हित विचार करके पशुपान
 रन्ना बताया जाता है। जो लोग अर्थात् शास्त्र-विधिकों द्वारा
 न्याय-मूल्य वागनाओंके वश होकर शास्त्रोंके विरुद्ध चलाते हैं, अन्ते
 काममें न सिद्धि प्राप्त होती है, न अन्ते मुक्त होना है, न समाजका
 कल्याण साधनेमें मिलनेवाली उत्तम गति अन्त मिलती है (१६-२३)।

अब यहाँ ध्यानमें रखना चाहिये कि भगवानने नर्माहत दी है,
 शास्त्रको प्रमाण माननेकी, किमी ग्रन्थ-वचनको प्रमाण माननेकी नहीं।
 शास्त्र-मन्व अपने अपने समयके और पदके शास्त्रके आदेशोंको मगूहीत
 करने हैं। इसलिये शास्त्र-ग्रन्थ अपने आदरके भाजन होते हैं। किन्तु
 ग्रन्थ मर्यादित होते हैं। वे अपने जमानेकी बातें बताने हैं, नयी
 परिस्थितिका नयी दृष्टिमें विचार करनेकी शक्ति ग्रन्थोंमें आ नहीं
 सकती। शास्त्र तो जीवित वस्तु है। धर्माधर्मका रहस्य जाननेवाले
 श्रेष्ठ व्यक्तियोंके हृदयमें शास्त्र जीवित रूपसे रहता है। जो मनुष्य
 कल्याणार्थी है, श्रेयार्थी है, वह सर्वहितैषी शास्त्रको अवश्य प्रमाण मानेगा।
 किन्तु पुराने शास्त्र-ग्रन्थोंका प्रामाण्य स्वीकार करनेके लिये वह तैयार
 नहीं होगा। ग्रन्थ-वचन कालग्रस्त हो सकते हैं। जीवित शास्त्र अद्यतन
 परिस्थितिका पूर्ण विचार करके अपना निर्णय देता है। शास्त्र-प्रामाण्य
 और ग्रन्थ-प्रामाण्य अलग नहीं है। अतनी सीधी बात ध्यानमें नहीं आनेमें
 बड़ी विडम्बना होती है।

अशुचिव्रता: [१६-१०]

शुचिका अर्थ होता है स्वच्छ, निर्मल, पवित्र। (शुच् धातुके अनेक
 अर्थ हैं — दुःख करना, पश्चात्ताप करना, गीला होना, पवित्र होना, सड
 जाना अित्यादि।) शुचिके अर्थमें जो स्वच्छता आती है वह शारी-
 रिक भी है और मानसिक भी है। जो निर्मल है उसे भी शुचि कहते
 हैं और जो निष्पाप है उसे भी शुचि कहते हैं। सदाचारी, पवित्र पुरुषको
 शुचिव्रत कहते हैं। जो लोग शुद्ध आचारका पालन नहीं करते, जिनका
 वर्तन अमंगल है अन्ते अशुचिव्रत कहते हैं।

शौचाचारविहीनस्य समस्ता निष्फलाः क्रियाः।

यत्र गन्ध अनन्ध अथ हाते ह । पामित या ता हम जाना ही
है । प्रतिभा और निश्चयता भी यत्र ब्रह्मा ह (युवाहरणाय दक्षत्रय) ।

पतिव्रता स्वप्ना तिनूव्रत आनि गन्धामें यत्र गन्ध निष्ठाक अधमें
आया है । मामाद्य तौर पर जीनेक वगैरा भी यत्र कहने है जम
ब्रह्मचाग यत्र । गानामें दक्षत्रय मगितयत्र जग भी गन्ध आय ह । अथ
अगुचिन्तने दा अथ हा मवन ह (१) जिनका जीवन जम अमगत
अत्यच्छ अयया गन्ध है (२) मलिन हतु मनमें रणार त्रिहान आ
यत्र करनया निश्चय किया है जा अयाग्य ह ।

असक्तनात्मा [५-२१], अमक्तबुद्धि [१८-४९], असक्त
[२-३, १९ २५]

√मत् (सग) विपत्ना बाधना गग करता । मरत याना विपत्ना
हूआ । अ-मक्त यानी अनामक्त अल्पित । आत्मा दृग्म भिन्न है विन्तु
माहक कारण दहक भाष अपनका बधा हुआ गनना है । अिन्द्रियाके
द्वारा पत्नयोः गुणारे साय बाधन पाकर बह आगता हाता है ।
अनामक्तिकी बाधना करनम वह मुक्त हाता है ।

बुद्धिका काम निषय देनेका है । मत् क्या है अगत क्या है,
याग्य क्या है अयाग्य क्या है वायाणकारी क्या है अकल्याणकारी क्या
है — यत् वतानेका वाय बुद्धिका है । जिम तरह चायायाग तभी न्याय
द मरता है जब कि यह पक्षपात रहित और नश्य रहता है अुमी तरह
बुद्धि अपना काम तभी कर सकती है जब वह आगति रहित अगक्त,
अनामक्त हा । बाध-बच्चा और स्वजनका माह जम बन्वान हाता है
तब मनुष्य अपने मच्चे कतव्यका नही पश्चात मक्ता कम-बधनमे
मुक्त नही हा सकता । जिम माग पानेकी शिच्छा है अुम चाहिये
कि यत् जगने हूयम सब तरहकी आमक्ति दूर करे ।

अमक्तनामा गन्धमें आत्माका अथ हाता है अन्त वरण । बाह्य
अिन्द्रियाका गन्ध रण म्प रम, गन्ध अिन विपयाका मन्वद्य हागा
हा । विन्तु अगर म्म आन्तर अिन्द्रिय — अन्त करणका अल्पित अनामक्त
अयवा अमक्त रहेंगे तभी हम मुक्त-मुक्त परे जा मुक्त या आनन्द
है अम प्राप्त कर सकेंग ।

अनासवितका लाभ समझाते हुए पुराने लोग ज्ञानाने गांपरेका तेल लगाकर कटहल काटनेकी फला समझाने थे । भारतके पश्चिम हिन्दारे पर नारियल भी बहुत होते है और कटहल भी । कटहलके फलमें गफेर दूधके जैसा गोद होता है । कटहल काटने समय यह अगुलियोंका पकट लेना है और परेशान करता है । अमलिअे चनुर लोग पहले हाथकां गांपरेका तेल लगाते है और बादमें कटहल काटते है । अम गांपरेके तेलके जैमी ही अनासवित है ।

असंगशस्त्रेण [१५-३]

√शस् (हिमायाम्) । तोउनेमें, काटनेमें जो मदद करता है, हिंसाका जो साधन है असे शस्त्र कहते है ।

लकडीके, पत्थरके, तावेके और लोहेके शस्त्र हम जानते ही है । वाणी भी कभी कभी शस्त्रका काम करती है ।

अब असा देखा गया है कि दुनियामें जो पाप होता है, अन्याय होता है, अुसमें प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूपमें हमारा कुछ न कुछ हाथ होता ही है । अगर किसीने मेरे प्रति अन्याय किया, तो अुसे सहन करनेमें मैंने अुसके साथ सहयोग किया ही है, अगर मैं अपना सहयोग पीछे खीच लू, तो अन्यायकारी मनुष्य मुझे अपने अन्यायका शिकार नही बना सकता । अिस रहस्यको जो लोग समझ गये अुन्होंने आत्मरक्षाके लिये 'असहयोग' या अमगका शस्त्र दूढ निकाला है । अेक पापका विरोध करनेके लिये दूसरा पाप करनेका तरीका बहुत पुराना है । असंग-शस्त्रका प्रयोग करने-वाला स्वयं पापसे मुक्त रहकर विरोधीके पापका नाश कर सकता है । यह शस्त्र अमोघ होनेके कारण अुसे दूढ कहा है ।

असत् [९-१९, ११-३७, १३-१२; १७-२८]; असतः [२-१६]

सत् = सच्चा, स्थायी, अच्छा, व्यक्त, सत्य वस्तु, ब्रह्म, योग्य हित-कर, साररूप, सुन्दर । अिस परसे असत्का अर्थ होता है अस्थायी,

अध्यक्ष अन्वित रति, अवाग्य दुष्ट, असत्य श्रियाणि । परमात्मा
 मय ना है और असत्य भी है अंगा जब कहते ह तब अगन्तु
 अय अन्वित गूय अंगा नही ह। गवता है। वहा गमगना चाहिय रि
 परमाना ध्यवन ना है जोर अध्यक्ष भी है गय और माया दाना
 शुभाव रूप ह। जा परिवर्तनगी है विकारी है अन्वित है, अध्यक्ष
 है अग अगन्तु कहत ह। अगन्तुमें स मन् पैग हुआ अंगा भी वचन
 उपनियाममें आता है पहा अमन् था अमन गन्ता जम श्रिया
 अंगा वचन स्मनियाममें आता है। वहा पर भी अगन्तुका अय अन्वित
 गूय अंगा नही कर मतत। "नामरूपाभ्याम अघ्याहृतम कारणत्मना
 स्थितम् सूक्ष्मरूपम अक्षयनम = अमन्" श्रिति मायावादिन । नाम और
 रूप द्वारा जा ध्यवन रही हुआ है कारणरूपमें हा जा स्थित है
 सूक्ष्म हानके कारण जा अध्यक्ष है अग मायावादी एग अमन् वचन ह।

असत्कृतम् [१७-२०], असत्कृत [११-४२], सत्कार
 [१७-१८]

सत्कारका अर्थ होता है आनिध्य पूजन बहुमान स्वागत श्रियाणि ।
 शिरीर अस्तिवका भयभ्राका और याग्यताता स्वीकार करना मन्वार
 है। श्रिगक विपरीत वतन असत्कार है। याग्य पुरपका सत्कार करना
 मनुष्यता धम है। शिन्तु मन्वारका अपणा करना अथवा अमी अपहाम
 तप शान श्रि करना रजागुणका श्रण है। अममें आपना नही है।
 श्रिीका अमत्कारक गाय, अपमानक गाय दान करना यह ता पूरी
 हीनता ही है। अगकारक कुछ भी नहा श्रेता चाहिय। अम हीन दानता
 गानान (१७-२२) ताममा कहा है।

गमान याग्यता और अमके मित्रामें, जहा प्रम दृ है विनाय व
 परिहामर श्रि अमत्कार याना अपमान श्रिया जाता है। अम न काजा
 नुरमान हाना है और न श्रिीका बुरा लगता है वशि प्रमका ददना
 मिद्ध हाना है। जब अजुनको अनुभव हुआ कि श्राहृष्ण विद्वरूपधारा
 परमाना ह तब अुपहामके श्रिे श्रिय गय अमत्कारकी अुस गम आभी
 और अमने क्षमा मागी।

असद्ग्राहान् [१६-१०]

√ग्रह् (अुपादाने) लेना, पकटना । अिग परगे ग्राह शब्द आया है, जिसका अर्थ होता है जोरसे या मजबूतीसे पकड़ी हुई चीज । अिसके दूसरे अर्थ होते हैं समझना, ज्ञान, निश्चय । मगरको भी ग्राह कहते हैं, क्योंकि अुसकी पकड जबरदस्त होती है । 'आग्रह' भी अिमी परिवारका शब्द है । जब लोग किसी अेक विचारको, अिच्छाको बडी जिदसे पकडकर रखते हैं तब अुसे ग्राह कहते हैं । अैसी जिदमें जब विवेक नहीं रहता तब अुम जिदको मूढग्राह कहते हैं (१७-१९) और अैसी जिदसे पकडे हुअे अशुभ निश्चयको, दुष्ट अिच्छाको 'असद्ग्राह' कहते हैं ।

गीताके पहले जो गीता-माहात्म्य गाया जाता है, अुममें 'भीष्म-द्रोण' आदि श्लोकमें ग्राह शब्द आया है । वहा अुसका अर्थ है 'मगर' । गज-ग्राह शब्दमें भी ग्राहका वही अर्थ है ।

अहंकार [३-२७, ७-४; १३-५, १६-१८, १८-५३, ५८, ५९]

कार प्रत्यय जिस शब्दके साथ आता है अुसीके प्रति ध्यान खीचता है, जैसे — अकार, अुकार, मकार, फूत्कार । 'मैं हूँ' अैसा जो सतत अनुभव मनुष्यको होता है और जिस अनुभवकी अनुपस्थिति पायी नहीं जाती है अुसे अहकार अथवा अह प्रत्यय कहते हैं (प्रत्यय = अनुभव); अुसीको सविद् भी कहते हैं ।

केवल 'मैं हूँ' अैसे अनुभवको भी अहकार कहते हैं और अपने बड्पनके खयाल यानी गर्व, घमडको भी अहकार कहते हैं अैसे अहकारसे यानी अपनेसे होनेवाली क्रियाये करनेवाला मैं हूँ अैसे अभिमानसे जिसकी बुद्धि मोहवश होती है और प्रकृतिके कार्यको जो नहीं पहचानता, अुसे अहकार-विमूढात्मा कहते हैं (३-२७) । अहकारमें अविद्याका प्राधान्य होता है । जब वह अविद्या दूर होती है तब अहकारकी जगह आत्म-प्रत्यय प्रगट होता है । श्री शंकराचार्यने अहकारके बारेमें लिखा है — अहकारः अविद्याख्यः; कष्टतमः सर्वदोषाणां नू सर्वानर्थप्रवृत्तीनाम् ।

अहंकार और अस्मितामें जा मूढम पत्र है वह गमना करना चाहिये।
 बेचल अस्मितके भानका अस्मिता बहल ह। म ह त्रिग अनुभवमें
 जय म पर नार आता है तब वह अहंकार हाता है और 'ह' पर
 नार आता है तब वह अस्मिता है (यागपूत्र १-१७ और २-४८)।

अहृष्ट [१८-१७]

म कता ह त्रिग प्रवारका भाव त्रिगम लप और बधन
 पना हाता है।

(अनहवाग गच्छ भा ग्गिय।)

अहिंसा [१०-५, १२-७, १६-२, १७-१८]

मन बचन और बायाग विसीका नुबमान नहा पदुधाना यह
 अहिंसा है। यह हृषी भुमकी नञ-रूपा ध्यास्या। त्रिगकी भावामक
 ध्यास्या ही है जानेवरन—मन बचन और बायाग गगारका गुणी
 वरनक हतु बाय करना मही अहिंसाका रूप है।

हिंसा (हिंसायाम) मारना पीटना नषगान पदुधाना और
 ह्या वरना। [बना जाना है कि मिह गच्छ हिंसक अरर अरुगानने
 वना है (मिहा वणविषययात्)] तहा अरुग है घहा हिंसा मभव नहीं
 है (१२-२८)। मव प्राणियोंके साथ आमायताका अरताका अरुगका
 अनुभव करना हा अहिंसाका अरुतम साधना है और अहिंसा आत्मानु
 भवकी मवथरु साधना है। गापीजा बहल ह कि अहिंसाके बिना
 मयका साभात्कार नहीं हाता है। किमीका पीडा नहीं दना यह
 अहिंसाका लक्षण है मही रिन्तु बघ जब रागोंके हिनक त्रिगे भुमकी
 मरुपतिम गरुत्रिया करता है तब वह पीडा हिंसा नहीं है। त्रिमी
 नरुह जब किमी अयायकारीका हम अयाय करनेम रोवन ह तब
 जुम जा दु ग हाता है वह भा त्रिमा नहीं है। अरर किमीने अयायम
 किमाकी मरुपति म्वा ली है तो अस अयायकारीके वह मरुपति छान
 कर भुमके मच्चे मारिबका देनेम अयायकारीका दद हाता है गायद
 वन मरुपम भी आ पड, किन्तु वगा करनेमें हिंसा नहा है। किन्तु
 पक त्रितना है कि अहिंसक वृत्ति अयायकारीका भी मत्रा चाहनक

कारण अुसका सर्वनाश न हो जाय अैसे ढगसे न्याय देगी। अद्वैत वृत्तिके बिना अहिनाका कार्य पूर्णतया गगनमें नही आवेगा।

अहिंसा यद्यपि सर्वश्रेष्ठ अद्वैतामृतवापिणी मनोवृत्ति है, तो भी यह मनोवृत्ति कार्यान्वित किये बिना वह मच्ची अहिंसा नही होती। अेक प्रवाद है कि अपने शिकारको खा जानेके बाद मगर सहानुभूतिमें रोता है। अुसके अैसे दभी अश्रुको नकाश्रु कहते हैं। हमारी अहिंसा नकाश्रुका रूप न ले, अकर्मण्य न बने अमी सूचना देनेके लिये गीताने हिंसाको शारीर तपमें स्थान दिया है। (१७-१८)

आचारः [१४-२१; १६-७]

गीतामें आदर्श पुरुषकी जहा चर्चा आती है वहा अर्जुन व्याख्या नही पूछता है, किन्तु अुसके आचरणके बारेमें पूछता है। स्थितप्रज्ञके बारेमें अुसने वैसा ही पूछा है कि वह कैसा बोलता है, कैसा बैठता है, कैसा चलता है। तीन गुणोंके जो परे गया है अैसे गुणातीतका आचार कैसा होता है, यही अर्जुनकी जिज्ञासा है। मनुष्य मननशील तो है सही, किन्तु जैसा अुसका कर्म है वैसा ही वह बनता है। जो क्रियावान् है वही पंडित है। आचार ही मनुष्यकी योग्यताका प्रमाण है। जो आचारमें कुशल है वही आचार्य है। आचर् शब्दका अर्थ होता है— काममें लाना। जिसका ज्ञान आचारमें परिणत हुआ है वही सच्चा ज्ञानी है। [गीतामें (१३-२ से १३-११) ज्ञानकी जो व्याख्या दी है, अुसमें ज्ञानीके स्वभावका और अुसके कर्मोंका ही वर्णन दिया है।] चारित्र्य शब्द ही आचार-प्रधान है।

अैसे आचारमें अदरकी निष्ठा और वाहरका अिद्रिय-व्यापार अिन दोनोंमें समन्वय रहना चाहिये। जिसका बाह्य आचरण नियमयुक्त है किन्तु अुसके साथ मनका और हृदयका योग नही है, अैसे मनुष्यका कार्य मिथ्या यानी निष्फल होता है। अैसे आदमीको गीताने मिथ्याचारी कहा है। जिसने कर्मन्द्रियोंका तो सयम किया है, परन्तु मनको काबूमें रखनेकी शक्ति न होनेके कारण मनके द्वारा विषय-सेवनका ही जो स्मरण करता है, अैसे मूढ मनुष्यको मिथ्याचारी कहा है (३-६)। दभमें और मिथ्याचारमें फर्क है। दभी मनुष्य विषयोका सेवन चाहता

ही है। किंतु समाज पर सयमी हानकी छाप डालनेके लिये वह अपर अपरम सयम बताता है। दमो मनुष्य बपनी टग हाता है मिष्याचारी मनुष्य दुगल अयया गिधिल हाता है।

त्रिगन अपना गान आगार द्वारा वार्यान्वित किया है और त्रिा तरह जो आचाय बना है अेम चारिष्यवान थेष्ट पुरयव पाग रहनम ही गानप्राप्ति वीपवान बनती है।

आचार्योपासनम [१३-७]

महाभारतमें भीष्माचाय द्वागाराय वृगाचाय अित्यादि बढ बढे आचार्योका जावन और पुरयाथ वर्णित है। आचार्योकी ध्याम्या गाम्त्रामें त्रिग प्रसार है

आचिनोति हि गाम्त्रार्योनि, आचारे स्थापयत्युत ।

स्वय आचरते यस्तु स आचाय प्रचक्षते ॥

सब गाम्त्राका आलोडन करके अुनक मन्त्वके अर्पोका और अपुग्याकी जा अिकट्टा करता है फिर जम गाम्त्रापग्याका आघरणमें किम तरहम लाया जाय त्रिगवा गाम्त्रा बतारर जा समाजमें सग्वारकी स्थापना करता है और स्वय अुमीक अनुमार चक्कर अपने अुगहरणक द्वाग जा गक-गग्रन करता है अेम (ममाज हितकारी गानी और वमनिष्ठ) पुग्पवा आचाय वन्त ह।

अम आचायके निकट रहनम अुनक जीवन त्रमका निरीक्षण करनम और अपन जीवनके हर वठिन गमय पर अुनकी सलाह पूछकर तन्नुमार चग्नेम गिष्य गानी चारिष्यगील और धमविद् बनता है।

अुपामनाका गलाय हाता है नजदीक जाकर बठना, दूसरा अध गाना है सवा करना अयवा ध्यान करना। जो युवक आचार्योका नजदीक रहता है अुग अतेवासी भी कहन ह।

अतेवासीका गुदका समग्र जीवन ध्यानपूवक देखनेका असाधारण मोरा मिलता है त्रिगलिग्ने अुगकी अुपामना सफ्ठ होती है। आचायकी सवा करक वह अुनकी अनुकूलता भी प्राप्त कर लेता है। जमीन ग्वान्तवालेका त्रिग तरह पानी मिग्ता है अुसी तरह सेवा द्वारा गुरका हृदय अनुकूल कर लेनेवालेका गुरकी अगेप त्रिद्या मिलती है।

बिसी सिलसिलेमें 'शुश्रूपा' शब्द भी गमज लेना चाहिये। शुश्रूपाका मूल अर्थ सेवा नहीं है। √श्रु यानी सुनना। शुश्रूपा यानी मुननेकी अिच्छा। जो शिष्य गुरुकी कही हुअी बातें मुननेके लिअे तत्पर हें या अुसके अनुसार चलनेके लिअे जो तत्पर हें अुसे 'शुश्रूपा' कहते हैं। शिष्यका धर्म था कि वह गुरुकी सेवा भी करे और तत्परतासे शुश्रूपा भी करे। अिस परसे शब्द आया सेवा-शुश्रूपा। फिर मंवाका भाव ही रह गया और शुश्रूपाका अर्थ सेवा ही होने लगा। जिम अन्ते-वासीमें शुश्रूपावृत्ति है अुसीका 'आचार्योपासनम्' सफल होता है।

गीताने ज्ञानकी व्यापक व्याख्या करते हुअे ज्ञानप्राप्तिके साधन, ज्ञानोपासनाके फल और ज्ञानका व्यापक स्वरूप ये सबके सब एक साथ दे दिये हैं। (१३-७ से १३-११)

महाभारतमें अेक सुदर प्रसंग है जहा धर्मकी चर्चा करते हुअे अर्जुनको श्रीकृष्ण डाटते हैं "हे अर्जुन! तुम धर्मका रहस्य क्या जान सकते हो? तुमने वृद्धोकी सेवा थोडे ही की है?" भगवानका कहना यह था कि जो लोग वयोवृद्ध हैं, ज्ञानवृद्ध हैं, तपोवृद्ध हैं अैसे ही लोग जीवनके सब पहलू जानते हैं। अैसे जीवन-वृद्धोके निकटतम सहवाममें ही धर्म जाना जाता है, क्योंकि वे समय समय पर भिन्न भिन्न दृष्टिसे धर्म-रहस्य समझाते हैं। अिस तरह आचार्योकी अुपासना और वृद्धोकी सेवा धर्म-ज्ञानप्राप्तिका अेक महत्त्वका साधन माना गया है।

विद्यार्थियोके लिअे सस्कृतमें छात्र शब्द आया है। यह अेक अजीव शब्द है। 'छतात् त्रायते अिति छात्र' अैसी अिसकी निरुक्ति बताअी है। जिस शिष्यको गुरुने अतेवासी होनेका अधिकार दिया है, अुसके सामने गुरुके गुण-दोष छिप नहीं सकते।

गुरुकी छोटी-मोटी सब बातोका शिष्य साक्षी रहता है। अैसा शिष्य अगर गुरुको बदनाम करना चाहे तो आसानीसे कर सकता है। अैसे सकटसे - छतसे - गुरुको जो बचाता है वह छात्र है। हरअेक नुकसानसे जो गुरुको बचाता है वह छात्र है, यह भी छात्रका अर्थ हो सकता है। अन्तेवासी बनकर जब विद्यार्थी विद्या पाते ये और फीसकी

जगह गुरुव घरकी गवा करव परिश्रम द्वाग गुन्य अग करन य
 जैम काळमें द्वात्र गाकी भुताति दूभी हागी।

आतनायिन् [१-३६]

समाज जिग अपराधका गहन नहीं कर गवता, अग घार
 अपराधक करनवाला आतनायिन् बहन ह। अग लगानेवाग, जहर
 पिलानवाग अथवा जैमा आमी जिग पर खून चढ़ा हा या जा
 मनुष्य विभीका घन स्त्री या जमीन लूट रना है अमका आतनाया
 पहन ह।

अग्निदो गरवचव गस्त्रामसो घनापह ।

क्षेत्रदारहरचव यदते ह्याततायिन ॥

जम गुनहाराका अत्र तरहम O.J law समझन घे। यानी जिम
 विज्ञान अग देग गिया वह अग मार मकना घा। जिमक वारमें
 गाम्प्रका वचन है

आततायिनम् आयातम् ह्यपान अथ अविचारयन् ।

अगर थाभा आतनायी गामतम हमला करनकी मायतग जा
 नाय ता विनेय गाचे विना (यानी यायाधीनक सामने विचारक गिजे
 जुमे खडा किय विना) मार हा डागना चाहिय।

जजुनका दगील यह है कि आतनायिकाका मारनेमें पाप नहा
 ३ अम गाम्प्रवचनका आधार हम स्वजनाका और गुरुजनाका मारनेमें
 कम ७ मरत ह? हमें ता पाप लगगा ही।

आत्मनृप्त [३-१७]

जा मनुष्य आत्मास आत्मामें ही तृप्त है मतुष्ट है जुम
 जात्मनृप्त कहत हैं। जा मनुष्य भगा है वह जम्बस्य हाता है। भाजन
 मित्र पर अमकी क्षुधा निवारण होन पर वह तृप्त हाता है।
 किन्तु वामना-भूर्तिने द्वारा प्राप्त दूभी तृप्ति स्यायी नहा हाती फिरम
 अनप्ति, तृष्णा बार-बार अल्पत्र हाती है।

(तृप् और तृप् य दाना धानुजें मनुष्य-जीवनमें जक्के पीछे भेर
 जाती ही रहता ह।) जिमिन्द्र वाद्य वस्तुकी तपितक द्वारा मनुष्य

कभी नित्यतृप्त (४-२०) होता ही नहीं। कर्मफलकी आसक्ति छोड़ देने पर ही मनुष्य नित्यतृप्त बनता है। ज्ञान, विज्ञानके द्वारा आत्मतत्त्वके सच्चे स्वरूपका ज्ञान और साक्षात्कार होने पर ही अिन्द्रिय-विजयी तृप्तात्मा बनता है (६-८)। आत्माका साक्षात्कार जिसे हुआ अुसीकी वासनाये निर्मूल हो जाती है और किसी भी प्रकारकी आकाक्षा न रहने पर वह तृष्णा-रहित आत्मतृप्त बन जाता है।

आत्मबुद्धिप्रसादः [१८-३७]

प्रसाद = प्र + √सद् (विशरण-गति-अवसादनेषु)। प्रसादस्तु प्रसन्नता यानी निर्मलता। सुख दो प्रकारके होते हैं। अगर किसी आदमीको खुजली हुआ तो चमडी खुजलानेसे अुसे सुख होता है। यह हुआ अेक प्रकारका सुख, जो असलमे जघन्य है। वही मनुष्य जब निरोगी बनता है तब अुसके आरोग्य और यौवनके कारण शरीरकी चमडीके अूपर कान्ति प्रगट होती है। अैसा मनुष्य जब सुबह व्यायाम करके ठंडे पानीसे नहा लेता है तब अुसके सारे शरीरसे मानो सुख फूट निकलता है। यह दूसरे प्रकारका सुख सात्त्विक अतअेव श्रेष्ठ है।

अव अिन्द्रियोके द्वारा जो विषय-सुख मिलता है वह मानो खुजलानेका सुख है और आत्मावलम्बी बुद्धिके द्वारा जो अनासक्तिका निर्मल सुख मिलता है वह मानो आरोग्य और यौवनका सुख है, मानो ब्रह्मचर्यका सुख है।

ज्ञान, वैराग्य, ध्यान, समाधि आदिकी साधना जब चलती है तब प्रारभमे बडा ही कष्ट होता है। किन्तु आगे चलकर अुसीमे से अमृत-तुल्य सुखकी प्राप्ति होती है। अैसे सुखको सात्त्विक सुख कहा है।

(अिसके साथ 'प्रसाद' और 'मन प्रसाद' शब्द देखिये।)

आत्मयोगात् [११-४७]

'आत्मयोगात्'का अर्थ होता है अपने योगके द्वारा। यहा योगका अर्थ होता है योगवल अथवा अैश्वर्य (अीश्वरस्य भाव अैश्वर्यम्)। भगवान तो योगेश्वर है ही।

आत्मरति [३-१७]

रति √रम (स्त्री) रत्नना आनन्द पाना आराम करना ठहर जाना। अंग परम रतिका अर्थ होता है आनन्द गुण प्रीति।

प्राकृत मनुष्यका विषय-भवांग रति मित्रता है। कर्ममार्गी मनुष्यका कर्मोक्ति विन्तारम सनाप होता है। किन्तु ज्ञानमार्गी मनुष्यको कर्मभी वागना ही नहीं रहती। अंगरा सनाप अंगकी रति और अंगका तृप्ति किमी बाह्य धम्तु व्यक्ति या घटनाक अूपर निर्भर नहीं रहती। अंगक अंग्रे य मव अन्तरंग हा स्वयमिद हान ह। विरक्त तिमूह, पानीका आत्मरति रहत ह।

जगति लिभ वतव्यता बाधा बधन नहीं होता।

आत्मवान् [२-४७, ४-४१]

हरअक जीव आत्माकी ही अभिव्यक्ति है। लोकिव भाषामें हम कहत ह कि हरअक जीवमें आत्मा है। तत्र भगवानन अङ्गुनको तुम आत्मवान् बना (आत्मवान् भव) अगा क्या कहा हागा? अंगका अुत्तर यह है कि मव जाव आत्मवान हात ता ह किन्तु प्रमाण कारण वे आत्माका भूट जाने ह। अगर काभी घनी आत्मी अपनी सम्पत्तिका भूट जाय ता अंगका दृष्टिम यह त्रिदी है। अंगक अंग्रे अपनी सम्पत्तिकी यात् माना नया सम्पत्ति पानेक बराबर है। अगा अयमें आत्मवान् भव' का अर्थ लगाना चाहिये।

या ता हरअक आत्मीके मा-वाप होने हैं ता भी जिस अंगक मा वापकी आरम अच्छी गिना त सम्वारिता प्राप्त हुआ है अंग मानूमान् पिनुमान् कहनेका गिवाज है। जिनने अपने गुरुके पामस विद्या लेकर अंग विद्याका सन्पयाग किया है अितना हा नहा किन्तु अपने जावनमें अंग विद्याका आत्ममान करके गियाया है अंग आचायवान् कहने ह। जम कि — मानूमान् पिनुमान् आचायवान्, वेत्तवान्। जिनत मा-वापमे और अपने गुरुअंगि अच्छी सस्वारिता प्राप्त की है जसा ही मनुष्य रहस्य विद्या समझ सकता है। आत्मवान् मनुष्य अपने आत्म-स्वरूपको नहीं भूलता, आत्मपरायण रहता है आत्महितके विपरीत कुछ भी काम

नहीं करता। सतत सत्त्वगुणका ही आश्रय करता है। सुख-दुःखादि द्वन्द्वोके आघातसे पराभूत नहीं होता। जैसे आत्मवान्को कर्मोंका बन्धन हो नहीं सकता (४-४१)।

आत्मसंभाविता: [१६-१७]

यहां आत्म शब्दका सम्बन्ध अन्तरात्मासे नहीं है। आसुरी सम्पत्तिके लोगोके वर्णनमें यह शब्द आया है। जो लोग घमडमें अपनेको ही सर्वगुण-सम्पन्न मानते हैं, अपने बडप्पनका अभिमान रखते हैं किन्तु सत्पुरुषोंने जिन्हें सज्जन या श्रेष्ठ नहीं कहा उसोको 'आत्मसंभाविता' कहते हैं।

आत्मकारणात् (३-१३) शब्दमें भी आत्माका अर्थ केवल 'स्वयं' अितना ही है। अपने ही लिये जो पकाते हैं वे पाप खाते हैं। आत्म-संभाविता शब्द Self-righteous के जैसा है। पाश्चात्य लोगोमें यह वृत्ति हम हमेशा पाते हैं। अुच्च वर्गके लोगोमें भी यह दोष पाया जाता है।

आत्मा [६-५, ६, ७-१८; ९-५, १०-२०; १३-३२, आदि आदि]

गीतामें यह शब्द स्वतंत्र रूपसे या समासमें या विशेषणके तौर पर अनेक वार आया है। इस शब्दकी व्युत्पत्ति अनेक ढंगसे बनायी गयी है। एक अिटालियन सस्कृत पंडितने कल्पना की है कि अथर्व-वेदमें 'तन्मयि' आता है। उसी परमें आत्मा शब्द आया होगा— "वह जो मेरे अन्दर है।" आप्नोति, आदत्ते, अत्ति सर्वम्—सब कुछ प्राप्त करता है, ले लेता है और अुपभोग करता है इसलिये अुसे आत्मा कहते हैं अैसा शाडिल्यका कहना है। श्री शंकराचार्यने आत्माकी व्युत्पत्ति आप्, आदा, आ + अद् और आ + अत् अैसे अनेक तरहने बताया है। अत् (सातत्य-गमने) हमेशा जाते रहना, जीते रहना, हमेशा होना अिन परमें आत्मा निकला हुआ दीख पडता है।

जो शरीरमें रहता है, किन्तु शरीरमें बद्ध या भीमित नहीं है, जो जविनाशी और अविकारी है, जो सर्वत्र और सर्वदा अेकना

विद्यमान है और जा अनन्त रूपमें प्रगट हान हुआ भी श्रेय है यह आत्मा है। अंगक अमया साम्यता और व्यापकताका मया करव अम परमात्मा या विद्यात्मा भी कहन ह। हृदयक अन्दर यह पाया जाता है अिमन्त्रि अम अन्तरात्मा कहन ह। जब श्हेके अर रहनस यह मयात्ति हुआ है अमा धम पैग हाता है, तब अम जीवामा कहन है।

आमाका अय हाता है हम स्वय अिसन्त्रि आत्माका अय शरीर भा हाता है। मन हृदय अन्त करण प्राण, अिद्रिय अित्या अिमक अनन्त अय हाते ह।

आत्मौपम्य [६-३२], सयभूतात्मभूतात्मा [५-७]

अतैवा अनुभव दा प्रसारण िया जाता है। तस्यपानके चिन्तनम याना पान-साधनाके द्वारा मवत्र अचना और अमत्वा दान करना यह अक प्रकार हुआ। दूगरा प्रकार जीवन-साधनाका है। अिममें हृदयम तब प्राणियाके साय निप्याम प्रेम बढ़ानेकी साधना हाती है। दूगरके गुपम मुक्ती होना दूगरके दुष्मम दुष्मा होना और फलत अिमाक प्रति प्रतिकूल आचरण नही करना यही है अहिमा। अिम अहिमाक द्याग नी अदनकी अनुमूति दढ़ हाती है। अिमन स्वाय छाड िया, द्वेष आयमि जा परे है सना और मत्ताकी लालच अिममें नहीं है अिमन अिद्रियाका जात िया है वही पशपात रहित हातर आमी पम्यता अनुभव करता है। अमा मनुष्य जानता है कि अिम मार अिममें जा जा व्यक्ति या चाज है अमकी आमा और अपनी निजकी आमा जेव हा है (५-७)। आत्मौपम्यकी अमी साधना द्वारा वह आत्मकय यानी मवामकयका अनुभव करता है। अमी अनुभवका विद्यात्मनय भी कहन ह।

मवत्र अक ही आत्मा विराजमान है। अिम सारे विश्वमें अक हा मन मित्र मित्र रूपम अपना व्यापार चलाना है। मवका हृदय श्रेय हा है। और अिस हृदयमे ही मत्यका पान हाता है। (हृदयन हि मत्य जानाति)।

अथ बाद आगनाके द्वारा शरीरक कञ्ची दाप दूर करनेकी तन्वाय पाञ्ची गञ्ची । आगे जाकर त्रिगिष्ट वृषण बटनक कुंडलिनी कानि जाग्रत करना आगना है अगा ग्या गया । गीतान अगा ही आगना पाञ्च विद्या है त्रिगमें गारा शरीर—पीठकी रीढ़ गीधी रहे त्रि और गदामें भा कहीं टङ्गापन न आ जाय । प्राणायामके लिभे अनुरूपा प्राप्त करता यह नी आगना पञ्च करनेमें अेक युद्ध रत्ना पा ।

अमुर [७-१५ ९-१२ १६-४, ५, ६, ७, १९, २०],
 देव [४-२५ ७-१४ ९-१३, १६-३, ५, ६, १८-१४]

√न्वि (त्रीढा विजिगीषा व्यवहार छुनि स्तुति माञ्च मञ्च स्वप्न कानि गतिपु) । जो प्रकाशमान हूं प्रभावगानी है जिनकी कानि अप्रतिहत है अहं एव कन्ने ह । देव गणका अप नगत्र तारे भा हाता और अिद्रिय भी हाता है । राजा और स्वामीका भी देव कन्ने ह ।

अमुर गणकी अत्यन्त अनिचित है । कञ्ची पहना है अमूर् राति त्रिति अमुर ' अर्थात् जा प्राण देता है वह अमुर है । पार गियाने घमप्रयामें त्वाका अत्रर अयवा अमुर कहा है । वेदमें अेक जगह त्रिद्रवा भी अमुर कहा है । अनिहासिक कहते हैं त्रि आय और भीरानी जानिया जब अकत्र रहनी थी तब आय लग सोम या गगत्र पान ये त्रिमलित्र अहं गुर कहने ये और आरानी लग गरावका परहेज कन्ने ये त्रिम वाम्ने अहं अमुर कन्ने ये (गुरा=गराव) ।

गुरा प्रतिग्रहात् देवा गुरा अित्यभिविध्रुता ।

अप्रतिग्रहणात् तस्या दतेयाश्च अमुरास्तथा ॥

(रामायण)

अव और अमुर भाआ भाञ्ची थे । अपनिपद्में कहा है, त्रि अमुर बडे भाञ्ची तथा देव छोटे भाञ्ची थे (बृहदारण्यक १-३-१) ।

गातामें ये गद नतिक, सामाजिक और आध्यात्मिक गुणाने घोतक ह । जो लग सत्त्वगुण प्रधान हं उनके स्वभावका देव कहा है

और जो रजोगुणी है अुनके स्वभावको आसुरी कहा है। सोलहवे अध्यायमे अिन दोनोके स्वभावका विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

सम्पत् शब्दके नीचे तथा भूतसर्गके नीचे अिसका विशेष विस्तार देखे।

दैवी सम्पत्तिके लोग दीर्घदर्शी होते हैं। वे अिस लोक और परलोक दोनोका खयाल रखते हैं। अभ्युदय और नि श्रेयस् दोनोको ध्यानमे रखकर अपना जीवन-क्रम निश्चित करते हैं। व्यक्तिका हित और समाजका हित दोनोमे विरोध नहीं आने देते। पशु, पक्षी, सरीसृप, कृमि, कीट, वनस्पति आदि सबके चैतन्यकी अेकताका स्वीकार करते हैं। अिनके गुणोकी फेहरिस्तसे ही सोलहवा अध्याय शुरू होता है।

आसुरी वृत्तिके लोग रजोगुणी होनेसे अदूरदर्शी, स्वार्थी और अहकारी होते हैं। अिसी कारण अुनमे दम्भ भी आ जाता है। अुनके जीवन-क्रममे द्रोह भरा रहता है। गीतामे अिनका जो वर्णन आया है अुसे पढते समय खयाल होता है कि साम्राज्यवादियोका ही वर्णन हम सुन रहे हैं।

आस्तिक्यम् [१८-४२]

√अस् (भुवि) होना, रहना। अिस धातुका तृतीय पुरुष अेकवचन है 'अस्ति' यानी 'है'। अिस परसे आस्तिक्यका अर्थ होता है किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना, सम्बन्ध या गुणके वारेमे 'यह है' अैसा विश्वास। अिसका विपरीत शब्द है नास्तिक्य या नास्तिकता।

आस्तिक्य शब्दका आजकल विशेष अर्थ होता है 'अीश्वर है' अैसी श्रद्धा। किन्तु हमारे धर्मग्रथोमें आस्तिक्यका सम्बन्ध अीश्वरके अस्तित्वसे नहीं है। वेद और धर्म-ग्रन्थोके वारेमे जिसकी प्रामाण्य-बुद्धि है अुसे आस्तिक कहते हैं। मनुका वचन है 'नास्तिको वेदनिन्दक'। अगर आप वेदको प्रमाण मानते हैं और अीश्वरको नहीं मानते हैं तो भी आप आस्तिक ही हैं। अगर आप अीश्वरको मानते हैं किन्तु वेदको प्रमाण नहीं मानते हैं तो आप नास्तिक हैं। आजकल यह विशेष अर्थ नहीं रहा है। गीतामे जहा आस्तिक्य शब्द आता है (१८-४२) वहा भी भाष्यकारने अुसका अर्थ

किया है अस्मिभाव अर्थात् श्रद्धातया आगमार्थेषु — सास्त्रक कथा पर श्रद्धा विवाम ।

सास्त्रारत्रीवी लागते लिखे अनी श्रद्धा स्वाभाविक हागी । किन्तु अगर सास्त्रम धर्मका अथ किया जाय ता सामान्य मनुष्यका अमा श्रद्धा स्वाभाविक नही हा सकता । सास्त्र धोर आगमका अथ अगर अनुभूत और व्यवस्थित ज्ञान हे तब ता जमा श्रद्धा अत्यन्त होना सम्भाव्य है ।

आजकल आस्तित्व का अर्थ है भीतरके अस्मित्व पर विवाम । यह ता शक्य श्रद्धाका हा विषय है । अगर किमीका आंतरिक अस्तित्व पर विवाम नहीं बढता है ता भूम हम दुर्बल या कमबलत यह कहना है किन्तु दुराचारी या पापा नहा ।

आस्तित्वका अर्थात् अथ हाना चाहिये माग्य पर विवाम मनुष्य हृदयक विवाम पर विवाम जीवनके कल्याण-स्वरूप पर विवाम आध्यात्मिक मिडालका अटलता पर विवाम अथवा आत्मा पर विवाम ।

आहार [१७-७, ८, ९]

आ + √हृ । जो किया जाता है यह आहार गुराव । जा माया जाता है (अद्) भूम अन्न कहत ह । अन्न और आहार अथ ही अर्थक गच्छ है ।

मनुष्य जा अन्न पाना है भुगीत भुमक गरीरके रचनादि मत्त धानु बनत है अिमत्रिंशे नियक आहारका गरीर पर, स्वास्थ्य पर मन पर और स्वभाव पर बहुत कुछ असर होता है । यह देखकर धर्मकाराने मानवको लिखे आहारका बहुत कुछ विवेक बताया है । अिम विवामें ता कुछ है भुम भवमें मत्त्व रज और तमसा भेद दीप्त पडता है । पानाने अपने गुणमह्वानमें त्रिविध आहारका विस्तारम बणन किया ह । माने आयुर्वेदमें भा अिसी दक्षिका अवलम्बन किया गया है ।

भुगनिपत्तमें "आहारगुडी सत्त्वगुडि " आहार गुड रहने पर मनुष्यका मत्त्व याने चारित्र्य गुड हाता है अैमा स्पष्ट कहा है । सत्त्वका अर्थ गरीरकी रचना भी हाता है । आहार गुड हाने पर गरीर

निर्दोष बनता है। आहारकी प्राप्ति प्रामाणिक हो और निष्पाप हो, समाजद्रोही न हो तो चारित्र्य अज्ज्वल बनना ही चाहिये।

असके अलावा आहारकी मात्रा भी सप्रमाण रहनी चाहिये (६-१७)। जो अधिक खाता है अथवा विलकुल खाता ही नहीं (६-१६) उसे जीवनसिद्धि नहीं मिलती। जो युक्ताहारविहार है उसीको योगका फल मिलता है।

जो मनुष्य आहार ही छोड़ देता है, निराहारी बनता है (२-५९) वह आहारसे तो परे रहता है किन्तु उसकी आहारकी वासना दूर नहीं होती। वह तो रहती ही है और कभी कभी बढ़ती भी है। (यह आहारसे मतलब केवल अन्नसे नहीं है। किन्तु तमाम अद्रियोके अपने अपने विषयोके सेवनसे है।)

सात्त्विक, राजसिक और तामसिक जैसे आहारके तीन भेद बताये हैं। इसमें अन्नके गुणका भी विचार किया गया है और खानेवालेकी अभिरुचिका भी। जो आहार स्वादिष्ठ है, घी या तेल जैसे चिकने तत्वोके कारण पौष्टिक है, सारयुक्त होनेसे स्थिर है और हृदयको प्रसन्नता देते हैं वे सात्त्विक हैं। जैसे पदार्थ आयु, सत्त्व (Vitality), बल, आरोग्य, सुख, प्रीति और स्वाद या रुचि बढ़ानेवाले होते हैं। राजस वृत्तिके लोगोको अति तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गरम गरम, कड़वे, रूखे और जलन करनेवाले पदार्थोकी ओर रुचि होती है। जैसे पदार्थोके सेवनसे दुःख, कष्ट और रोग पैदा हुये तो भी वे उसकी परवाह नहीं करते।

तामस प्रकृतिके लोग हिंस्र जानवरोके जैसे होते हैं। अन्हे तो वासे, सडे, दुर्गन्धियुक्त और नीरस पदार्थ ही अच्छे लगते हैं, फिर वह जूठन हो और फेकने लायक ही क्यों न हो वे तो खायेगे ही।

अिच्छाद्वेषसमुत्थ [७-२७]

जो लोग अिद्रियोके वश रहते हैं अुनके मनमें सुखकारक वस्तुओकी अिच्छा रहती है और दुःखदायक वस्तुओके प्रति द्वेष। सामान्य जीवनके अनुभवसे हम यह नहीं कह सकते कि सुखदायक वस्तुअे हितकारी ही होती है और जिनसे शरीरको दुःख होता है वे

हानिकारक हा होता है। अग्नि-त्रे जाती पुरुषका — गयाने मनुष्यका — कर्म सुग-दु गवी प्रेरणाका मानकर नहीं चला पाहिये। जो जग अग्नि और द्वेषन भुक्त्यप्र हानिका माहने कर्ममें पग जान ह य मनुष्यके प्रवाहमें बा जो ह।

सुग और दुग जाकर पप प्रजात हातरा दावा कर्म ह। त्रिभु अन्वये पाछ जानन व्यावहारिक तुनियारा मामाच मन्य नी मिष्ट नहा होता फिर परमापमिष्टिबी बातें क्या मापती ह।

अग्नि और द्वेष भय और त्रुप प्रावृत्ति परीरमें हात ही ह। अन्क अपर वित्रय पाना मस्कारी पुरुषका मुक्त पुरुषका लक्षण है। (१-२८)

अग्निद्वयकर्माणि [४-२७]

अग्निद्वयकर्माणि का अर्थ हाता है अग्निद्वयार कम अर्थात् अग्निद्वयके द्वारा हानयाने कम। गीताने अग्निद्वय-कर्म और प्राण-कर्म अगा कर्मोंका भेद माना है। अग्निमें म प्राण-कर्म ता अग्निद्वयार हात ही रहत ह अग्निद्वयके कर्मोंमें मनापाय रहता है। पानम प्रवृत्ति का हुआ आत्ममयमरूपी यागानिमें अग्नि दाना कर्मोंका हवन किया जाता है।

अग्निद्वय-कर्मोंमें पानद्वय और कर्मोद्वय दानाके व्यापारका अन्तर्भाव हाता है।

अग्निद्वयग्राम [६-२४, १२-४]

√ग्राम् (आमत्रणे) ग्रामका अर्थ है समुदाय। त्रिभुके अन्क अर्थ ह— गाव, जानि, समुदाय, मपीतमें मस्त स्वरका ग्राम (Scale Gamut)।

अग्निद्वय गल्की व्युत्पत्ति ध्यानमें लने लायक है। अग्निद्वयकी जिह प्रेरणा है अग्निद्वय जिनके अधिपति ह बुद्ध अग्निद्वया कहत ह। अग्नि गक्तिना क्षेत्र है। बुद्धकी गक्तिम अग्निद्वया अपना अपना काम करती ह।

अब अग्नि गल्की व्युत्पत्ति भा देखना चाहिये। अग्नि सारे विचरता मस्त्रुतमें अग्निम् कहत ह क्याकि वह हम माधात् दख मवने ह अनुभव कर मवने ह। बन्कि माहित्यमें अग्निम् की जगह 'अग्नि' भी जाना

निर्दोष बनता है। आहारकी प्राप्ति प्रामाणिक हो और निष्पाप हो, समाजद्रोही न हो तो चारित्र्य अज्ज्वल बनना ही चाहिये।

असके अलावा आहारकी मात्रा भी सप्रमाण रहनी चाहिये (६-१७)। जो अधिक खाता है अथवा विलकुल खाता ही नहीं (६-१६) उसे जीवनसिद्धि नहीं मिलती। जो युक्ताहारविहार है उसीको योगका फल मिलता है।

जो मनुष्य आहार ही छोड़ देता है, निराहारी बनता है (२-५९) वह आहारसे तो परे रहता है किन्तु उसकी आहारकी वासना दूर नहीं होती। वह तो रहती ही है और कभी कभी बढ़ती भी है। (यह आहारसे मतलब केवल अन्नसे नहीं है। किन्तु तमाम अिद्रियोके अपने अपने विषयोके सेवनसे है।)

सात्त्विक, राजसिक और तामसिक अैसे आहारके तीन भेद बताये हैं। अिसमें अन्नके गुणका भी विचार किया गया है और खानेवालेकी अभिरुचिका भी। जो आहार स्वादिष्ठ है, घी या तेल जैसे चिकने तत्त्वोके कारण पौष्टिक है, सारयुक्त होनेसे स्थिर है और हृदयको प्रसन्नता देते हैं वे सात्त्विक हैं। अैसे पदार्थ आयु, सत्त्व (Vitality), बल, आरोग्य, सुख, प्रीति और स्वाद या रुचि बढ़ानेवाले होते हैं। राजस वृत्तिके लोगोको अति तीखे, खट्टे, खारे, बहुत गरम गरम, कड़वे, रूखे और जलन करनेवाले पदार्थोकी ओर रुचि होती है। अैसे पदार्थोके सेवनसे दुःख, कष्ट और रोग पैदा हुअे तो भी वे उसकी परवाह नहीं करते।

तामस प्रकृतिके लोग हिंस्र जानवरोके जैसे होते हैं। अुन्हे तो वासे, सडे, दुर्गन्धियुक्त और नीरस पदार्थ ही अच्छे लगते हैं, फिर वह जूठन हो और फेंकने लायक ही क्यों न हो वे तो खायेगे ही।

अिज्जाद्वेषसमुत्प [७-२७]

जो लोग अिद्रियोके वश रहते हैं अुनके मनमें सुखकारक वस्तुओकी अिच्छा रहती है और दुःखदायक वस्तुओके प्रति द्वेष। सामान्य जीवनके अनुभवसे हम यह नहीं कह सकते कि सुखदायक वस्तुअें हितकारी ही होती है और जिनसे शरीरको दुःख होता है वे

अनुभव हान पर आचरणी अिच्छामें हमारी अिच्छा विलीन हा जानी है। जा हमारा बाधा म्वात्र अंग अिच्छा रहा ता अनममें अुनता अुनता रहा। अमे अिच्छ हा पर हम बन् गायभीम पातक्य हा र गत ह।

राजगा वलि और मसृतिमें नाग और अण्वयकी प्रधानता हाता है। अिच्छाका तृप्त करना और दूगरा पर अधिहार जमाना अुनकी म्वाग लाभ अुछाना यहा है अुम मसृतिका लक्षण। (२-४३ ४४)

अुत्तमप्रबुलधम [१-४४]

अुत्तम हुआ है याना नष्ट हुआ है बृलधम जिनका अुहे अुत्त प्रबुलधमा कहत ह। अमे लौगाका मरन पर नरकमें निरिन पास हाता है। जा लोग अुत्तका पाा करत ह व और अुनमे नष्ट अुत्त अुत्त और नष्टबुलधम सब ना जिन गवका उरमें रहता पडता है। असी अुत्त समयक ममाजगाम्बियाका राय था।

स्वग-नरक

स्वग-नरक बारमें प्राचीनाकी जा राय थी वह आज त्ही पायी जानी। ना भा ममाजबिज्ञानकी दृष्टिम अिच्छ कल्पनाअामें कुछ तथ्य है।

जहा अण्वराअें रहती ह जा अुनका गान और अमृतका पान अण्व चलता है और जहा जरा-मृत्युका डर नहीं है अग स्वगकी कल्पना हम भा हा छा में, जहा यमदूत पीतत ह अग्निमें टालत ह तमें ज्वालत ह और मडनीम पक्डकर कमडी निकालने ह और अिच्छा विडम्बना हात अुत्त भी मृषु द्वारा छुडी मिच्छेका गुजाअिग त्ही है अम नरककी कल्पना भा हमारे ध्यानमें भल हा न बडे विन्नु स्वग और नरकका कल्पना नय डगग माचनी ही हागी।

अगर मनुष्यका आचरण ममाज विरोधी हुआ और अुगी तग म अन्तक कारण दुराचार मनुष्यका स्वभाव ही बन गया तो मनुष्यका अवनति अवश्य हाता है। अुम स्थितिमें न ता अुम मुस मिच्छा न गान्ति। अमी अवनत ग्वानिपूण अवस्थाकी ही नरक कहना चाहिये।

हानक कारण अुसका वणन अुसने जगत् खण्डन किया है। किन्तु दसान तो भगवानका कृपासे सर्वकथ म्पम हा हुआ।

अेकाग्रम [६-१२, १८-७२]

जिस तरह सधम-दशक काच (Convex lens) में प्रकाशकी किरणों के द्रोभूत होकर जुनकी शक्ति घटती है महा तक कि अकाग्रा कृत किरणोंमें रती हूओ बाहद अथवा रजा अकम्म जल अुटती है अिसा तरह जब मनको अेक ही कद्रमें लाया जाता ह अकाग्र किया जाता है तब मष्टिब और मानम तरबक मनके सब रदम्य जुसके सामने अकसाय प्रगट होते ह। योगशास्त्रमें अस अकाग्र ध्यानका समय कहते ह। (ध्यान धारणा समाधि तीनाके समुच्चमक लिअ यह पारिभाषिक गब्द है।) किमी विज्ञानशास्त्रान कहा है कि अेकाग्र मनकी शक्ति Dynamite बाहदके समान है। किमी पहाडके नीच सुरग लगाया जाय तो जुसके जलनसे सारा पहाड टूट जा सकता है।

मनको अकाग्र करनकी शक्ति सिद्ध हानेक बाद जुसमें दूसरी अक शक्ति पदा हाना है जिम विकिरण शक्ति कहा जा मन्ता है। (The power of radiating in all directions from the centre)

जब मनम्यका मन भिन्न भिन्न अिन्द्रियाके माय अुनके जुन अुन विषयाने पीछ दौडता है तब अुसकी शक्ति क्षाण हाता ह। जब वही मनुष्य अपने चित्तका और अिन्द्रियाका विषयान् श्वाचकर वापम लाता है तब ध्यानकी शक्तिम मन अेकाग्र होता है। असा होनस अत करणका शक्ति भा हासित होता है।

अेकाग्र मनको अेकसाय अनेक दिगाओमें सोचनके लिअ और काय करनके लिअ हम नज सकते ह। असे ज्योति अपन किरण विन्वनी यानी सब दिगाओमें भज करता है।

ओषधी

वृक्ष वनस्पति और आपधिका भन् समझना चाहिय। ओषधि वह है जो फल, फल आदि देकर अेक वपक अदर मूल जाता है।

वम और वनस्पति दीघजीवी हाने हैं और अनेक बार फल, फूल जादि दते ह।

ॐ [८-१३, ९-१७, १७-२३, २४], प्रणव [७-८]

ॐ अेक ही अक्षर है। किन्तु अुसमें अ अु म जिन तीनाकी ध्वनि मिली हुजी है। अ वा स्थान कठ है अु वा बाण्ड है और म वा ओष्ठ और नासिका है। अिस तरह ॐ की हृदयगत ध्वनि गलेस निक्ल कर नासिका द्वारा मस्तिष्कमें धूमती है गूजती है। मत्रगास्त्रमें वताया है कि अिस अेक अक्षरमें सब गक्तिया भरी हुजी ह। गीनामें ॐ का परब्रह्मका नाम कहा है - ब्रह्मण अभिधानभूतम ॐ कारम अेना क्षरम व्याहरन' अित्यादि (८-१३)। दूसरी जगह (१७-२३ २४) कहा है कि 'ॐ तत सत' ये परब्रह्मके तीन निर्देग ह। जिनमें म ॐ का अुच्चारण करके यन दान तप आदि सब पवित्र क्रियाओं की जाती ह।

मत्रगास्त्र कहता है कि हरअेक मनके प्रारम्भमें और अन्नमें ॐ का अुच्चारण करना चाहिये। तभी मत्र गक्ति सुरक्षित रहती ह अथवा जसे छिद्रवाले वननसे पानी बह जाता है अुसी तरह मत्रकी गक्ति बह जाती है।

योगमें ॐ को जागति स्वप्न सुषुप्ति और तुरीयावस्थाका ध्यानक माना है। पौराणिक कहते ह कि ॐ में ब्रह्मा विष्णु महं तीनाका अन्तभाव होता है। वदनयीका भी ॐ द्योतक है। बदिक् कहत ह कि ॐ में सब दवनाअाना अन्तर्भाव हाता है। अिसीलिअे अुपासना-मागमें ॐ का महत्व है। ॐ का सविस्तार वणन माडुक्यमें और छांदाग्यम आया है और अुसीका विस्तार गार्ग्यायणके प्रणववादमें हुजा है (डॉ० भगवानदासकी किताब The Science of the sacred words)। ॐ का रहस्य जो जानना है वहा बंद जानता है।

ओमका असली अुपयोग 'जी हा कहनेके लिजे हाता था। अिस तरह आकार नकारका विरोधी हानेस अास्तिकताको व्यक्त करता है। ओमका ही दूसरा रूप है आम, जा तमिल भाषामें

आमा क रूपमें पाया जाता है। प्रणव आरम्भ स्वीकारे अनुमतो मगल गुभ ब्रह्मणि आम् आता है। (आम् और बुमामें भी गायत्र घनिष्ठ सत्रघ है।)

उपनिषदमें कहा है कि जब मूय आवागमें घूमता दौड़ता है तब उसमें स लट्टूके गुजनक जमी ओमकी ध्वनि निरलनी है। अप जादित्य जोम अिति हि स्वरत अति। (छान्दोग्य १-५-१) (प्रणव गव्द भी देरिय।)

करणम् [१८-१४ १८]

यायगास्त्रम् करणकी व्याख्या की है प्रष्टतमम् कारणम् करणम् — जो सर्वोत्कृष्ट कारण या साधन है अम करणम् कहत ह। गीताम अिसी अयमें करण शब्द आया है। पाच कम अिन्द्रिय पाच ज्ञान अिन्द्रिय मन और बुद्धि अिह अवसाय लेकर करण कहते ह। जो शक्ति अदरसे सब अिन्द्रियाको प्ररित करती है उसे अन्त करणम् कहते ह।

कतव्य [३-२२ १८-६] काय [३-१७ १९ ६-१ १८-५ ९ ३१] करणीय

√कृ (करण)। य तव्य अनीय अिन तीन प्रत्ययोसे घमना या योग्यताका बोध हाता है। काय कतव्य और करणीयका अय होना है करन लायक। यन दान और तप त्यागन लायक नहीं बकि करने लायक हा ह। (न त्याज्यम कायमेव तत १८-५) (कायमित्यव यकम नियतम त्रियते १८-९)।

कार्यकार्यकी भीमासाम सारा नीतिगास्त्र (घमशास्त्र) आ जाता ह। गीतान बुसीका मोक्षगास्त्र बनाया है। घमगास्त्र समाज हितका रास्ता बताता है। मो श्वास्त्र बघ-मोचनका (मक्तिका) माग बताता है।

काय गल्का कतव्य या करणीय अय हमेशा नहीं लिया जाता है। कायका अय क्रिया अयवा परिणाम अितना ही अवसर क्रिया जाता है। घम अयका योग्यता बतानक लिअ ज्यात्तर कतव्य

शब्दका अुपयोग यानी 'यवहार किया जाता है। करणीय शब्द जिसस कुछ सौम्य है।

कर्ता [३-२४, २७, १८-१४, १८, १९, २६, २७, २८]

√कृ (करणे)। करनेवालाको कर्ता कहते हैं। करनेवाला सचमुच ता भगवान ही है। किन्तु मनुष्य भूलसे अपनेका कर्ता समझता है।

कर्तारम् [४-१३, १४-१९, १८-१६]

मनुष्य भूलस अपनेका कर्ता समझता है। तात्त्विक दृष्टिसे देखा जाय ता किसी भी कमकी सिद्धिके लिये पाच कारण हाते ह। अधिष्ठान (शरीर), कर्ता करण (अिन्द्रिय-साधन), चेष्टा-कलाप और दब (१८-१३ १४, १५)। असा होते हुअे भी अचानी मनुष्य अस्कारी बुद्धिके कारण केवल अपनेको ही कर्ता समथ लेता है।

कम

गातामें यह शब्द सवत्र भरा हुआ है। अिसके स्थान 'गीता पदाय-कोष'में देख लीजिये।

अय प्राणियाकी अपेक्षा मनुष्यमें दो बातें विशेष ह — विकसित मन और अगूटेवाला हाथ। मनन करना और कम करना ये अुसके जीवनके प्रधान अग होते ह। अिसलिये कहा गया है कि ज्ञान और कम मिलकर सम्पूण जीवन होता है। जिस तरह दो पखाके विना द्विज (पक्षी) अुड नहीं सक्ते, अुमी तरह द्विज (सस्कारी लोग) पान और कमके समुच्चयके विना आध्यात्मिक गगनमें अुड नहीं सक्ते, प्रगति अुन्नति नहीं कर सकत। अिनमें भी बुद्धि कमके पीछे पीछे जाती है (बुद्धि कर्मानुसारिणी)। किन्तु पान और अनुभवकी बुद्धि ही सब कर्मोंका प्रयाजन हानेके कारण पानमें सब कम कृताय हान ह परिसमाप्त होते हैं। (सबम कर्माखिलम पाय ज्ञाने परिसमाप्यते ४-३३)

जिस तरह कम पानकी बुनियाद है। कमके द्वारा जीवन विकसित और समृद्ध हाना है। जीवन-बुद्धिके लिये भी ध्यानके साथ तपस्या रूपी कम करना आवश्यक है। कम ही जीवन है। धमका अय भी

अन्तमें कम ही है। सत्तम शुभ कमक द्वारा ही जीवन शक्ति और वृत्ताप बनता है। अताल्लिअ जीवामें अगर राग एगनकी सम्मानना और साधनकी बात हो ता यह है यर्नारम फिर।

असा दगा गया है कि कम ही जीवा हाइ हुन नी कम जगन सबस्व नहा है। जीवन-गवस्य है गामूना आत्मानुभूति। अिम आगा नुभूतिमें बहुत ह्म तब सत्तम गहायक हाता है। किन्तु यह गाय साय आत्माके लिअ बघन भी पत्न करता है। कमका यह बगवत किस तरह दूर रिया जाय यही बनानरा काम मांगगाग्रहा है। गीतान यह रास्ता अछा तरहग और पूणतया बनाया है यिमलिअ गीता जीवन-मुक्तिगास्त्ररा सर्वोच्च ग्रथ है। गीता कमपाण है जीवनयाग है अनासविन-याग है और मुक्तायाग है। कम-मासागात द्वारा ही गीता यह कह सका है।

कम गल्की गीताका व्याख्या अत्यन्त व्यापक है। भूत भावोवभवकरो विसय कमसन्नित (८-३)। विगग गल्का अर्थ है Evolution Creation

√सज् (विमर्ग) बाहर फेंकना वैन करना (वि यानी बाहर) Evolution गल्की भी ध्युत्पत्ति यही है—E=Out बाहर Volvo म फेंकता हू। जो बाहर फेंका जाता है नय नय रूपमें प्रगट किया जाता है अुसे Evolution कहत ह। अिस विगग गन्तिव गारा ही भूत मानोकी अत्पत्ति होती है। अिम विगग गन्तिवका हा गालाने कम कहा है।

कमक अिस सावभौम सामध्यस प्रभावित हायर च्म तस्वगाने कहा है— कम ही आत्मा है। भनहरि कमरा नावभौमत्प स्या वार कर कहता है—'नमस तत कमैन्मो विधिरेपि न पन्म्य प्रभवति।' यह कम प्रत्यक् मनुष्यके लिअ अुसक् स्वभावक् अनुगार निश्चिन हाता है (१८-४७)। अिम परसे ब्रह्मकम वस्यकम आदि गल् आय ह। कमबध [२-३९, ३-९ ९-२८]

कमसे ही जीवनकी सिद्धि है। कमके द्वारा ही जीवनका साधनाकार होता है। और कमके गारा ही मनुष्य कमक परे जा

ना है। अतना समझनेक वाद ही कम-बधन क्या है? जिसका महत्त्व ध्यानमें आता है।

गीता कहती है कि ममाज-कल्याणरूपी यनक लिये जो कम स्वाय भावम किया जाता है अथात् श्रीश्वरापण बुद्धिस किया जाता है अुस छाडकर चाकीक सब कम घम और अधम, गुभ और अुभ आदि भेदासे युक्त होनेके कारण आत्माका बधनमें डालन। सात्त्विक कम भी सात्त्विक बधन पैना करते ह (१४-६)। अलिजे बधनका स्वरूप सूभ बुद्धिसे समझना चाहिये।

जब मनुष्य कम करता है तब म अुमना कर्ता हू असा अहकार ममें पैना हाता है। यह बडा ही कठिन बधन है। प्रत्येक कम कुठ कुछ फल ता दगा ही। फलका मोचे विना कम करना पागलाका म है। जो कम करेगा अुमका अुस कमक फलक अूपर कुछ आगिक धेकार अवश्य रहता ही है। किन्तु वह अधिकार ही बधन पदा रता है। असलिये मोक्षार्थीका चाहिये कि कमफलक अूपर अुसका कुठ भी कमावेग अधिकार हा अुस वह छोड द। अस तरह अहता र ममता छोड देनेकी वक्तिका ही अनासक्ति कहते है। अहता और ममता ही आसक्ति है और अमी आसक्ति ही बधन है।

जब हम कोयी गुभ या अगुभ कम करत ह तब हम अकेले अुमे र कर सकन अुसमें अनेक तत्त्वाका सह्याग रहता है असलिये ममें हरअेक तत्त्वका अमर और अधिकार रहता है। हम अकल भी भा कता नहीं हो सकत। दूसरी बात यह है कि कमका फल मा हम चाहते ह वसा रूप भी धारण नही कर सकता है। अने अपने हिस्सेका कम किया किन्तु फल तो अनेक तत्त्वाके हाथमें हा, फल निष्पत्तिका प्रवाह हमारे हाथमें नही है।

जब यदच्छया जो कुछ भी फल पैना हुआ वह तो अस्थायी अमगुर और असार है। अुममें स हमारा हिम्मा अल्पमात्र है। वह ल मिग भा तो अुमका सदुपयाग करना हमस बहुत कम होता है और फलका गलच रखकर हम बहुत ही बडे बधनमें आ फमत। अिमलिये गीता कहती है कि वृपणा फलहेतव (२-४९)।

फलका हेतु या लोभ रखनेवाले कृपापात्र होते हैं। थोड़ेसे लाभके लिये बहुत बड़ी हानि मोल लेते हैं। गीताना उपदेश है कि 'कमफलहेतुर्भू' (२-४७) अर्थात् कमफलहेतु मत बनो। कमफलकी अिच्छा या लाभ (हेतु) रखनेवाला न बन। कमफलकी आसक्ति छोड़ दो। कमफलासगम (४-२०) छोड़नसे कम करते हैं भा मनुष्य कमरहित बनता है।

कमयोग [३-३, ७, ५-२, १३-२४]

योग और सयास अिन दो शब्दोंका विवरण अुनके स्थाना पर दलिय। कम शब्दका विवरण अूपर आ ही गया है। अुसे भा फिरसे देखना अच्छा हाग।

पुराने धमग्रथामें कही कही कम शब्दका अथ वदमें बताया हुआ यनयागादि क्रिया-कलाप या विधि विधान होता है जिसे कमकाण्ड या Ritual कहत हैं। स्वग प्राप्तिके लिये हाग-द्वन करना चाहिय पाप धोनेके लिये या कामना सिद्धिके लिये जप जाप्य चलाना चाहिय अस विधाससे जो काम्य कम क्रिय जाते हैं वे ही कम हैं। जैसे कर्मोंका पान-भागियान निषध क्रिया है। हाग-द्वन करनेसे और पनुआकी बलि देनेसे स्वगकी प्राप्ति नहीं होती असा तो जानियान साप कहा नहीं किन्तु अस सकाम कम करना तुच्छ प्रवृत्ति है स्वर्गादि फल भी तुच्छ हैं असा हा कहकर लोगका निवृत्त करनकी कोशिश की है। गीतामें जिस कमयोगका उपदेश है वह Ritual या धार्मिक विधियाको लकर नहीं है। गीता कहती है कि कमके बिना जीना ही अगम्य है (३-८)। समाज धमके अनुमार जो कुछ भी स्वधम कम निश्चित हो वही कम सोचनकी बात है। शिक्षा द्वारा जानकी जपासना करना और आचरणके द्वारा जानका प्रचार करना लागको समागमें प्रवृत्त करना दगाका रक्षण करना दुबलाको अनायात्रा और अजनाका जवरत्नास और दुराचारियास वचाना सज्जनाक लिये सब तरहकी सुविधायें पना कर दना मनष्य हिनक लिये आवश्यक चीजें पना करना और सब लोगा तक अट पहुँचा दना मनुष्यक आश्रित पना-पणियाका रक्षण और पालन करना आसमानी और मुत्ताना

आपत्तियाँ समाजको बंधाना बृद्ध, व्याधित, अनाथ और बालकाकी परिश्रम करना साहित्य, संगीत और कलादिका विकास और प्रचार करना श्रीश्वर भक्तिका और मोक्ष-भागका रास्ता साफ करके सब-सुलभ बना देना अित्यादि जो हितकर काम हैं जिनके द्वारा व्यक्तिका विकास होता है और समाज प्रगति करता है, अस कामोंका जो शास्त्र है और बुसकी जीवन-कला है वही कमयोग है। ये सब काम हम जिस तरहसे कर जिससे सबका भला हो और हम बंधनमें न आ पड़ें जिसीकी तरकीब बतानका काम कमयोगका है।

कम-बंधनका जो अितना डर बनाया है बुसके दो कारण हैं (१) कम-बंधनके कारण हमारा मोक्षका रास्ता रुक जाता है (२) कमके बंधनमें फसनेसे मनुष्यका कमकौशल भी बिगड़ जाता है और बुसके कम पूरा तरहसे समाजहितकारी नहीं बनते। सबभूतहिते रत रहनेके लिये जो विश्वात्मक्य चाहिये वह हम सा बँठते हैं। बिन्दके साथ तादात्म्य रखते हुअे बुसके साथ तादम्य रखनेकी योग-युक्ति हम खो बैठते हैं। फलतः सेवा करते हमारे हाथा असवा हो जाती है। मवाल हल करनेकी जगत् हम नये और जटिल सवाल पदा करते हैं।

दोना दृष्टियाने कमबंध मानके लिये बाधक होता है। व्यक्तिका मोक्ष और समाजका मोक्ष दाना स्वतरेमें आते हैं।

कमसंयास [४-४१, ५-२, १८-७]

कम किये बिना हम जी नहीं सकते हैं। कमके द्वारा ही जीवाकी सफलता है किंतु कम ही बंधन पदा करता है। कमके त्यागके बिना मुक्ति नहीं। असो विषम स्थितिमें जीवकी साधना किस प्रकार की जाय यह सबने बड़ी समस्या है। अिसमें राम्ना ता अेक ही है किन्तु स्वभावकी विशेषताके कारण दो प्रकारके लाग दो तरहमें जिस अिलाजका अमर्गमें लाग है। जो लाग जान प्रवीण या जान परायण हाने हैं व कमस कम कम करके अपना काम चलाते हैं और जो लोग कम-भरायण हैं वे कमके द्वारा ही जानका साधना करके कमस मुक्ति पाते हैं। जानी चित्तव कम-भयामी हाने हैं

मवा-परायण लोग कमयोगी माने ह । जिस तरह दोनारा प्रस्थान भिन्न है किंतु दोनारी साधना पूरी होन पर नाममार्गी और कममार्गी एक ही स्थान पर पहुचते ह (५-५) । जितना ही नहीं किंतु दोनारा स्वरूप भी एक ही हो जाता है ।

पानियाका कम मानसिक होता है चिन्तन रूप होता है । कम यागियाका भी साधना ब्रह्म पर जनक भी चिन्तनमें असाधारण कम गक्ति जाती है । कमका अन्तिम बुद्धेय मवभूताका हित है । अगर हम गरासर किमीना हित करन जाते ह तो अक्का भंग करते दूसर कितीका कुछ न कुछ नुससान हो ही जाना है । जब हम 'सवभूतात्मभूतात्मा' बनत ह विवात्म्यक्य तक पहुचते ह तब शरीरसे नहीं किंतु केवल चिन्तनसे मानसिक मरुत्पसे सबकी गद्व सेवा कर सकत ह और जिन तरह कमयोगके द्वारा कम-सयास तक पहुच जाते ह ।

कल्याणकृत [६-४०]

कल्याणवृत्तका जय होता है कल्याण करनवाला गुम हेतुन सवमनाक हितामें जो रत ह वे ही कल्याणवृत्त ह । कल्याण गद्व केव सुखवाती नहीं है सबका जिसमें हित है जहिक और पार लौकिन उत्तप है वही करयाण है । कल्याणो धम्मो (धम सभीका कल्याण करनवाग होता है) । कल्याणका असली अथ है नीरोगी स्वम्य आराग्यजन कापम्भम जानन्नापर । जिस परसे कल्याणका विगप जय हाना है मोभाग्यवक्त धय सुत्तर हितकर भुत्कपयुक्त भाग्य गागे गुणात्थ । जा मनुष्य किती अक पक्षका नहीं किन्तु सभीका जाल्पनिक कल्याण चान्ता है और वही करनका प्रयत्न करता है बुद्धकी कभा भी दुगति नहीं हो सकती ।

कवि [४-१६ ८-९ १०-३७, १८-२]

कवि गानमें कव धातु है जिसका जय किया है स्तुती वणने व । ना स्तुति करता है या वणन करता है वह कवि यहा आजकलका अथ है । प्राचान कानमें कविरा अथ होता था तानी बुद्धिमान

चतुर, मवन क्रान्तदर्शी। गीतामे जुसका अय होता है मघावी सवन पडित। श्रीश्वरका कवि भी कहा है।

कामधुक् [१०-२८, ३-१०]

✓कम (कान्तौ) चाहना।

कामका अय हाता है अिच्छा, वासना।

✓दुह (प्रपूरणे) दूध देना। सामाय गायें अपने बछडेका और दुहनेवाका कवल दूध ही देती ह, किन्तु स्वगकी कामधेनु अुसका सवा करनेवालेका वह जो चाहता है मव देती है, अुमकी सब अिच्छायें तप्त करती है अिसल्लिजे अुसको कामधुक कहते है। [कामधेनु, कल्प वथ और चिन्तामणि तीनाका अेकसा ही काय है। अलादीनका दिया' भी वही काम करता था।] अपनी विभूतियाका विस्तार करने हुजे भगवानने कहा है कि धेनुअामें म अिष्टफल देनेवागी कामधेनु हू (१०-२८)। किन्तु गीताकी असली कामधेनु तो यन ही है। प्रजापतिने प्रजाको पटा करके जुसका यज्ञ धम दे दिया और कहा कि अिस धमके अनुसार अपनी वद्धि साध लो। यन ही तुम्हारी कामधेनु है [२-१०]। विस्तारके लिअे यन शब्द ँविये।

कामरागबलाविता [१७-५], कामरागविवर्जितम [७-११]

मनुष्यमें जा सबश्रेष्ठ और स्थायी बल है वह आत्मबल ही है। शरीरबल सत्याबल या जसा हां दूमरा बल आत्मबलके सामने तुच्छ है। किन्तु आत्मबल हवाके दबावके समान सबव्यापी और मव-समय होत हुजे भा स्पष्ट रूपसे अनुभवमें नहीं आता। कामना और अनुरागका बल अस्थायी भले हो किन्तु बाडके घलके समान जोरास आता है, कभा कभी बडा विनाग भी कर सकता है। जिन लागाकी श्रद्धा आसुरी है व काम यानी वासना और राग यानी आमक्ति जिन दोनाके द्वारा ही बल पाते ह और बडे बडे काम कर डालते ह। यह व अामत्राजिका माधनामें पोषक नहीं होता।

दवी सपत् कामरागविवर्जित हानी है। आसुरी सपन कामराग बलावित हानी है।

काम [२-५५, ६२, ७१, ३-३७, ७-११, १६-२१]
 कामात्मा [२-४३], कामोपभोगपरमा [१६-११]

चार पुरुषायके विवरणमें काम का ही आ ही गया है। जो जीर
 देही मिलकर जीवयानि हाती है। शरीर और आत्मा परस्पर विरुद्ध
 धर्मो होते हुए भी दोनोंका सहयोग जलड चरता है। अिसमें तबका
 विचाव जिद्रिय-मुखकी ओर रहता है और वह जड तत्वकी अपासना
 करता है। आत्माका विचाव मोक्षकी ओर रहता है और उसमें
 चतयकी अुपासना रहती है। जिद्रिय-मुखकी ओर जा विचाव रहता
 है अुसे काम कहत ह। देहधारी कामके विचावक बिना रह नहीं सक्ता
 अिसलिअ मनु भगवानने कहा है—हालाकि “कामात्मता न प्रगस्ता।”
 तो भी “न च अब जिह जिस्ति अकामता”। यह बडा अनुभव
 बताकर फिर कामात्मताको वानुमें लानके लिअ जीर गुभ माग पर ले
 जानके लिअ अन्हान सारा धमगास्त्र अपदेगा है। धमगास्त्रकी
 सहायतास काम पर विजय पाकर मोभमागना प्रारम्भ किया
 जाता है। जो मनुष्य कामके ही वसा रहता है जसे कामात्मा कहत
 ह क्याकि वह कामापभोगको अर्थात विपयोपभोगको सबसे थच्छ चाज
 मानता ह (१६-११)। गाताको धमका अविरोधी काम माय है
 (७-११)।

कामरूप शब्दमें कामका अय है जिस क्षण जसी अिच्छा हो
 वसा आकार धारण करनकी शक्ति।

काम्य [१८-२]

काम्यका अय हाता है काम प्ररित यानी कामताकी प्ररणास किया
 हुआ। कर्मोके दो विभाग हात ह। धम्य कम और काम्य कम। यन
 दान तप आदि समाज हितके जात्मोन्नति-कारक कम धम्य कम ह।
 अनका त्याग करना अनुचित हागा। जो कम स्वार्थी वृत्तिसे अपना
 काओ लाभ दक्कर किया जाता है वह काम्य कम है। अुसस अनक
 क्षण्ट पदा हाती ह और मनुष्यकी सबलोक हित करनकी शक्ति अुसस
 क्षीण होनी है। अिसी दोषको कमवध कहा है।

मनुस्मृतिने प्रनात्पादनके बारेमें भी यही भेद बनाया है। प्रानान्तु अविच्छिन्न चलानेके लिये कुल-परम्पराका अविच्छिन्न रखनेके लिये जा जेक पुत्रका जन्म लिया जाता है जुने धर्म्य कहत ह। जुनके बाद जा सतानात्पत्ति की जाती है वह कामक बना हाकर की जाती ह। जिमलिये अने काम्य कहत ह। धर्मज और कामज ये विभाषण सततिको असा दष्टिम लगाये जान है। (मनु० १-१४२) प्रथम पुत्रकी अत्युत्तिक पीछे धर्मकी आता है कि अमक वात् पुत्रात्पत्ति करना या न करना काम्य यानी optional है। गानाने युद्धके भा धर्म्य और अधर्म्य जैसे भेद किये ह।

कायकलेदाभय [१८-८]

शरीरका तक्लीफ़ बुठानी होगी कष्ट होगा, दुख हागा जिन डरसे कमका छाड देना रजागुणी त्याग है। (अम त्यागस त्यागका फल नहीं मिलता।) कमका जा त्याग बनाया है वह पानपूवक हाना चाहिये। शरीरका आराम देनेकी नीयतम या कष्टके डरम कायर बनकर कमका छाड देना काभी कम-अयाम नहीं है। अस त्यागम मात्र मिलनवाला नहीं है। जिन लागामें कम-कुशलताका अभाव है जिनका अल्माह धाण है निर्बोयताक कारण जा एक-सं गय ह असे लाग कमका सात्त्विक स दास पढत ह। अमी म्यतिक घ्यानमें रखकर ही टीकाकार कहत ह — 'असमर्थो भवेत् साधु', जा दुबल है वह साधुका भूमिका धारण करके अपनी दुबलताका छिपा सकता है।

कापण्यदोष [२-७], कृपण [२-४९]

'अुत्तररामचरित में वचन है 'पाल्याच्च कृपणा प्रजा ।' प्रजा तो बेचारी दान है कृपापात्र है (कृपण है) अमुकी रक्षा करनी चाहिये। अस वचनमें कृपण गल्लका प्रयाग मामूली कजूमक अर्थमें नहीं है। कृपण यानी कृपापात्र अितना ही अर्थ है।

काजी मनुष्य मकटमें पटा हा जोर आयोचित धीरान्त प्रतिम मकटका वरगान नहीं कर सकता हा, तो मन्त्र नग अमुका दानता देगकर अमुके प्रति दयाग बनत ह कृपाग बनत है। आयवतिक गग

कभी भी देना दया पात्र बनाना पगल नहीं करत। व म
ह नि दया और कृपा ता निरन्तर ही गज्जालित स्वल्प है।
मनुष्य कृपात्रा पात्र बननेके अति तयार है अथवा औरत प्रति कृ
भावम भरा हुआ है यह आत कल्पयथा टीक टीक नहीं मगपाता।
भारतीय मुडक प्रारम्भमें प्रतिपाप्यामें स्वजात्रा और गुरुनता
एतन्न जजनक मनमें दया और कृपा पैदा हुआ और अगता निचर
स्वभाव पायम न रहा अिगीअ व भगवानरा कथा है कि का
प्यापक कारण मेरा स्वभाव त्व गया है म आन काव्यरो नहीं
य कर पाता म धमगमूढ बना हू। अिगीअ भरा निश्चित धम करा
है जाय ही बतायिय।

यदि पात्री डॉक्टर गम्त्र क्रिया करत ममय रागीता विना
दुःख पागा अिस खयात्स जस्वस्थ हागा तो अगता हाय ढाका पागा
जीर जगकी गम्त्र क्रिया अगपल हागी रोगीना दुःख बड़गा और
पायल अमकी मृत्यु भा हागी। यही डॉक्टर यागयान रहतर अगता
काम मफाअीस करगा ता रागारो लाभ हागा जीर कल भी कम हागा।
जा अन्तरणाम हम ममय मवते ह कि कृपणता या त्यागता किम
तरण ताय रूप बनती है।

कृपण यानी कृपापात्र जिस अथवा प्रयोग कृपणा फलहेतव
(२-६०) अिम गीता-वचनमें भी आया है। जो ताय कथा लोभ
मनमें रखते ह वे दयापात्र ह कृपण ह अर्थात् मुछ ह।

कार्याकाय व्यवस्थिति [१६-२४]

कार्याकाय-व्यवस्थितता जय हाता है नीतिगाम्त्र मन्त्राचारवा
गाम्त्र — Ethics। अपनियदमें अिसीको कमविचिकित्ता अथवा वृत्त
विचिकित्ता कहा है। अिगीका धमगाम्त्र भी कहते ह। जीवनमें ममय
पर बना करना योग्य है क्या करना अयोग्य है अिसरा निणय
करनमें कठिनाअी जाती है जिसलिअ बार-बार धमगाम्त्र अथवा
जाचारगाम्त्रक पास जाना पडता है। यदि आचार जचित रहा तो
मनुष्यना गौरव बढता है। अगर आचार अनचित हुआ तो अक्षमें
रुधना जाती है — अचितानुचिताचार वश्य गौरव-लाधवे। मनुष्य

अज्ञान और वासनामें डबा हुआ हानेके कारण किम समय क्या करना योग्य है अिमका निणय नहीं कर सकता है। जिसलिअे अुस नाना पभपानरहित और वामनामुक्त मनुष्यके पास जाकर पूछना पडता है। (सस्कृतम जैसे मनुष्यका आप्त कहत ह। आप्त यानी विश्वानपान।) असा नानी मत्पुरुष सारी परिस्थितिका समबकर सबहितकी दष्टिस जो निणय ळता है अुसे शास्त्र कहत है। [मत्पुरुषाके पुराने वचन जादराह जोर सोचने लायक होते ह महा विन्तु वे प्रमाणरूप नहीं माने जा सकत। धम निणय हमशा जीवन-तत्त्वका और परिस्थितिका विचार करक दिया जाता है। अेक परिस्थितिका निणय दूसरी परिस्थितिमें लागू नहा हा सकता। जिमीलिअे जीवित जोर अुपस्थित नाना सताकी राय समय समय पर लेनी पडती है। असा नहीं हाता तो विवादोका निणय करनेक लिअे 'यायाधीनकी नियुक्ति नहीं की जाती। काननके हाते हुअे भी न्यायाधाकी आवश्यकता रहती है और 'यायाधोशका निणय ही अन्तिम निणय गिना जाता है।] जब गीताने कहा कि कार्याकाय-भ्यवस्थितिमें शास्त्रका ही प्रमाण मानना चाहिये तब गीताने शास्त्र-ग्रन्थाका प्रमाण माननको सिफारिश नहीं की है विन्तु धमको जाननेवाले नानी तटस्थ जोर लोक हित विन्तक कारुण्यमूर्ति सत्पुरुषाकी सलाहको प्रमाण माना है, और अुसीका शास्त्र कहा है। सीनोपनिपदका वचन है— धमशास्त्रम महर्षीणाम अन्त-करणसभतम। धमशास्त्र समाज-कल्याण चिन्तक महर्षि याके अन्त करणमें जमता है। अिसी सिलमिलेमें शास्त्र शल भी देखना चाहिये।

काल [१०-३०, ३३, ११-३२], कालेन [४-२, ३८]

√कल (गब्द-सख्यानया, गती, मख्याने क्षेपे च) आवाज करना जाना गिनना फेंकना।

आधुनिक वनानिक कहते हैं कि हरअेक वस्तुके चार तत्त्व (dimensions) होत ह। लम्बाओ चौडाओ गहराओ जोर का- अथवा सतति। अेक ही विन्दुको चार तरहमें ताननेम (√तन-तानना।) सततम् सतति अथवा Continuum वनता है। अिस मततिम का- सबसे महत्त्वका तत्त्व है। काल काओ जड तत्त्व नहा है। असकी गकि

अनन्त है। वस्तु अवस्तु और अथवा वस्तु गति कालकी ही है। विज्ञान जिस Evolution अन्तर्गत अथवा विकास कहता है वह काल ही है। कालकी ही वह शक्ति है। जिसमें अतड परिवर्तन चलता रहता है और परिवर्तनका अर्थ है एक रूपका क्षय और दूसरे रूपका भुत्त्य। जब युगांतरका समय जाता है तब य काल भगवान पुरानी लान यवस्थाका सहार क्षय अथवा समाहार करनेक लिख प्रवृत्त हात ह और जुसक काल विद्वका गति त्वर फिरस नयी सृष्टिका प्रारम्भ करते ह।

अिमी कालक बलसे मानव-जातिमें पानका भुत्त्य भी हाता है और जसका लोप भी होता है। चौथ अध्यापमें भगवान कहते ह कि राजयोगकी परम्परा कालबलसे नष्ट हुअी (४-२)। अुसी योगका श्रीदृष्टानन फिरस प्रव्रतन किया। अिम योगके सिद्ध होन पर बुन्दी काल भगवानकी सहायताम मनुष्यको पानप्राप्ति होती है। [आधुनिक विद्वान जिस लम्बाअी चौगाअी और गहराअी कहते ह अुसीका हमारे गाल्यकार लिक् दिशा (Space) कहते ह। सृष्टिकी सब चीज देग मालस अवच्छिन रहती ह। जिसलिज जहे सततम (यानी Continuum) का नाम लिया है।

कीर्ति [१-११ १०-३४]

✓कत (मश'दन) = विसीक वारेमें अच्छा कहना। सदाचार दान या पराक्रमके कारण लाग किमीकी जो स्तुति करते ह वह अुस जाग्रीकी कीर्ति है। मनुष्य जसी कीर्ति पानके लिख चाहे सो कए जगनको खतरा माल लेनको और मरनको भी तयार होता है। मनुष्य जावन सामाजिक है। मनुष्यका समाज निरपेक्ष व्यक्तिगत जीवन अपूण है अत्यल्प है। मनुष्य जीवनका समाधान आत्मन तुष्टि पर निभर रहना चाहिय। लेकिन मनुष्य अपन समाजके अभिप्रायको स्वमतापस भी ज्यादा महत्व दता है। बुरा कम करते मनुष्यका अदरसे ही लज्जा त्रपा होनी चाहिये। लेकिन कअी वार मनुष्य अमी जातरिक त्रपाम नही किंतु लोगामें बुरा दीस पडगा समाजकी जोरस मिलनवाला बहुमान खो बठना पडगा जिस डरसे

पापनिवृत्त होता है। मनुष्यकी घमञ्जुद्धि कुछ हद तक अुसके हृदयमें रहती है और ज्यादातर सामाजिक प्रतिष्ठाका रूप लेती है। जिस सामाजिक प्रतिष्ठाके हिस्सेको भी कीर्ति कहते ह। अंग्रेजीमें Self respect शब्द है। अुसका असली अर्थ है अपने हृदयका अच्छा अभिप्राय। लेकिन मनुष्य Social respect, सामाजिक प्रतिष्ठाका ही Self respect मान बैठता है। मनुष्यका जो चरित्र्य है सत्त है, या सत् है अुसीका सच्चा महत्त्व है। अुसके बाह्य यानी समाज माय रूपको कीर्ति कहत ह। चरित्र्य या सत्तको हम शिम्ब कहे तो कीर्ति अुसका प्रतिबिम्ब है। मामाया मनुष्य बिम्बसे भी प्रतिबिम्बका खयाल अधिक रखना है। यह सब जानकर भगवानने युद्धनिवृत्त होनेवाले अजुतको प्रथम कीर्ति खोनेका डर दिखाया और कहा कि जो सभावित हाते ह समाजमाय हाते ह, वे अकीर्तिका मौनमे भी बदतर मानते हैं।

कुलधर्म [१-३८, ३९, ४०, ४१, ४२, ४३, ४४, ६-४२]

√कुल = अिकटठा करना, रिश्ता हाना। जो तत्त्व अनेक व्यक्तियोंको परस्पर सम्बन्धके द्वारा अेकत्र लानेका और बाधनेका काम करता है अुस कुल कहत ह। कुलका अर्थ हाता है परिवार, कुटुम्ब खानदान, धराना समुदाय टोली, देश छात्र-समुदाय, शिक्षा-संस्था अथवा वणिक् सघ। कुलीनका अर्थ हाता है अच्छे कुलमें जिसका जन्म हुआ हा असा व्यक्ति। कुलका अेक अर्थ होता है वारह बँल जात सकें अमा बडा येत। कुलस्त्री यानी पतिव्रता और कुलहितकारिणी स्त्री। कुलशय यानी कुलका नाग। कुलधन यानी कुलका नाग करनेवाला। गुरुकुलका अर्थ हाता है जसी शिक्षा-संस्था जिसमें गुरु और शिष्य साथ खान पीते ह और रहते ह। कुलपति होता था दस हजार विद्याधियाका खान पानादि देकर पालनवाला शिक्षा-गुरु अथवा आचार्य।

जिन लोगका परस्पर सवध अत्यन्त घनिष्ठ होता है और जिनका जीवन अधिकांश रूपसे आतप्रात रहता है अुनकी समष्टिका कुल बनता है। पति, पत्नी, बालबच्चे और अुनका विस्तार ये सब मिलकर अेक कुल अथवा कुटुम्ब होता है। कुदरती अथवा मानवी

जीवनकी यह आदिम सनातन सस्था है। इसकी उत्पत्ति प्रकृतिमें अथवा मानवी स्वभावमें स्थित होना सम्भूत है। राजकाय या सामाजिक विप्लव हान पर और सब सस्थाय टूटन पर भी यह सस्था अटूट पायी गयी है। जिन स्वभाव धर्मोंके कारण यह सस्था जीवित रहती है और पुनरुत्थित करती है अह कुल धर्म कहत ह। जिन कुल धर्मोंको गीतान गारुडत कहा ह—(१-४३)। यह कुल रूपी सस्था मूलभूत और सनातन होनेके कारण अमीकी सुस्थिति पर समाजकी और समाजगत जयाय सस्थाआकी सुस्थिति निर्भर है।

पति-पत्नीकी परस्पर निष्ठा माता पिताआका अपत्य वात्सल्य और अपत्याका माता पिताआके प्रति जात्र और सब कुटुम्बिकाकी कुल रीतिके प्रति कुल धर्मोंके प्रति अथवा खानदानकी श्रवण प्रति निष्ठा अिन पर कुलकी सुस्थिति आधार रखती है। अिमलिअ ये सब स्वभाव-गुण सामाजिक सदगणाकी बुनियाद ह। अिन गुणाका जो नाश करता है वह कुलघ्न है। उसे समाज गन्तुके लिअ अन्तिम स्थिति नरक ही है। (१-४४)।

परस्पर दण्ड निष्ठा वतय-बुद्धि अुत्तरदायित्वका भान वात्सल्य भानभाव वृत्तता स्वायत्याग बलिदानकी तयारी और आतिथ्यशीलता अितन गुणाना सबधन जिस कुटुम्बमें हो सकता है वही सच्चा कुटुम्ब है और अुसाक लोग कुलीन ह।

त्यजत स्वायम कुलस्यार्थे धामस्यार्थे कुलम त्यजत ।
धामम जनपदस्यार्थे धर्मार्थे पथिवीम त्यजत ॥

यही बलिदानकी रीति है। यही हा सकता है जीवन धर्म।

मानव-समाजका अतिहास दग्धनम पता चन्ता है कि मनुष्यन अपन कयापके अिअ तरह तरहकी जीवन-व्यवस्थाओं बनाया ह। यानी समाज रचना अक ही प्रकारकी नहीं हानी। अक प्रकारका समाज भी हमारा वमा ही नहा रहता है। समाजके कभी प्रकार अत्यन्त अिअ और दूर किन्तु अम समाजका मूल घटक आमानीम नहीं टटता घट है कुल। कुलकी उत्पत्ति प्राकृतिक है स्वभावनिष्ठ है। पति-पत्नी गृहजावनक वापमद्वयमें बच्चाका जन देकर मा-बाप

बनने ह और माता पिता तथा छोटे बच्चे अेकत्रित रहत है, यही असली कुल है। यह कुल छोटा हा या बडा वह समाजकी जिवाजी अयवा घटक है। अगर किसी कारण समाज टूट गया किन्तु युसवे कुल कायम रह तो महती विनष्टि नहीं हाती है। समाजकी फिरसे स्थापना हो सकती है। अगर कुल नष्ट हुआ तो मानवता ही नष्ट हुआ, जिसीलिअे कुल धम ममालनेका महत्त्व अितना बडा बताया है। कुल धमका नाग हुआ कुल-क्षय हुआ तो असा अधम बढता है कि अुसका मुकाबला करना मनुष्य-शक्तिवे परे हा जाता है।

कुल रूपी सस्याके अन्दर ही रहनेकी वृत्ति मनुष्य-स्वभावमें दृढ़ है। जिसीलिअे कुल धर्मोको शास्वत (१-४३) और सनातन (१-४०) कहा है और जिसीलिअे असे कुल धमका अुच्छेद करनेवाल्का नरकवास नियत है असा भी कहा है (१-४३)।

धारणात धमम अिति आह — *That which holds together is Dharma* धर्मो धारयते प्रजा। लोकाको अेकत्र लाने रखनेकी शक्ति धमकी है। (कायदा, कानून राजा सरकार ये सब अिस असली समाज धमक सगठनके लिअे बादमें पदा हुअे ह। व्यापक और सावभौम समाज धमकी शक्तिसे ही वे चलते और टिकते ह।)

पति-मत्नीकी अेक-दूसरेक प्रति निष्ठा अपने बच्चाके प्रति वात्मल्य और बच्चाका अपने मा-बापके प्रति पूज्य भाव पूवजाका वृत्तमतापूवक स्मरण और वशपरम्परागत चलती आयी कुलरीतिका कम-अधिक अभुण्ण रखनेका आग्रह यानी टेक और प्रजानन्तुका व्यवच्छेद न हो जाय जिसकी चिन्ता तथा कुटुम्बके द्वारा व्यापक समाजकी सेवा करनेके कतव्यका स्वीकार—ये सब मिलकर कुलधम बनता है। जिसीके पालनके लिअे पंच महायनका विधान है।

सब-कल्याणकारी मनुष्यका विकास अेक जन्ममें पूरा न हुआ तो दूसरे जन्ममें होता है यह बताते हुअे गीताने यह नहीं कहा कि कल्याणकारी व्यक्तिका पुनजन्म अुच्च वर्गमें हाता है लेकिन शुचि श्रीमत अयवा योगीके कुलमें ही हाता है। वर्णोका सकर और नाश होना जितना आसान है अुतना कुलका नाग आसान नहीं है।

संभवतः अिसीलिज गीतान पुनजमना सबध वणने साथ न बताते
 हुआ कुल्के साथ बताया है।

कूटस्थ [६-८, १२-३, १५-१६]

कूटका अय होता है अूची जगह गिगर। कूटस्थ यानी सर्वोच्च
 जगह पर स्थित। परब्रह्मको कूटस्थ कहते हैं क्योंकि वह सर्वापरि
 है स्थिर है अलिप्त है। अुसीको अक्षर भी कहते हैं।
 जो अक्षर है कूटस्थ है वह राजाके समान पशपात रहित रहता
 है सबभूत हिते रत रहता है और अिसीलिज अलिप्त भी रहता है।

कृतकृत्य [१५-२०]

कृतम् कृत्यम् कतयम् यन स कृतकृत्य। जिसन अपने सब
 कनव्योना पूणतया पालन किया है अुसे कृतकृत्य कहते हैं। अानसे
 रहित होकर जो मनुष्य भगवानको पूणरूपसे जानता है वह सबज्ञ हो
 है और भगवानको जानना ही अुसकी शरण जाना है। भगवानक
 जानना अुसकी शरण जाना और अुसकी भक्ति करना अिन तीनां
 कोअी फक ही नहीं है। यह रहस्य सिद्धान्त जो कोअी जानता है अुसके
 सब कतव्य आप ही आप पूण होते हैं। वह तुरत ही जीवनकी पूणता
 प्राप्त करता है। अुसका जीवन सफल होता है।

दुनियामें असे कितन लोग हाग जो कह सकें कि म कृत
 कृत्य हुआ हूँ ?

कृतनिश्चय [२-३७]

कृतनिश्चयका अय हाता है—असा मनुष्य जिसन अपना कोअी
 निश्चय किया है। जीवनमें अक्सर पाया गया है कि लोग पूण
 सकल्पस काम नहीं करत। कही चित्तका पूरा सहकार नहीं होता
 है कहां किय जानवाले कमकी योग्यताके बारेमें मनमें सन्देह रहता
 है कही मुहूर्तके बारेमें शका रहती है और कही ता हम लाचारीसे
 काम करना पडता है।

जब कमको याम्यताका सदेह नहीं रहता और तन-मन प्राणसे निरचय किया जाता है, तब कहते हैं कि मनुष्यने कृतनिश्चय होकर काम किया है। अस कमके ही अुत्तम फल मिलते हैं।

वृत्तान्ते [१८-१३]

वृत्तान्तके अनेक अय हैं। वृत्त कमका जिसके द्वारा अन्त होता है वह वृत्तान्त है। वृत्तान्तका अय देव भी होता है। सिद्धान्तके अयमें भी वृत्तान्त गब्द आता है।

तब भी हम जिसमें अेक अपयुक्त फक कर सकत हैं। भूमितिमें problems और theorems असे दो भेद हात हैं। Problem के अन्तमें Q E F (जा बनाना या) लिखा जाता ह। Theorem के अन्तमें Q E D (जो सिद्ध करना या) असा गब्द आता है। जिसी परस theorem के लिअे सिद्धान्त' गब्द (अिति सिद्धम् — Q E D) रखा है और problem के लिअे 'वृत्तान्त' (अिति वृत्तम्) यह गब्द रखा गया है।

गीतामें वृत्तान्त शब्द सांख्यशास्त्रके अयमें आया है। सांख्यशास्त्रमें वृत्तका यानी कमका अन्त अर्यान् परिसमाप्ति हा जाती है जिसलिअे सांख्यका वृत्तान्त कहते हैं।

यमको भी वृत्तान्त कहते हैं।

कृत्स्न, अकृत्स्नविद्, कृत्स्नविद्, कृत्स्नकर्मकृत्

वृत्स्नका अय होता है मपूण अगेप अन्विल जिसका कुछ हिस्सा रह नहीं गया। जो अेकागी नहीं है, सर्वांगी है वह है कृत्स्न।
 √कृत (वष्टने) = धेरना लपटना।

गीताका कृत्स्न दृष्टि पसद है। हरअेक चीजका सपूणतया विचार करना अध्ययन करना यही गीताका पसद है। अनानी लोकाका गीताने 'अकृत्स्नविद्' कहा है (३-२९)। कृत्स्न विगेपण नीचेके गब्दके साथ आया है

कुल, ब्रह्म अध्यात्म भूतग्राम, अिद जगन् सचराचर जगन् लोक, क्षेत्र।

ज्ञानके साथ भी वृत्तन आता है—वृत्तनविद अकृत्तनविद
 अित्यादि। कात्स्न्येन वा जथ होता है अशपतया सपूणतया।
कृत्तनविद [३-२९]

कृत्तन यानी सब कुछ। सब कुछ जाननेवालेको कृत्तनविद कहते
 हैं। यो तो भगवान ही कृत्तनविद होते हैं (४-५) किंतु सापथ दृष्टिसे
 किसी भी परिस्थितिमें जो मनुष्य मतलबकी सब बातें जानता है
 जैसे भी कृत्तनविद कहते हैं। अिस्लामके पगम्बरन कहा है कि भवि
 प्यमें क्या होनवाला है उसकी जानकारी सिर्फ खुदाका ही है। कल
 क्या होगा अिसका जिल्म सुत्तान न अपन फरिश्ताको दिया है न किसी
 पगम्बरको।

केवल परमेश्वर ही कृत्तनविद है किंतु नानी पुरप हर
 बातका रहस्य जानता है काय-कारण भाव समझता है अिसलिअ उसे
 कृत्तनविद कहा है। अिसी सिलसिलेमें गीताका सातव अध्यायका पहला
 श्लोक देखना चाहिय। वहा भगवान कहते हैं कि मुझमें ध्यान लगाकर
 योगमुक्त होकर तुम मुझे किस तरह पूणतया और नि सग्य जान सकोगे
 सो मुनो—जिसका ज्ञान सशयरहित और समग्र है वह तो कृत्तनविद
 है ही और असा नान अगर भगवानके बारेमें हो तो पूछना ही क्या ?

जो यन्त्रि कमका रहस्य जानता है कममें अवमको और
 अवममें कमका पहचानता है असा बुद्धिमान मनुष्य कृत्तनकमविद
 हाता है। उसके सब कम सागोपाग सिद्ध होकर शुभपरिणामी बनते
 हैं और वह जगमसे मुक्त होता है।

कृपा [१-२७, २-१], कृपण [२-४९] स्नेह, वात्सल्य

√कृप = दुख करना अगकन दुबल बनना दया करना अित्यादि।
 कृपा और कृपण शब्दके बारेमें अयत्र लिखा ही है। कृपा-पात्र

यकिलको ही कृपण कहते हैं। कृपणका अथ होता है अनाथ दुबल
 दरिद्री नीच मूल कजूस लोभी छोट मनका क्षुद्र।

अुपनिषद्में कृपण और ब्राह्मण ये दोना शब्द परस्पर विरोधी
 बताय हैं (बृहदारण्यक ३-८ १०)। वहा पर बताया है कि अगर

कोशी आदमी तपस्या करता है, दान दता है, यन करता है और जिस तरह हजार वष व्यतीत करता है, किंतु अक्षर परब्रह्मको नहा पहचानता, ता अुसकी सारी साधना नाशवान् है, वह कृपण यानी कृपा पात्र ही रहेगा । जिसके विपरीत अगर वह मनुष्य ब्रह्मको जानकर जिस दुनियाको छोडता है तो वह ब्राह्मण है — परम विशाल परम बृहत् अैस ब्रह्मके योग्य है । अुसकी साधना नष्ट नहीं होनी । अुसका हृदय सकुचित नहीं रहता ।

यहा ब्राह्मण शब्द गुण-वाचक है वष या जातिवाचक नहीं ।

कृपा शब्दका अर्थ है दया । दूसरेकी दुबलता देखकर जो दयाभाव मनमें पदा होता है वही कृपा है ।

स्नेह शब्द √स्निह (स्नेहे) प्रेम करना परसे आया है । स्नेह आकषण पर निभर रहता है । प्राथमिक अवस्थामें यह स्नेह अपने कुटुम्बियाके प्रति ही प्रगट होता है, और अुसमें स्वाथ मोह और सकुचितताकी काफी मात्रा होती है । यह दाप निकल जाने पर स्नेह विगाल होता जाता है और सारे विश्वको अपनाता है । स्नेहके अदर सहृदयताका भाव मुख्य है । वात्सल शब्द वात्स यानी बछडा परस आया है । गायके मनमें अपने बछडेके प्रति आकषण रहता है वही अमली वात्सल्य है । जिस परमे वात्सल्यका अर्थ होना है बच्चाके प्रति प्रेम प्रीति ।

कौशलम् [२-५०]

जिस शब्दकी व्युत्पत्ति मनोरजक है । प्राचीन कालमें आश्रममें रहनेवाल ब्राह्मण यज्ञके विविध कामके लिजे जगलसे कुग नामक घास काटकर लाते थे । घास काटनेके लिजे ससृजन धातु है 'ला । जिस परम कुग काटनेमें जा प्रवीण होना या अुस कुगल कहत थे (√ला-आदाने दाने च कुगान् लाति अिति कुगल) ।* जिस परसे किसी भी काममें जो प्रवीण हो अुस कुगल कहने लगे । जिस परस

* घास पकडकर काटनेमें घासकी किनारीसे हाथ बट जानेका रुत रहता था । हाथ न बटे और घास करीब करीब जडमूलमे बट जाय वसी खूबीस काटना आसान नहीं हाता ।

कुशल शब्दका अर्थ हुआ होशियार प्रवीण फिर दूसरा अर्थ हुआ कल्याण, शुभ । कुशल प्रश्न जिस शब्दमें यह दूसरा अर्थ है। कौशल शब्द कुशलसे आया है।

कर्म करनेकी कुशलताकी ही योग कहते हैं अथवा पाप अंक असी खूबी है जिसके द्वारा बचनकारा कर्मोंको भी हम बचनगुण बनाकर करनेकी कुशलता प्राप्त कर सकते हैं।

ऋतु [१-१६]

मन दो प्रकारके होने हैं—श्रौत और स्मृत । (जो श्रुतिके अनुसार होते हैं अथवा श्रौत कहते हैं । जो स्मृतिके अनुसार चलते हैं वे स्मृत होते हैं।) श्रौत यज्ञको ऋतु (ऋतु) कहते हैं।

ऋतुका अर्थ है यज्ञ यज्ञवा सकल्प सामर्थ्य, निश्चय, अपमानना । ग्रीक भाषामें 'ऋतोस' का अर्थ होता है सामर्थ्य शक्ति । ऋतोस् और ऋतुस एक ही हैं असा दोष पड़ता है।

गीतापनिषदमें परलोकगामी जीवको 'ऋतो' कहकर संबोधना है।

क्रोध [२-६२, ६३, ३-३७, १६-४, २१], अक्रोध [१६-२]

✓ क्रोध (क्रोध) क्रोध करना गुस्से होना ।

मनुष्यके छह विकारोंमें क्रोधका स्थान विशेष है। प्रथम विकार तो काम (वासना) है असीका दूसरा रूप है क्रोध । अिन दोनोंके कारण मनुष्य अधा हो जाता है। नहीं करने योग्य काम कर बैठता है।

सृष्टिकी और समाजकी रचना जो बराबर जानता है और अुसका स्वीकार करता है वह धर्मज्ञ है। काम और क्रोध धर्मज्ञानको दुबा देते हैं। क्रुद्ध मनुष्य अपना ही अहित कर बैठता है। क्रुद्धो ह्ययात गुरुमपि—गस्सेसे अधा बना हुआ मनुष्य गुरुजनाको भी मार बैठता ।

क्रुद्धो हि समूढ सन गुरुमपि आक्रोशति—क्रोधो मनुष्य मूढ बनकर बड़ाको भी गाली देता है। काम और क्रोध रजोगुणसे पदा होते हैं। दोनों बड़ पैठ हैं महापापों हैं, मानव-जातिके शत्रु हैं। क्रोध आसुरी सम्पत्तिके लक्षण है और नरकका अंक द्वार है।

सामान्य लोग मानते हैं कि क्रोध सामग्र्यका लक्षण है किन्तु वह दुबलताका ही अेक प्रकार है। तेज और क्रोध अेक नहीं है, जोश और रोष अेक नहीं है।

क्रोधके बारेमें याज्ञवल्क्य-अुपनिषदमें अेक सुन्दर श्लोक है
अपकारिणि कोपं चेत कोपे कोपं कथम न ते।

धर्माधिकाममोक्षाणाम प्रसह्य-परिपयिनि ॥

नुकसान करनेवाले पर क्रोध करना अगर स्वाभाविक हो तो काप पर ही तू गुस्सा क्या नहीं करता है? वह तो धम अथ वाम और माक्ष चारा पुरुषार्थोंका जवरलस्त बटमार है।

क्षत्रकर्म [१८-४३], क्षात्रधर्म [२-३१, ३२, ३३]

क्षतात् प्रायते अिति क्षत्रिय ।

क्षतात्किल प्रायत अित्युदप्र क्षत्रस्य शब्दो भुवनेषु रूढ । प्रजाको नागसे बचाता है जिसलिअे अुसे 'क्षत्र' कहते हैं। प्रजाका रक्षण करना, पालन करना गत्रुके साथ युद्ध करना अयायकारीका दण्ड देना, हिंस्र पशुओंकी मगया द्वारा कृषिका रक्षण करना विद्या प्रचारके लिअे पंडिताका पुरस्कार करना, ये सब क्षत्रियाके कतव्य हैं। ब्राह्मण क्षत्रियालि सब समाज-सेवकाकं धम कमरूप होते हैं। अुनके स्वधम ही अुनके स्वधम हैं।

प्रजा पालन क्षत्रियाका धम है। किन्तु प्रजा-मीडन, स्वजाति महार और आत्मनाग यही अुनका स्वभाव दिख पडता है। बाहुबलसे लक्ष्मीको जीत लेना और फिर 'याया-यायका या स्वहितका विचार किये बिना अश-आराम करना और गफलतमें रहकर आत्मनागको बुलाना यही कभी कभी क्षत्रियोंका जीवन श्रम बन जाता है। महाभारतके कालमें अुनका विगेष व्यसन था छूत और परस्पर अीर्षा। साथ साथ मन्त्रिरापान भी बढ गया था। अिम परसे परस्पर कलह और याल्वाका अुद्रेक हुआ। यहां तक कि धमराज जम सत्त्वस्य लोग क्षात्रधमको पापधम कहने लगे।

श्रीकृष्णने गीताके प्रारम्भमें अर्जुनको समझाया कि आत्मरक्षाके लिअे, धमकी रक्षाके लिअे अनायाके प्राणके लिअे किया हुआ युद्ध

धर्म्य है क्षत्रियोंका वह स्वधर्म है। जो क्षत्रिय धर्मयुद्धस विमुख होते ह व पापके भागी होने ह और अुनकी अपकीर्ति होती है। परस्वाप हरणके लिअ युद्ध करना बुरा है किन्तु जब यच्छया धर्मयुद्ध प्राप्त होना है, आकर खडा होता है तब नुस हृदयकी दुवल्ताके कारण छोडना नही चाहिये। गीताके अतमें क्षत्रियके स्वभावके नाचके लक्षण बताये है — गीय तजस्विता, धृति दक्षता युद्धमें नही भागनेका निश्चय दानशीलता और भीश्वरभाव। (धृति और भीश्वरभावका अर्थ अुन अुन शब्दोंके नाचे देखिये।)

धर्मके रक्षणके खातिर मारनेके लिअे और मरनेके लिअे तयार रहना क्षात्र धर्म है। जिसमें धर्मके रक्षण और पालनके लिअ विभीको न मारते हुअे मरनेके लिअे — आत्म-बलिदानके लिअे — तयार रहना सत्याग्रह धर्म है। अपनी जान सलामत रखकर दूसरेको मारनेके लिअे तयार रहना जन्लादका काम है। सत्याग्रह धर्म जल्लादके धर्मसे जब मिल जाता है तब रिवाजा रूढ क्षात्र धर्म बनता है। अिमलिअ सत्याग्रह धर्मको विशुद्ध क्षात्र धर्म कहना चाहिये।

क्षत्रियोंके धर्ममें युद्ध और राज्य रक्षण तो आते ह किन्तु राज्यका कारभार चराना अुसका हिसाब कित्ताब रखना, प्रजास कर व रुपमें कित्ता धन लेना अिमका निश्चय करना दायदान करना अित्यादि राजाके कृतव्योमें मदद करनेके लिअे राजपूतोंको ही नियुक्त करना चाहिये असा वणधर्मका आग्रह नहा दाख पडता। ब्राह्मणाकी और बश्याकी मदद ली जाती थी।

राजधर्म और श्रात्र धर्ममें कोअी भेद है या नही यह प्रश्न साचन लायक है।

क्षमा [१०-४, ३४, १६-३], क्षमी [१२-१३], क्षाति [१३-७, १८-४२]

√क्षम (सहने) सहन करना क्षमा करना।

आभूटस्य ताडितस्य वा अविवृत्तचित्ता'—याण्या या मार खाने पर अपन चित्तमें विचार अस्वस्थता पना न हान देनेको क्षमा कहत ह। मुझ गालिया देनेवाला मा मारनेवाला चाहता है कि म डर जाअू अपमानित

हा जाऊ म गरण जाऊ, अपनी टेकको छाड दू और मेरा तेजावध हा जाय । गालिया देना या मारना अुसके हायकी बात है । गायद मैं अपनेको अिससे बचा नही सकूगा । किन्तु डरना या नही डरना शरण जाना या नही जाना अपना तेज खीना या नहीं खीना मेरे बशकी बात है । अगर म जिसमें नही हारा तो मने अपने विरोधीका अुमके अुद्देश्यमें असफलता देकर अुसे परास्त किया । जब तक मेरा चित्त अविचल है अविकारी है तब तक मेरी पराजय नही हुअी ।

यह क्षमा-वृत्ति अीश्वरका ही अेक भाव है । मनमें विकार ही पदा नहा होना क्षमाका लक्षण है और विक्रिया अुत्पन्न होने पर अुसे दबा कर शान्त होना अक्रोधका लक्षण है ।

तजस्विताके बिना सच्ची क्षमा-वृत्ति असम्भव है । तेज, धृति, और अद्राह अिन दबी सम्पत्के लक्षणाके साथ ही सच्ची क्षमा रहती है (१६-३) ।

जिसमें अहकार और ममत्व नहीं है जो किसीसे द्वेष नही करता, सबके प्रति मत्री और करुणाका भाव रखता है और सुख या दुख आने पर जो स्वय अविचल रहता है वही मनुष्य क्षमावान् हो सकता है (१२-१३) ।

जा दुबल है अुमके मनमें द्वेष, हिंसा और द्रोह भरे हुअे रहन ह । दुबलताके कारण अपनेका बचानेक ल्तिअे वह अुहें छिपा रखे वह वान दूसरी है । अुसे क्षमावान् नही कह सकते और अुस क्षमाका फल भी नही मिलता । 'असमर्थो भवेत् साधु ' अिस न्यायके अनुसार वह क्षमाका दम्भ अवश्य कर सकता है, किन्तु अुसमें न तो अुन शान्ति मिलेगी और न अुसकी तेजोरक्षा होगा ।

क्षमाक बारेमें किसीने कहा है कि जीवनमें क्षमा सबसे श्रेष्ठ गुण है किन्तु अुसमें अेक ही दोष पाया जाता है । वह यह कि सच्चे क्षमावानका भी लोग कभी कभी दुबल समझते ह । अिसमें क्षमावान्का काअी नक्सान नही होता ।

अेक क्षमावतां दोषो द्वितीयो नथ विद्यते ।

यदेन क्षमया युक्तम अशक्त मयते जन ॥

क्षेत्रम [१३-१, ३, ६, १८, ३३], क्षेत्रज्ञ [१३-१, २, ३४]

✓क्षि (क्षय हिंसायाम निवासगत्यो) क्षय पाना, क्षीण हाना नाश करना निवास करना जाना।

✓क्षी (हिंसायाम्)

✓क्ष (क्षये)

क्षेत्र कहते ह खतको स्थानको तीर्थको, और देहको और पत्नीको भी। इसका असली जय है जमीन या खत। शरीरका क्षेत्र असलिय कहते ह कि अुसमें हम अपन क्रिय हुअे कर्मोंका फल पाते ह बोये हुअ कर्मोंकी फसल काटते ह। धात्वय देखनसे भी शरीर क्षेत्र है। शरीरका क्षय होता है हिंसा करके ही वह जी सकता है वह गतिमान और परिवर्तनशील है तथा आत्माका निवासस्थान है। [शरीर शक्तकी व्युत्पत्ति भी गायद ग (हिंसायाम) परम है।]

श्री शंकराचार्यन क्षेत्रकी व्युत्पत्ति अिस प्रकार दी है—क्षत श्रानात क्षयात क्षरणात क्षत्रवत् वा अस्मिन् कमफल निवत्त क्षत्रम। क्षत यानी नुकसानसे जो बचाता है जयवा जिसका क्षय होता है अथवा जो शन गन नष्ट होता है अथवा कमफल पानके लिय खतके समान जिसका अुपयोग होता है वह क्षेत्र है।

क्षेत्र अथवा शरीर कहनसे चतय विरहित मुरदेके समान जब वस्तुका ही खयाल होता है लेकिन वह सही नहीं है। हममें आत्माको छोडकर बाकी जितनी चीजें होती ह वे सब मिलकर क्षेत्र होता है। गीतामें (१३-५, ६) स्पष्ट बताया है कि पच महाभूत अहकार बुद्धि अयक्त (मूल प्रकृति) दस अिद्रिया और अुहे चलानेवाला मन गन स्पश रूप रस गंध ये अिद्रियोंके विषय अिच्छा द्वय सुख दुःख और अुपर बनाय हुअ तत्वाका सघात अुसके काम करनेवाली चेतना धृति य सब मिलकर शरीर (और अुसके विकार) ह।

अिस शरीरको और अुसके कायको जो पूण रूपसे जानता है अुम आत्माको क्षेत्रज्ञ कहते ह (१३-१)। अिस विश्वमें जो कुठ भी हस्ती स्यावर या जगम पन्ना होती है वह अिन क्षेत्र और क्षेत्रज्ञके

सयोगसे होती है (१३-२६)। साराग यह कि चतयसे और आत्माने विहीन असो बोओ चीज असि विश्वमें नही है।

अतना घनिष्ठ और सनातन सम्बंध हाते हुअे भी क्षेत्रज्ञ आत्मा क्षेत्र देहसे अलिप्त ही रहती है (१३-३२) और अलिप्त रहकर सारे क्षेत्रका प्रकाशित करती है (१३-३३)।

मोक्षप्राप्तिके लिये क्षेत्र और क्षेत्रन दोनाका स्वरूप और अुनका पाथक्य (अन्तरम्) जानना आवश्यक है।

क्षेत्रको जाननेसे हम अपने गरीरको, अुसके सब घटक तत्वोका और अुसके व्यापारका जानते हैं। क्षेत्र यानी गरीरके द्वारा जिन जिन वस्तुआका ग्रहण होता है अुन सब वस्तुआको भी जानते ह और जाननेकी प्रक्रिया (process)का भी जानते हैं। असि तरहकी अनुभूतिन स्व रूपको भी जानते ह। असि प्रकार क्षेत्रका सम्पूण खयाल आने पर क्षेत्रन आत्माकी विलक्षणता आप ही आप ध्यानमें आ जाती है।

ख [७-४, ८]

गीतामें ख का अय है आकाश। ख का अय शून्य भी हाता है। सूयको भी ख कहते ह।

ख का दूसरा अय है अिन्द्रिय जो सुख और दुखमें पाया जाता है। अिन्द्रियोके लिये अनुकूल सो सुख और प्रतिकूल सो दुख। बादमें अिन गब्दाका अय व्यापक हुआ होगा।

गति [४-१७, ८-२६, ९-१८, १२-५]

√गम् (गती) जाना, पहुचना।

गतिका अय होता है जाना जानेकी क्रिया जानेका रास्ता और पहुचनेका मुकाम। ये मुकाम दो प्रकारके होते ह — अुत्तम और अधम। अुत्तम मुकामको गीताने परागति परमगति, अनुत्तमा गति अित्यादि नाम दिये ह। पौराणिकोका 'स्वगति' शब्द भी गीतामें (९-२०) आया है। गीताके खाम गब्द ह शुक्ल गति और वृष्ण गति (८-२६)। हीन गतिको गीताने अधमा गति और दुगति कहा है।

व्यक्ता और अव्यक्ता असे भी गतिके दो प्रकार गीताने बताये हैं (१२-५)। वहा पर गतिका अय मुकाम अथवा आखिरी अवस्था है।

गहना कर्मणा गति (४-१७) में गतिका अथ स्वरूप है।
 गतिभर्ता प्रभु साक्षी (९-१८) में गतिका अर्थ है अन्तिम प्राप्तव्य
 स्थान। श्री गकराचायन जिसका अथ किया है कर्मफल।

गतिका सामान्य अथ है साधना माग। शुक्ल और कृष्ण गतिमें
 यह साधना माग भी बताया है और अुससे प्राप्त होनवाली स्थितिको
 भी बताया है।

गुण

गुण गणका विवेचन चौदहवें सत्रहवें और अठारहवें अध्यायमें
 विगण हुआ है। या तो सारी गीतामें गुण गणका जिक्र जगह जगह
 आता ही है।

√ गुण (जामप्रण) बुलाना गनना सलाह देना बार-बार
 करना अित्यादि। सस्कृतमें धागको या डोरीको गुण कहते हैं। अकसर
 तीन धाग अकन बटनसे डोरी बनती है। इसी तरह मनुष्य
 स्वभावकी तीन प्रकारकी कल्पना करके बताया है कि अुनके सयोगसे
 स्वभावकी विचित्रता बनती है (१४-५ ६ ७ से १८ तक)।

दखा गया है कि हरअक वस्तुमें अनक गुण - qualities - होते
 ह। जिस तरह भाषामें नामके विशयण होते ह क्रियाके क्रिया
 विशयण होते ह अुसी तरह जगतमें वस्तुओके गुणधम पाय जाते
 ह। कर्मोंक भी गुणधम पाय जाते ह। असे गुण अनन्त हैं।
 द्रयक विना गुण रह नहीं सकते। चद लोग मानते ह कि
 द्रयका कोअी स्वतन्त्र अस्तित्व है ही नहीं विशिष्ट गुणाका सयोग
 होनसे द्रयका भास होता है। अिमके विरुद्ध दूसरे लोग कहते ह
 कि जो है सो द्रय ही है अुसमें जो गुण दीस पडते ह वे अस्यायी
 ह। जैसे अक ही वस्तु कभी बफका रूप धारण करती है कभी
 पानीका कभी बाष्पका। गर्मके दिनोमें जो ठण्डी चीज अच्छी लगती
 है वहा जाडक दिनोमें दुखकर मालूम होती है। इस तरह गुण
 और अुनका काय अस्यायी है किन्तु जिस चीज पर वे अधिष्ठित ह
 वह चीज स्यायी है।

गीताम जिन गुणाका अल्लेख है वे तीन ही ह। गीता कहती है कि जिस त्रिलोकीमें असा कुछ भी नहीं है जो जिन तीन गुणास मुक्त हो। जिस विश्वकी प्रवृत्तिमें ही ये तीन गुण हैं (१८-६०)। चातुर्वर्ण्य भी अिन्ही गुणाके आधार पर रचा हुआ है (१८-४१)।

अब प्रश्न यह अुठता है कि गुण तीन ही क्या ह ?

जिसका कारण दून्तेके पहेले यह ध्यानमें लेना चाहिये कि गुण त्रयकी व्यवस्था ज्ञानमार्गी साक्ष्याकी है। अन्हाने देखा कि या तो ज्ञानका अभाव है या भाव। जहा बिल्कुल अज्ञान है, अंधकार है, असे अन्हाने तमोगुण कहा। जिसके विपरीत जहा ज्ञान है प्रकाश है, शुद्धि है असे अन्हाने सत्त्व कहा।

अब जिन दोनके बीचकी जो अवस्था है अुसमें ज्ञान और अज्ञानका कमोबेश मिश्रण रहता है। जिस मिश्रणके अनन्त प्रकार हो सकते ह तो भी अुह सामान्य नाम दिया है रजस। तमोगुणमें जडता होता है, अप्रवृत्ति हाती है। सत्त्वगुणमें पूण ज्ञानके कारण शान्ति और समाधान हाते ह। बीचकी स्थितिमें सकारण निष्कारण शोना प्रकारकी दौड धूप ज्याण रहती है। पानीमें तरनेकी बला सीखनेवाला नौमिखिया न पानीका स्वभाव बराबर पहचानता है और न अपना। जिसलिअे डबनेके डरसे हाथ-पाव जरूरतसे ज्यादा जोरासे चलाकर वह नाहक थक जाता है और अपने मुह पर पानी अुडा अुडा कर परेशान भी होता है। रजोगुणकी यही हालत है।

परिणामकी दृष्टिसे देखा जाय तो सत्त्व गुणका काय ही अधिक और कारगर रहता है। सात्त्विक क्रिया असी होती है कि जिसस विषम प्रतिक्रिया पदा ही न हो। रजोगुण जल्दबाजीसे अितना कुछ भला बुरा काम कर डालता है कि अपनी ही की हुअी बातासे परेशान होकर असे बार बार फेरफार करना पडता है। अदूरदृष्टिसे जा कुछ भी किया जाता है अुसकी हालत असी ही होती है।

गीतामें श्रद्धा, आहार यज, तप, दान ज्ञान कम कर्ता, बुद्धि धृति सुख, अित्यादि जीवनके महत्त्वके तत्त्वामें जिन तीन गुणाका असर कसा हाता है यह विस्तारसे बताया है। चातुर्वर्ण्यका भी त्रिगुणासे

सम्बन्ध बताया है, किन्तु सत्त्व और रज अिन दोनोंका सामाजिक माननिक और आध्यात्मिक असर दवामुर-सम्पत्तु विभागमें यानी सोलहवें अध्यायमें दिया है। असलिय १४ १७ १८ और १९ अिस क्रमसे ये अध्याय पढनसे गुण-सख्यानका खयाल बराबर आता है।

जीवनमें अिन तीनोंमें से केवल अकेला अक गुण वही नही पाया जाता। दूसरे दो गुणोंको दवाकर अक गुण अपना प्राधाय जमा लेता है। अिन तीनामें सत्त्वगुण श्रेष्ठ है। लेकिन गीता अुससे सतुष्ट नही है। अुसका सर्वोच्च आदश है गुणातीत अवस्थाका। अुसका वणन चौदहवें अध्यायके अतमें आता है। मनुष्यके गुण और कमका सबध भी गीताने विस्तारस बताया है। सिफ परमात्मा ही निगुण है।

गुणातीत [१४-२५]

अतीत यानी परे गया हुआ। तीना गुणाको समयकर अुनकी साधना पूरी करके जो अुनसे परे गया है वही गुणातीत है। गुणातीतका वणन चौदहवें अध्यायमें आता है तो भी स्वतत्र विषय होनेस अुसका अक अलग ही प्रकार समझना चाहिये।

समोगुण जीवनमें जडता लाता है असलिये अुसका ज्यादा विवेचन हो नही सकता।

सामाजिक अुत्कपकी दृष्टिसे रजोगुण और सत्त्वगुणका ही स्वरूप विस्तारस समझना चाहिये। समाजकी दृष्टिसे सात्त्विक पुरुष आदग है किन्तु गीता मोक्षका विचार करके सत्त्वगुणके भी आग जाकर अलिप्त अनामक अम गुणातीतका चित्र साचती है। (१४-१९ स २७ तक) भूमिनिमें जिम तरह विन्दु है किन्तु व्यवहारमें अुस व्याख्याका विन्दु दक्षिणाचर नहा होता अुमी तरह अुम गुणातीतकी स्थिति है।

असी ही गका आने पर अजुन पूछता है कि गुणातीतको पहचाननका लक्षण क्या है? अुसका आचार क्या हाता है और गणानाक स्थिति तक पहचनकी साधना क्या है।

गानाका गुणातीत भी स्थितप्रण यानी है योगी है और भक्त भी है। अज्ञानीता तटस्थता और अनासक्ति ही अुसका प्रधान लक्षण है। (निस्त्रगुण्य गच्छ भी दक्ष लीजिये।)

मनुष्याके सत्त्व रजादि गुण होते ह और अध्यापन रक्षण, वाणिज्य, परिचर्या आदि कम होते ह। गुणाका और कर्मोका परस्पर सम्बन्ध स्पष्ट ही ह। जसा गुण विभाग होगा वसा ही कम विभाग करना पडता है। चातुर्वर्ण्यकी बुनियादमें सामाजिक कम-व्यवस्था है और अलग व्यवस्थाकी बुनियादमें गुण भेद है। इसलिये भगवान कहते ह कि चार वर्णकी व्यवस्था मने गुण-कमके अनुसार की है।

जब जो लोग मानत ह कि वर्ण-व्यवस्था 'जन्मना' है वे मया' शब्द पर भार देते हैं। यह व्यवस्था अश्वर-कृतक है मनुष्याधीन नहीं। अपने जन्मप्राप्त वर्ण धर्मका पालन करनेकी महूलियतके लिये असे कृपालुन हमें समझा दिया है कि इस व्यवस्थाकी बुनियादमें कौनसी खूबी रहा है कौनसा तत्त्व भरा है।

जो लोग कमके अनुसार या स्वभावके अनुसार अपना वर्ण पसन्द करनेका मनुष्यका अधिकार मानते ह, वे भगवानके इस वचनका नीचे मुताबिक अर्थ करते हैं भगवानने इस विश्वको त्रिगुणात्मक बनाया। अमुक अनुसार मनुष्यके चार वर्ण या वर्ण होनेकी सम्भावना हुआ। इस अर्थमें वर्ण-व्यवस्था अश्वरकी बनाओ हुआ प्रकृतिके अन्तर्गत है ही। वर्ण-व्यवस्था प्रकृतिगत व्यवस्था है वह विकृत या कृत्रिम नहीं है। किन्तु अलग प्रकृतिगत व्यवस्थामें अपना-अपना वर्ण तो हर मनुष्य अपने प्राकृतिक गुण और परिस्थिति प्राप्य कमके अनुसार तय कर सकता है। मनुष्यको असा स्वयंवर करनेका अधिकार नहीं होना ता वर्ण-व्यवस्थाकी बुनियादमें कौनसा तत्त्व है यह बतानेका काजी प्रयाजन या अर्थ नहीं रहता। अश्वरने मनुष्यको जिसमें स्वतन्त्रता दी है।

चन्द्र राग महा तब जात ह कि मनुष्यको अपनी शिष्या परिस्थिति अनुभव और दीक्षाके अनुसार समय समय पर अपना पसन्द किया हुआ वर्ण बदलनेका अधिकार भी है। वर्ण-व्यवस्थामें स्नानपान और गादी विवाहका कोओ सम्बन्ध नहीं है इसलिये यह जरूरी नहा है कि वर्ण-व्यवस्था आनुवंशिक हो।

अिन दाना दुष्टियोका समवय करनवाले बहने ह कि मनुष्यका गुण जयवा जुसका स्वभाव जमसे ही करीव करीव तय होता है। अिसलिये अुसे आनुवशिक समझनमें कोआ गल्ती नहा है। वनानिवृताका रक्षा ही होती है। मनुष्यके गुणका निश्चित करने समय अुसका जम अुसके मा-बापका स्वभाव, अुसका पगा, घरका और समाजका वायुमडल यह सब देखना ही पड़ेगा। अिसलिये वण कमक जतुनार होते हुअ भी जमके अनुसार गुण समझकर तय करनेमें बुद्धिमानी है। जमके अनुसार प्राप्त हुआ वण बदलनेमें काआ पाप नहा है किंतु सामायतया बडी हानि हो सक्ता है। जमगन वण मनुष्यकी साम्कारिक पूजा है। अुम खोनेसे अुसकी अुपेक्षा करनेसे मस्कार-दारिद्र्य पदा हागा और कौशल-हीनता भी पदा होगा।

आश्रम

गीतामें आश्रम शब्द नहीं है। आश्रम-व्यवस्थाका स्पष्ट अल्लेख भी नहा है। वण और आश्रम य हिन्दू समाज-व्यवस्थाके (और जीवन-व्यवस्थाके भी) प्रधान अंग ह। असा होते हुअ भी आश्रम वमका विवचन गीतामें नहीं आया है यह आश्चर्यकी बात है। कृष्णाजुन-मवाग्में आश्रमका कहा जिक्र ही नहीं आया सा वाच भी नहीं। गीता कालमें चार आश्रमाकी व्यवस्था तो थी ही। श्रीकृष्णने सादीपनिके आश्रममें विद्याध्ययनके लिये अपना ब्रह्मचर्याश्रम व्यतात किया था। त्रिदुर धृतराष्ट्र अित्यादि लोगोंका वानप्रस्थ आश्रम विख्यात है ही। गीताम अजुन गुरुमें ही कहता है कि स्वजनाको भारकर राज्यका जुपभाग करनकी अपेक्षा म सयासी बनकर भिक्षाका जन्न खाअ, तो भा वह अच्छा है (२-५)। यहां पर सयासाश्रमका ही अल्लेख दिख पडता है।

आगे जाकर ब्रह्मचर्याश्रमका जिक्र दिख पडता है (६-३४)में जहा गिष्य प्रणिपात परिप्रन्न और सेवाके द्वारा तत्त्वदर्शी गुरुके पासमें ज्ञान प्राप्त कर सक्ते ह असा कहा है। गृहस्थाश्रमका अल्लेख १-४२ में पिण्डान्न त्रियाके द्वारा आया है। सयास आश्रमका अल्लेख छठे अध्यायके पहल श्लोकमें 'न निरग्नि न चाक्रिय के द्वारा हुआ है।

जब अजुन भिक्षाघ्न-सेवन द्वारा सन्यास आश्रम पसन्द करनेकी वान करता है तब गीतामें आश्रम-व्यवस्थाका विवरण आना सप्रयोजन भी था अपरिहाय था। लेकिन गीतामें बसा नहीं आया यह एक बड़ा आश्चर्य है। [गीतोक्त सयाम भगवान मनुका बताया हुआ आश्रमोक्त धम नहीं है वह तो सब आश्रमके लोगके लिये सावभौम जावन धम है।]

आश्रम शब्द √श्रि (सेवायाम) आश्रय करना परसे आया होगा अथवा √श्रम् (तपसि खेदे च) तपस्या करना या खेद करना परसे आया होगा।

गूह्य [१८-६३, ६४, ६८]

√गूह (सवरणे) = ढकके रखना प्रकट नहीं करना।

मनुष्य-जीवनमें कभी वस्तुओं प्रगट न करने लायक होती ह जिन्हें गोपनीय कहत ह। प्रगट न करनेस ही अजुन वस्तुआकी यथाथ रक्षा हाती है। (गोपनीयका यह भी अर्थ है कि वह वस्तु रक्षायोग्य है।)

लेकिन सर्वोच्च ज्ञानका गोपनीय बताना, सबके सामने सबके लिये धुम अुपलब्ध नहीं रखना यह प्राचीन कालकी विशेषता है। जेव जगह अपि कहते ह 'विवृताञ्च घेदा।' वेद खुले हैं। सबके लिये ममयने लायक ह। ता भी वेदान्तविद्या भ्रविद्या ध्यानविद्या आदि अनेक विद्याआके वारेमें आग्रहपूर्वक कहा जाता है कि जो लोग ज्ञानक अधिकारी हैं अुन्हीका वह विद्या देनी चाहिये औराको नहीं।

गीता तो विश्वकल्याणकारी विद्या है। तो भी गीताके अतमें भगवान कहते ह कि जिस विद्याके लिये जिनका मन अनुकूल नहीं है अुनको यह सवाद नहीं कहना चाहिये।

पुराने लोगका अनुभव था कि ज्ञानका दुरुपयोग हो सकता है। गूढ ज्ञानका दुरुपयोग न हो असे शब्दोंमें असे प्रगट करना मुक्किल है। जिनकी नीयत खराब है असे आदमी ज्ञानका दुरुपयोग करेंगे ही। जिसलिये अनधिकारी आदमीका श्रेष्ठ विद्या न देना ही अच्छा।

(अुपनिषद् शब्दका अर्थ ही गूढविद्या होता है। अुपनिषदोंमें जो विद्या आती है अुसकी चर्चा गुरु-शिष्य अरुष्यमें जाकर ही करते थे और

चद बातें तो जैसे अधिकारी समाजमें भी न करते हूँ अंतमें जाकर करते थे।)

आगे जाकर मत्र जप और अमने विधानके बारेमें गोपनीयता बनी। जहा दलें वहा जैसे बुद्गार मिलते ह—यह बात अत्यंत गोपनीय है किसीका कहनी नहीं। योग्य गिप्य न मिले तो विद्याके साथ मर जाना अच्छा। पर-परा मल टूट लेकिन अयाग्य व्यक्तिको विद्या नहीं देनी चाहिये।

अस तरह महत्त्व बतानके हेतुमे गोपनीयताका प्रचार हाने लगा और विद्याका प्रचार रुक गया। यह अक नुसमान हुआ। दूसरा नुसमान यह हुआ कि विद्याकी खुनी चर्चा न हानसे आवश्यक सागपन भी रुक गया। जपि-मुनि और पुरखा सबक थ अनकी कही चीजामें दोष या अपूण ता हा ही नहीं सकती जसी भावना बढाओ गयी। आचार्योंका सबकत्व और त्रिकालज्ञत्व और विद्याकी गोपनीयता दोनान हमारे लागावी पानो पासना करीब करीब मार डाली।

गनीमत है कि गीता पर भाष्य लिखनवाले आचार्यों यह कभी नहा कहा कि हमारा भाष्य भी गोपनीय है हालाकि कभी भाष्यकार मानते थे कि वे विद्या त्रवर्णिकाक लिअ ही है अथवा सिप ब्राह्मणाः त्रिज ही है।

गौरक्ष्यम [१८-४४] वाणिज्यम [१८-४४]

गोआकी रक्षा करनका धम खास करके बर्याका बताया है। मनुस्मतिमें भारपूवक कहा है कि अस धमका पालन न नहा करूगा जसी मति बर्यकी कभी भा नहीं होनी चाहिय।

सृष्टिकी रचना ही अमी है कि असमें परस्परावलम्बनके कारण सब लोग और सब प्राणी सुरक्षित ह। गाय ही बवल आर्थिक दष्टि रखन वाले समाजमें सुरक्षित नहा है। अुसकी रक्षा धमबुद्धिस ही करनी चाहिय। दूधके समान अत्यावश्यक आहार देकर जिसन मनुष्यके लिअे माताका स्थान लिया और जिसके बन्धन मनुष्यके लिअे धाय और कपासकी खती करनमें मदद करके अन्नवस्त्रके दाताका स्थान लिया कमसे कम अुसे ता मनुष्यकी ओरसे अभय-दान मिलना ही चाहिये। वेदन अवेली गायको अघ्न्या कहा और धनघायकी समृद्धि जिसके पास है असे बर्यकी

गायत्री रक्षाका घम बता दिया। मनुने आग्रहपूर्वक कहा है कि जिस घमने बरस कभी भी मुह न मोड़ें।

अेक दृष्टिसे कहा जा सकता है कि गोरक्षा ही हिन्दू घमकी विशेषता है, अुसीमें अुसकी श्रेष्ठता है हिन्दू जाति अगर दुनियाको कुछ दे सकती है तो वह गोरक्षा घम ही है। अिसीलिअे गायद गीताके भगवानने स्वयं गोपाल बनकर गोरक्षाका वस्तुपाठ मनुष्य-जातिके सामने रखा।

गायने अपना दूध देकर मनुष्यको अहिंसक आहारका आदग सिद्ध करनेमें मदद की। दुनियामें आहारकी काअी अैसी चीज नहीं है, जो अिस दूधका म्यान ले सके। और बलने खेती करके—जमीन बस करके—मनुष्यके आहारमें वृद्धि की। अिसीलिअे मनुष्य अहिंसक हो सका। अेक जगह स्थायी होकर रहनेकी समावना भी कृषिके कारण ही हुअी।

अिनता होते हुअे भी अैलके लिअे कृषिमें साल भरका काम नहीं मिलता। और जानवरामें जा तनिक भी बेकार रहत ह अुनकी जान खतरमें आ पडती है। अिसलिअे समाज-व्यवस्थापकाने कृषिके साथ माल लाने ले जानेका वाणिज्यका काम जोड दिया।

वणिकको ही बजारा कहत ह। अिन प्रवृत्तिने किसान और बल दानाकी साल भरका काम मिलता है और देगान्तर यात्रासे किसानके नानमें वृद्धि होती है। अुस जमानेमें कृषि, गौरक्ष्य और वाणिज्य तीना प्रवृत्तिया अेकमाय ही चल सकती थी और अविभाज्य थी।

वेदमें सामान्य मनुष्यको विश या वश्य कहा है। ब्राह्मण-क्षत्रिय विणिष्ट वण थे। गूद्र वण सस्वारक्षम नहा था। बाकीका सारी जनता वैश्य वणमें गुमार हानी थी।

चक्रम् [३-१६]

चक्र = यन्त्रचक्र प्रवृत्तिचक्र, जीवनचक्र। देखिये 'यन्'।

चलितमानस [६-३७]

समत्वरूपी योगको धारण करना योगयुक्त होकर जीना आसान बात नहीं है, वह तो मदारीके रस्ती पर चलनेके खेल्के समान है। तनिक

भी असावधानी हुआ गफलत हुआ तो मनुष्य स्थानभ्रष्ट हो जाता है गिर जाता है। मनका स्वभाव ही तो चंचल है। उसे बेकाग्र करना ही योगका मुख्य काम है। गीतामें अजुनन श्रीकृष्णसे पूछा कि अगर कोअी मनुष्य श्रद्धावान तो है किन्तु प्रयत्नमें बड़ा ही शिथिल होनक कारण अुसन योग-संसिद्धि प्राप्त नहीं की हो योगसे अुसका मन विचलित हुआ हो तो असे मनुष्यकी क्या गति होगी? अुभयभ्रष्ट होकर अुसका नाश तो नहीं होगा? तब भगवानने जवाब दिया कि जिस किसीन कल्याण मागका अवलंबन किया अुसकी कभी भी दुर्गति नहीं होती। जिसका मानस (मन) चलित हुआ अुसे चलित-मानस अथवा भ्रष्टस्मृति कहते हैं।

चातुर्वर्ण्यम्

गुणकर्मविभाग शब्द देखिय।

चित्तम् [६-१८ २०, १२-९], चेतस

चित्त (समान) समझना मनमें लाना। अिसके साथ गीता पदाथकाश में जहा जहा चेतस् शब्द आया है वहा भी देख लीजिय अन्त करणके चार विभाग अथवा पहलू कहे जाते हैं। जिसमें सक्लप विकल्प अुठते हैं अुसे मन कहते हैं। जिसमें पदाथका निरचय होता है अुसे बुद्धि कहते हैं। मं ह असा जिसमें प्रत्यय है अुसे अहकार कहते हैं और जिसमें अपन अिष्टका चित्तन या स्वाथका अनुसधान होता है अुसे चित्त कहते हैं। विवेकप्रवृत्ति चित्तम्। अुसण चित्तस्य विषय। चित्त अनुसधानविषय। असली चीज अन्त स्मरण तो अक ही है। अुसके भिन्न भिन्न व्यापारके अनुसार अुसे भिन्न भिन्न नाम दिये जाते हैं। चित्त शब्दका व्यवहार योगशास्त्रमें विशेष हाता है। चित्तमें जो वृत्तिया अुठती हैं अुनका निरोध करनेको ही योग कहते हैं। अम्यासके द्वारा चित्तकी समाधि साधी जाती है (१२-९)। चित्तके नियमनसे वासनाआ पर विजय प्राप्त की जाती है। अुसके वा आत्म दान हो सकता है। साधक तो कहते हैं "चित्तमेव हि सत्तार।" गातिवाचायन सब साधनाका सार बताया

है— चित्तरक्षा । अनुका वचन है— 'चित्तरक्षावत् भवत्वा बहुभि
किं मम व्रत ?'

साधकश्रेष्ठ सत तुकाराम कहते हं

अेक चित्त (मन) तुझ्या अवध्या भाडवला । वाटिता तें तुला
येशील कसें ? ॥ म्हणजूनि दृढ घरी पाडुरग । देहा लावी सग
प्रारब्धाचा ॥ आणिका सकल्या नको गोवू मन । तरीच कारण
साध्य होय ॥ ”

अिसलिये अनेक चित्त विघ्नान्त न होने हुअे चित्तको काबूमें लाकर
यतचित्त (६-१९ ४-२१ ६-१०) अथवा अधिक विस्तारसे बहना हो
तो यतचित्तेन्द्रिय' होकर (६-१२) समचित्तत्वकी साधना करनी
चाहिये (१३-९) और आखिरकार 'मच्चित्त (६-१४ १०-९)
बनकर सतोप पाना चाहिये ।

चलाजिनकुशोत्तरम [६-११]

योगके लिये या ध्यानके लिये जब योगी बैठते ह तब अुहे बठनेक
आसनका खूब खयाल रखना पडता है । जमीन गीली रही मोलवा नी
रही ता जुम पर दीघ काल तक अेक आसन पर बठनेसे शरीरको नुकमान
होनेकी पूरी सम्भावना रहती है । अिसलिये बताया है कि जमीन पर सबसे
नीचे कुा घासका आसन लगाना चाहिये (अुसे विष्टर कहते ह) । अुस
कुासन पर अजिन अर्थात् हिरणका चमडा रखते ह और अुसके अपर
चैल यानी कपडा रखते हैं । असा आसन न तो बहुत अूचा रहना चाहिये
और न बहुत नीचा । आसनका प्रयोजन ही स्थिरतापूर्वक आरामसे बठनेके
लिये है (स्थिरसुखम् आसनम्) । (आसन,' शब्द भी देख लीजिये ।)

छिन्नद्वैधा [५-२५], छिन्नसशय [१८-१०], ज्ञानसच्छिन्न-
सशय [४-४१]

द्वैधका ही अय रूप है दुविधा । जब मन दो पक्षाके बीच, दा
सिद्धान्तोंके बीच डावाडोल होता है तब मनुष्य कहता है कि 'म दुविधामें
पडा हू । मनुष्यके सामने अगर हर राज और हर क्षण कोअी कठिनाअी
आती है तो वह अिस दुविधाकी ही । अजुन कहता है कि दुविधामें पडे

हुबेका बालाकी तरह नाग होता है (६-३८) । जिसकी दुविधा टूट गयी है वह सचमुच धम है । इस दुविधाको ही सग्य कहत ह हालाकि दोनामें कुछ फक है ।

ससय ज्ञानके क्षेत्रमें अुठता है और दुविधा बमके मानी बनव्यके क्षेत्रमें । द्रध और द्रत अक नही ह, हालाकि बाद लाग द्रधका भी अथ द्रतक जसा करत ह । अुपि लाग इस दुनियामें रहकर पक्षपात रहित सबके हितमें रत रहते ह स्वय नि स्पृह रहत ह और दुनियाका तनिक भी मोह न रखते हूअ ब्रह्मके चिन्तनमें लग रहते ह । असाक मनमें न काआ ससय अुठता है और न बनव्यका पालन करत कोअी दुविधा पदा होतो है । भिद्यत हृदयप्रिय छिद्यन्त सबसगया ।

ससय अज्ञानसे अुत्पन्न होता है । अुसका ज्ञानरूपी तलवारन छे करनेसे ही योग माध्य होता है (४-४२) ।

जगत [७-५, १३, ९-४, १०, १०-४७, ११-७, १३, १५-१२, १६-२]

जगम (गती) जाना । जो जाता है स्थिर नही रहता है जा अलण्ड परिवतनशील है, वह है जगत् । इस दुनियाको जगत कहते ह । जगत्के बाह्य और आतर असे दो विभाग किये जात ह । तथा बाह्य जगत्के स्मावर और जगम असे विभाग किये जाते ह । जगत जसा दिखता है वसा सचमुच नही है इसलिअे बनानिक अुमे माया रूप (Mysterious) कहते ह । वह भासमान है इसलिअे वेदान्ता भी अुने माया रूप (Illusory) कहते ह ।

जगती अथवा जगत् शब्द अपन पूरे अथमें जीणावास्य अुपनिषदके पहले श्लोकमें आया है ।

जनससदि [१३-१०]

ज्ञानकी माह्या करत हूअे भगवानन ज्ञान-माधन रूप महत्त्वके गुण बताय ह । जिन गुणामें 'विविक्त देश-सेवित्वम' और 'जन-भसदि अरति' ये दो बनाय ह । दोनोका भाव अक ही है । अवात स्मल्का सेवन करनेकी वक्ति और प्रावृत्त जन-समुदायमें बठनेके प्रति अरवि जेव ही

वृत्तिके दो पहलू ह। जिनके मनमें जीवनकी गहराबीका काशी खयाल नहीं, जो आत्म-अुद्धारके बारेमें अुदासीन है और जिनकी सस्कारिता नाममात्र है वे सब प्राकृत लोग ह। अने लोकाकी बठकमें समय व्यतीत करनेसे मनुष्यका चिन्तन छिछला हो जाता है अुत्तिका आग्रह गिथिल होता है और काशी पाप या दुराचार किये बिना भी वह नीचे गिरता है। प्राकृत हास्य विनाद करनेके लिये जा मण्डली अिकटठी होती है अुमके लिये पुराना शब्द है समाज। सम्राट अज्ञोकेने अपने शिलालेखामें असे समाजाका तिरस्कार किया है। क्याकि जब समाज नीचे गिरता है तब अुसका प्रारम्भ असे 'समाज अथवा 'नससद में होता है। (अरतिअनमसदि शब्द देखिये।)

जमबधनिर्मुक्ता [२-५१]

जमरूपी बधनसे मुक्त। फिरस जम देनेवाले बधनसे मुक्त। मरणके द्वारा हम अेक जमकी झझटसे तो मुक्त हात हैं किन्तु जीवन भर जिन तरह तरहकी वासनाआके हम गिकार बना ह वे सब हमें फिरसे नये जमके बधनमें डाल देता ह और फिर तो नये जेमके साथ नये मरणकी तयारी रखनी ही पडता है। अगर ठीक तौर पर साधा जाय ता मरण काशी डरनेकी चीज नहीं है। डरनेकी असली चीज है जम। अिसलिये सन्ताने कहा है कि साधो अस मरा कि बार बार मरना न पडे। सकल्प काशी मामूली चाज नहीं है। वह सब-ममथ गकिन है। वामनाके पदेमें फमकर काशी अेक सकल्प करनेकी भूल की ता फिर अुस किमा न किमी रूपमें (और जिम हम नहा चाहते ह असे स्थल काल और रूपमें) सिद्ध होना ही पडता है। अिसीलिय गीतामें जम बधनसे मुक्त होनेके कतय पर अितना जार दिया है। अनामक्तिसे कमफलको छोड देने पर ही बुद्धिमान पुष्प जम-बधनसे पूणतया मुक्त हाता है।

जपयज्ञ [१०-२५]

जप शब्दका अय सब जानते ही ह। किमी मत्रका या सकल्पका बुद्धि-भूवक हृदयसे रटन करना जप है। जपके द्वारा सकल्प गकिन

केन्द्रित हो सकती है। जपक द्वारा प्राहृतिक शक्तिशाक्त भी सम्पन्न हो
सकता है अंगे जप-यागियाता शक्त है। गापकने किञ्च मवग अणम
सापना है ध्याता। किन्तु त्रिग सागामें ध्यान गतिशक्त अण्य ही नहीं
हुआ है अथवा त्रिगकी ध्यान गतिशक्त है प्रनर किञ्च जपकी सापना
साग घनाभी है। आम जागार त्रिग्रे जप हा बड़ा विनामति है।
तिशय घममें अिगी सागका अवनयना करन गुरुभाः सिध्याता—
गिगारः जपकी नामक अर गुटर रूप सिध्या है।

गौताकी विधिना यह है कि गानाने जपका भी घममें गिना सिध
है। अनिता ही नहीं किन्तु भगवान अगी थूठ विभूतिशाक्त सिध्या
करन हुअ कहन ह कि यज्ञार अंतर में जपयत है। जपकी घन अिगतिश्रे
बडा है कि त्रिग तरफ घममें आपन जलाया जात है अुगा तरफ
जपक द्वारा मलिन शक्त अथवा ध्यय विरोधी मकल्प जपयत जात है।

कहनकी जरूरत नहीं है कि सायागार बिना यत्रवृ सिधे
हुअ जपका कोभी विधिप पत्र नहीं है। घामापानर शक्त बलाया हुआ
मत्र-याठ अथवा सातका नाम-स्मरण काभी आध्यात्मिक पत्र नहीं ह
सकत। माला फिराना अथवा प्रापना चक्र पर मत्र त्रिगहर भुग हापय
धुमाना अित्यादि यात्रिक त्रियायें जप-यज्ञमें नहा जा सकता।

जपके तीन प्रकार मत्रगास्त्रमें बताय है। मत्र साग गुन सके अंता
आवाजग मत्रका जप करना अच्छा नहीं माना गया है। सागाव
मुननम जपका सामध्य क्षीण हाता है। (नाम-स्मरण जाराव करना
अच्छा है किन्तु वसा जप अच्छा नहीं)। स्वयम् जप करे और स्वयम्
ही मुन सके दूसराके काना तप न पट्टुअ अग जपका भुपांगु कहन
ह अिसका पत्र मध्यम है। सबसे अच्छा जप वह है त्रिगमें बिना
जीम हिताय मन ही मनमें मत्र अर अर अगाएका स्पष्ट भुचारण
करन वाला जाता है। जाग्रत और अवाग्र ध्यानने बिना यह जप
चल ही नहीं सकता। मन अिधर भुधर गया ता जप रक ही
जाता है। जिस तीसरे और सर्वोच्च प्रकारके जपका पत्र थूठ माना
गया है। यज्ञोंमें जपयज्ञ थूठ भले ही हो किन्तु सापनामें जप शक्त
की अजी साधना प्रायमिक ही मानी जाती है।

जातिधर्मा [१-४३]

√जन् (जनप्रादुर्भावे) जन्म लेना। जन्मना जाति। कुल या खानदानको जाति कहते हैं अथवा जिन लोगोंमें जिन खानदानोंमें परस्पर शादी-ब्याह हो सकता है अन्तकी एक जाति होती है। सम्भव है कि प्राचीन कालमें एक-एक अलग-अलग अल्पित सम्पूर्ण और स्वयम्पूर्ण समाज होता था। वणका असा नहीं है। वण एक विराट समाजका अवयव अथवा अंश होता है। एक वणकी लोकसंख्या चाहे कितनी ही बड़ी हो उसे संपूर्ण समाज नहीं कह सकते हैं। जब सब वर्णोंका मिलकर परस्परावलम्बन और सहयोग होता है तब वह एक समाज होता है। भारतवर्षमें अब वणके अर्थमें जाति और जातिके अर्थमें वणका व्यवहार होने लगा है। जातिका असली अर्थ है कुलवा Clan और Tribe छोटी छोटी Clan के लिये गोत्र शब्द था। अनेक गोत्रोंके जीवन सहयोग ही जाति बनती थी। जातिमें हमें स्वराज्य-व्यवस्था होती है। अगर वर्णोंकी व्यवस्था चले तो वह घम-व्यवस्था होगी।

मनुष्य-स्वभावको देखनेसे अनुमान होता है कि सबसे पुरानी संस्था है कुल। उसके साथ साथ गोत्र और जाति भी अतनी ही पुरानी संस्था है। वण-व्यवस्था अन्तके बादकी है।

जिगीपताम [१०-३८], जिजीविषाम [२-६]

क्रियाके साथ विच्छाका भाव लानेके लिये अन्तके सन्नत (desiderative) रूप बनाये जाने हैं। अर्थात् पातुम् विच्छा जिज्ञासा (६-४४, ७-१६)। असा तरह जिजीविषाका अर्थ होता है जीनेकी विच्छा (will to live)।

यह सिद्ध होनेके बाद यानी जीनेका विश्वास हो जानेके बाद जीतनेकी विच्छा — जिजीविषा (will to conquer) पदा हाती है। अपनी जान खतरेमें डालकर भी दूसरोंको परास्त करना यही जीवनका बड़ा रस हो जाता है। अिसमें केवल सामर्थ्यका प्रयोग नहीं रह सकता। शत्रुपक्षमें अनाचार, अधम, भेद और फूट पदा किये

बिना बुझे जीतना आसान नहीं होता। जो लोग विजिगीषु हैं व नीतिका यानी कूटनीतिका अवश्यमेव अवलम्ब करते हैं।

जितसगदोषा [१५-५]

सग (सोहबत) को यानी आसक्तिको जिन्हान दापरूपमें पहिचाना है जितना ही नहीं किन्तु अपनी अनासक्त वृत्तिसे जिन्हाने भुज जीन लिया है परास्त किया है काट दिया है बुद्धि जितसगदाय कहते हैं। जिस किसी चीजका या व्यक्तिका हम आसक्तिसे ध्यान करते हैं उनका सग हमें लग ही जाता है (ध्यायती विषयान् पुस गगस्नेयु अपजायते)। विषयाका सयोग टाल देना ही सबसे अच्छी बात है। किन्तु वह तो हमेशा ही नहीं सकता। जिदगीमें सयोग और वियाग नहीं बहुत दफ दवाधीन होते हैं, किन्तु उनके साथ राग-द्वेष रखना या त्याग पर जोर न देकर अनासक्ति पर भार दिया है। दुनियाके प्राकृत लोग सगके कारण परेशान होते हुए भी सगको दापरूप नहीं देख सकते। जो कम या अधिक पानी है वे सगदोषका पहचानते हैं किन्तु अद्रिय-भ्राम और वासनाओं अपन बलके कारण उन्हें अपन जालमें फसाती ही है। जिसन सग-दोषको जीता है वही महावीर है वही अयम पद प्राप्त करता है।

जितेन्द्रिय [५-७], जितात्मा [६-६, ७ १८-४९]

गीताके पाचवें अध्यायके सातवें श्लोकमें विशुद्धात्मा विजितात्मा और जितेन्द्रिय य तीना शब्द अके स्थान पर आय हैं। श्री गङ्गाराचायन विशुद्धात्माका अर्थ किया है विगुद्ध-मत्त्व यानी जिसका सत्त्व अर्थात् चारित्र्य गुद्ध हुआ है विजितात्माना अर्थ किया है विजित देह (गरीरके अर्थमें आत्मा शब्द आता ही है) अिसके बाद जितेन्द्रियका अर्थ होता है जिसन अपनी अिन्द्रियोकी प्रवृत्तिके ऊपर काबू प्राप्त किया है। अिन्द्रिय-भ्राम बलवान होता है किन्तु मुक्तिस जस पर विजय प्राप्त की जाती है। केवल विद्वत्तासे नहीं किन्तु सक्त्य-शक्तिसे दृढ निश्चयसे और आत्मोपम्य दृष्टिसे।

जितात्मा (१८-४९) का अर्थ है असा मनुष्य जिसने अपना अन्तःकरण जीत लिया है। आत्माको जीतनेका तो सवाल ही नहीं खुटता है। वह स्वयम् स्वतत्र और सत्य-सकल्प है। अन्तःकरणको जीतनेसे आत्माकी सब शक्ति प्रगट होती है। अन्तःकरणको जीतनेसे बुद्धि अनासक्त बनती है लोभ दूर होता है और कर्मका बंधन नष्ट होता है। गीतामें (६-७) भी आत्माका अर्थ मन अित्यादिका सघातरूप शरीर ही है। इसके ऊपरके श्लाकमें भी वही अर्थ है।

कठ भुपनिषदमें 'निरिन्द्रिय' शब्द आया है। जिसकी अिन्द्रिय-शक्ति ही क्षीण हो गया है अिच्छा होते हुअे भी जो अिन्द्रियासे अुनका काम नहीं ले सकता वह 'निरिन्द्रिय' है। निरिन्द्रिय होना दुर्दैव ही है। बिलास अथवा अति विषय-सेवनसे अिन्द्रिया क्षीण होती है। बाधक्यके कारण भी अिन्द्रिया क्षीण होती है। अिसमें कोई आध्यात्मिक प्रगति नहीं होती। जितेन्द्रिय वह है जिसने अिन्द्रियाकी शक्ति होते हुअे भी अुह बशमें किया है। असे मनुष्योकी अिन्द्रिय गवित पूण रूपसे खिली हुअी रहती है तो भी वे अुनकी अिच्छाके विरुद्ध जार नहीं कर सकती।

विश्व विजयकी अपेक्षा अिन्द्रिय विजय श्रेष्ठ है। अिसीलिअे मतहरिने प्रश्नोत्तरके रूपमें कहा — क गूर ? विजितेन्द्रिय ।

मनुस्मृतिमें कहा है

श्रुत्वा स्पष्टवा च दष्टवा च भुक्त्वा घ्रात्वा च यो नर ।

न हृष्यति ग्लायति वा स विज्ञेयो जितेन्द्रिय ॥ (२-९८)

जीवभूत [१५-७], जीवभूताम् [७-५]

आत्मामें और परमात्मामें तत्त्वत भेद नहीं है। परमात्मा ही जब अणुरूपसे शरीरके साथ सम्बद्ध होता है और अपनेका कर्ता और भाक्ता मान लेता है तब ससारमें वह जीवरूप बन जाता है अुस जीव कहने ह। जो शिव था वह जीव हो गया, जो मुक्त था वह बद्ध हो गया जो स्वतत्र था वह परतत्र हो गया।

अिन बंधनाको ताड कर फिर अपनी अमली स्थितिका प्राप्त करना ही मोक्ष है।

प्रकृतिमें भा परा और अपरा असे दो भेद होते ह । अिन
 नतवाह्य जगत् तो अपरा प्रकृति है और अुस जगतको धारण
 करनेवाली जो दूसरी प्रकृति है अुसे परा कहते ह । अुसे जीवभूता
 कहा है क्वाकि वह भूताको सजीव करती है ।

ज्ञानचक्षु [१३-३४ १५-१०] ज्ञानदीप [४-२७,
 १०-११], ज्ञानप्लव [४-३६], ज्ञानासि [४-४२],
 ज्ञानाग्नि [४-१९, ३७]

अिन सब शब्दाके अयके लिअे पाननिभूतकल्पा देखिय ।

ज्ञानतपसा [४-१०]

तपस वह प्रवृत्ति है जिसके द्वारा हमारे दोष जल् जाते ह
 और हमारी काय-शक्ति असाधारण बढ जाती है । तपका अय ताप
 भी हाता है । जिस तरह अग्निक् तापस सुवण गुढ होता है अुसी
 तरह तपक् द्वारा मनुष्य-जीवन निष्पाप होता है और क्षीण हुआ
 शक्तिया फिरसे सतेज हाती ह । मनुन कहा है जो काय करना
 मुश्किल है प्राप्त करना कठिन है वह सब तपके द्वारा प्राप्त होता
 है । तपका पराभव काभी नहा कर सकता ।

यद दुस्तर यव दुराप यव दुग यच्च दुष्करम् ।
 सब तु तपसा साध्य, तपो हि दुरतिक्रमम् ॥ (११-२३८)

अपन तजक द्वारा दाप दूर करनकी और सामध्य बटानकी शक्ति
 जानका है । अिस वास्ते पान प्राप्तिक् लिअ जा कुछ भी कष्ट अुठाया
 जाना है वह श्रष्ट तप है । पान प्राप्तिके लिअ जो कुछ भी साधना
 करना पडती है वह सब तप ही है । गीतामें पानकी जो व्याख्या दी
 है (१२-७ म ११ तक) वह सबमुच पानकी साधना अयवा पान-तपम्
 ही है । जा कोआ भगवानक ममान निष्पाप है अुसक् लिअ जानका
 स्मरण करना ही तपसा है (यस्य ज्ञानमय तप) । (मुण्डक १-१-९)
 भगवान स्वय ता पानसा हा ह । अुनके लिअे तप तपनका सवाल
 हा नग अठना ।

अुपनिषदमें जगह जगह आता है "स तपस तपत्वा ध्यजानात्" अर्थात् अुमने तप तपकर ज्ञान प्राप्त किया। शंकराचार्यने ज्ञानतपसा का अर्थ किया है— ज्ञानम अेव च परमात्म विषयम तप तेन ज्ञानतपसा पूता परा शुद्धिम गता ।

जा लाग पूणतया ज्ञाननिष्ठ हाते ह अुनके लिअे और तपस्याकी अपेक्षा नहीं हाती।

सामान्य लोगके लिअे अेक ओर दोषक्षयके लिअे तपस्या और दूसरी ओर अज्ञान दूर करनेके लिअे जिज्ञासा जसी द्विविध साधना ब्रताश्री है। ज्ञान और तप दोनोंके बलसे मनुष्य अपनेको शुद्ध बना सकता है।

ज्ञाननिर्धूतकल्मषा [५-१७]

ज्ञानके द्वारा जिनके कल्मष यानी पाप धुल गये हैं अस लोग। श्रीश्वर-परायण होनेसे वे मोक्षको पहुँचत ह।

ज्ञानकी यह शक्ति देख कर ज्ञानको दोष जलानेवाली अग्निकी अघकारका हटानेवाले दीपकी और अज्ञानरूपी दुश्मनको काटनेवाली असि यानी तलवारकी अुपमा दी है। पाप प्रवाह तर जानेके लिअे यह समय नौका है। और फिर ज्ञानको पाप धानेका जल भी कहा है। ज्ञान चक्षु भी है, क्यार्कि वह सब कुछ दिखता है। तप याग और यज्ञके साथ ज्ञानका सम्बन्ध अकाट्य है।

ज्ञानयज्ञ [४-३३, ९-१५, १८-७०]

ज्ञानयज्ञको समझनेके लिअे ज्ञान और यज्ञ अिन दोनोंका विवरण प्रथम पढ लेना चाहिये। यज्ञ दो प्रकारके हाते ह द्रव्यमय यज्ञ और ज्ञानयज्ञ। पहलेमें द्रव्यरूपी साधन अुपलब्ध होने पर ही यज्ञ हा सकता है। वह यज्ञ जन्म-जन्म-मलका प्रारम्भ करता है। ज्ञानयज्ञमें यह दोष नहीं है। ज्ञानयज्ञमें वाकीके सब यज्ञाका अन्तर्भाव है।

अिस विश्वका विश्वके नियमका, और अन्तरात्माका रहस्य दूढ़ना अुस रहस्यका सग्रह और वितरण करना अुस रहस्यके अनुसार

जीवनमें परिवर्तन करना और युसका स्मरण अलण्ड रत्तर तद्रूप हो जाना यह सब ज्ञानयज्ञ है। ज्ञानयज्ञका मानस-यन भी कहा है।

गीताशास्त्रका अध्ययन, अध्यापन, अनुसरण और आचरण शुद्ध ज्ञानयज्ञ है।

ज्ञानयोग-व्यवस्थिति [१६-१]

यहा पर व्यवस्थितिका अर्थ देखता है। व्यवस्थिति मानी व्यवस्थान, व्यवस्था स्थिरता निष्ठा, निश्चय, मजबूती।

पान और योग दानाके प्रति निष्ठा असा भी भ्रिमका अर्थ हो सकता है।

योगका अर्थ तो कमयोग ही करना चाहिये, हालांकि श्री शंकराचार्य महा योगका अर्थ करते हैं ' जिन्द्रियादिकं निग्रहसं अकारता प्राप्त करके अपनी आत्मा ज्ञानका विषय होनवाके आत्मादि सब पदार्थोंको प्रत्यक्ष अनुभव कर लेना योग है। ' अिस अधम योग गाताका विज्ञान बन जाता है (३-४१) जहा पर ज्ञान मानी शास्त्रत आचार्यत च, आत्मादीनाम अबबोध । और विज्ञान मानी विनोक्त तद अनुभव ।

व्यवस्थितिका अर्थ निष्ठा करनेसे ज्ञान और कम दानाक प्रति मनमें निष्ठा रखनकी बात आती है। किन्तु व्यवस्थितिका अर्थ व्यवस्था करनेस पानयोग-व्यवस्थितिका अर्थ होता है ' जीवनमें ज्ञानका और कमका योग्य अनुसरण सभालनेकी वृत्ति । ज्ञानके अनन्तार कम हा कर्मानुकूल ज्ञान हा और दोनोके द्वारा जीवन शुद्ध, समृद्ध और भुद्दीपित हा तभी कह सकते हैं कि पानयोग-व्यवस्थिति सिद्ध हुआ है।

ज्ञानयोग [३-३]

पान और योग अिन दानो शब्दाका विवरण पन्ते देख लीजिये। साथ साथ ऊपर 'पानयोग-व्यवस्थिति भी देख लीजिये (१६-१)।

पानकी प्राप्तिमें जयवा पानके अनुभवमें दो अन्तराय हाते हैं। अज्ञान और पाप । अिन दोनाका नाग करनेसे ही पानकी सिद्धि प्राप्त होती है ।

या देखा जाय तो ज्ञान-योग, कम-योग, भक्ति-योग और ध्यान-योग ये सब तत्त्वतः एक ही हैं। एक ही जीवन-साधनाके भिन्न भिन्न पहलू हैं। सच्चे ज्ञानके बिना भक्तिका रास्ता साफ नहीं होता है। कमयोगके बिना ज्ञानकी प्राप्ति कठिन है। निष्ठा या भक्तिके बिना कमयोगमें प्रवृत्ति ही नहीं सकती। ध्यानके बिना न निष्ठा आती है न कम-कौशल्य प्राप्त होता है। जिस तरह साधनाके ये सब प्रकार परस्परबलम्बी हैं। अतना ही नहीं किन्तु एक-दूसरेके अन्दर अन्तर्भूत हैं।

तब भी ज्ञान ही अन्तर्में प्रधान है। आत्मा और अनात्मा अन्तर्दोनाका भेद समझे बिना आत्मनिष्ठा प्राप्त नहीं होती। आत्मनिष्ठाके बिना मोक्षकी प्राप्ति असम्भव है। (अथर्व हि परमो धर्म यद्ययोगेन आत्मदर्शनम्। याज्ञवल्क्य १-८) जिस सारे अनुभवसे ही कहा गया है — अतो ज्ञानात् न मुक्तिः ।

बुद्धिके प्रयागसे प्रथम सत्यका ज्ञान होता है। जिस बुद्धिकी बुद्धिके लिये भी कम आवश्यक है और ज्ञानके बुद्धिगम्य होनेके बाद जैसे जीवनव्यापी करनेके लिये अर्थात् ज्ञानका साक्षात्कार करनेके लिये भी कमकी आवश्यकता है। ज्ञानका साक्षात्कार होने पर कुछ भी करनेका बाकी नहीं रहता तो भी दोषमुक्त ज्ञानीके स्वभावमें ही कमकारिता रहती है। किन्तु उस ज्ञानोत्तर कमको हम कम कहे या अकर्म, वात एक ही होनी है।

वह कम कतव्य रूप भी नहीं होता और किसी भी तरह बंधन भी नहीं पदा करता।

ज्ञान सविज्ञानम् [६-८, ७-२, ९-१]

ज्ञान है शास्त्रिके अध्ययनसे प्राप्त हुआ बुद्धिगम्य अवबोध और विज्ञान है असी अवबोधका स्वानुभवकरण अथवा साक्षात्कार। ज्ञानके द्वारा मनुष्य पंडित बनता है कमकुशल भी बनता है। विज्ञानके द्वारा वह ज्ञानके साथ अक्षरूप होता है, और समाधानका तृप्तिका अनुभव भी करता है। इसी सिलसिलेमें 'ज्ञानयोग-व्यवस्थिति' शब्द भी दिये।

ज्ञानसग [१४-६]

मनुष्य त्रिगुणमें फसा हुआ साधनाके सत्त्वगुणमें स्थिर हो जाता है, किन्तु गीता कहती है कि सत्त्वमें स्थिर होनेके बाद और भी आगे बढ़ना है। तीनों गुणोंके परे जाकर ही ठहरना है। तभी मनुष्य निःसग हो सकता है। सत्त्वगुण अुप्रतिशील अव्यय है, किन्तु अुससे सुखक साथ और पानके साथ आसक्ति बन जाती है। त्रिगुणातीत पुरुष सुख-दुःखसे अल्पित रहता है। पानको हजम करनेके कारण पानका भार और ज्ञानकी आसक्ति दोनोंको वह छोड़ देता है। ज्ञानसग सत्त्व-सम्पन्नाकी आखिरी कमजोरी रहती है।

ज्ञानाग्निदग्धकर्माणम् [४-१९]

ज्ञानरूपी अग्निसे जिसके कम जल गये ह। प्रत्यक्ष कम तो जल नहीं जाने लेकिन कमोंके कारण या बंधन पंग होते ह अुनका धीज जल जाता है। कम करते हुअे भी कमकी बाधा नहीं होती। दग्ध हाना = निर्बीज होना।

ज्ञानी [३-३९, ४-३४, ६-४६, ७-१६, १७, १८,]

गीतामें ज्ञानी शब्दका अर्थ दो तरह आया है। (१) पान जिसे बुद्धिगम्य हुआ है और (२) जो तत्त्वदर्शी है (४-३४)। चार भक्तोंमें ज्ञानी सबसे श्रेष्ठ है क्योंकि वह भगवत-तत्त्वको पूणतया जानता है। भगवान यहा तब कहते ह कि ज्ञानी मुझसे अलग नहीं है पानों मेरी आत्मा ही है।

ज्ञेयम् [१३-१२ से १८ तक, १८-१८], ज्ञानगम्यम् [१३-१७]

ज्ञेय ज्ञानी जानने लायक ज्ञानका विषय। तात्त्विक चर्चामें पान पाना और ज्ञेय असी त्रिपुटीका वणन आता है। जिस वस्तुका हम जानाकी कोशिश करते है वह ज्ञेय है। जाननेवाले हम ज्ञाता है। जाननेकी क्रियाको भी हम पान कहन ह और अुस क्रियाके फल-स्वरूप हमें जो बाध हाता है जो जानवारी हासिल होती है अुमे भी ज्ञान कहते ह।

ज्ञानका क्षेत्र विद्वक्के समान व्यापक मनुष्यके मनके समान गहरा और कालके समान अनन्त है। जैसी यह ज्ञानकी शक्ति अपने बाहुमें जिसे पकड़ना चाहती है उसनेयका स्वरूप क्या हागा? उसमें क्या क्या आ सकता है? यह तो गीता ही कह सकेगी। नेयमें क्या क्या नहीं आ सकता यह खोजना भी मुश्किल है।

गीताने १३ वें अध्यायमें नेयका वणन करते परम बहत् परब्रह्मका ही वणन किया है। परब्रह्मका विराट पुरुषका-सा वणन करते गाणा कहती है कि उसके हाथ-पाव, आन्ध-जान और गीश-मुख सब ओर ह। सब अिन्द्रियमें अल्पित रहते हुअे भी सब अिन्द्रियके गुण उसमें पाये जाते हैं। वह स्यावर भी है जगम भी है, नजदीक भी है दूर भी है भूनाके वाहर भी है अन्दर भी है, अत्यन्त सूक्ष्म होनेसे वह समझमें नहा आना और सबका आवरण करके खडा है अिमलिअे भी उसका ध्यानमें आना कठिन है न उसका आदि है न जन्त। जोर आचय यह है कि अुमे हम न मन कह सकत ह न असत, वह अघकारके परे है—ज्यातिकी भी ज्योति है। अेक हात हुअे भी अनेक आकार धारण करता है। अवि-भक्त हाने हुअे भी सबत्र विभक्त-सा दिव पडता है भूताका आधार भी वही है और अुनका ग्रास भी वही करता है। तथा फिरम अुह पदा भी करता है।

व्यवहारके ज्ञानमें पाता नेय और ज्ञानका भेद दिख पडना है किन्तु यह परब्रह्म सभीके हृदयमें रहकर पाता, नेय ज्ञान सब स्वयम् ही बनता है। असे अद्भुत नेयको जानकर मनुष्य अमृतत्व प्राप्त करता है परमात्माको पाता है।

ज्वर (विगतज्वर) [३-३०]

✓ज्वर (रागे) = बुखार आना।

ज्वर — शारीरिक या मानसिक ताप, बुखार, अुत्तेजना दुःख। गाधीजीका कहना है कि व्यवहारमें जिने युद्ध कहते हैं जिसमें शत्रुको शस्त्रमे मारनेकी बात होती है असा युद्ध काशी द्वेष हिमा आदि ज्वरक विना कर ही नहीं सकता। विगतज्वर युद्ध ता अेक रूपकमात्र है। अपनी दुवासनाअके मिलाफ जो युद्ध चगाना पडना है वही

विगन-वर स्थितिमें गव्य है। सताप, शाक जादि अुतेजनाको ही ज्वर कहा है।

ततम [२-१७, ८-२२, ९-४, ११-३८, १८-४६]

√तन (विस्तारे) खीचना तानना। भगवान स्वयम् अिस अखिल विश्वमें अपनेको फैलाकर जुमका विस्तार कर रहे ह। जो चीज काल तत्त्वमें फगयी हुयी रहती है अुसे सततम कहते ह। हर चीजके साथ दिक् और काग दोना तत्त्व बधे ह। कोयी भी दुतियवी वस्तु कालनिरपेक्ष नही है जिसलिअे नव्य तत्त्वज्ञ वस्तुको 'सततम' (Continuum) कहत ह। लम्बायी चौडायी गहरायी और कालिकना य चार तत्त्व (dimensions) मिलकर सततम् बनता है। सतनम् अिन चार तरहसे खाचा हुआ तना हुआ रहता है।

तत्त्वम [१८-१], तत्त्ववित [३-२८ ५-८], तत्त्वदर्शी [२-१६, ४-३४], तत्त्वज्ञान [१३-११]

मस्कृतमें तत अक सवनाम है। अुसका अय ब्रह्म भी होता है। "तत्त्वम असि" अिस महावाक्यमें तन् का अय हाता है परब्रह्म (तुम ही वह हो)।

किमी वस्तुका विचार करते समय अगर हम अुसका रग रूप गध आकार वजन सख्या आदि सब गुण अक्के बाद अक निकाल देंगे तो गय क्या रहेगा? हम नही कह सकते कि बाकी गूय ही रहेगा। आकार वजन स्पग आदि सब गुण ह जिसके आधार पर ये गुण रहन ह वह ता वस्तु है। सब गुणाका हगानेक बाद जा केवल 'वस्तु' रह जानी है अुस जमन फिगमुफ कॅटने 'Thing-in-itself' कहा है। अुमाका हम तन्ना कट सकते ह। तन् यानी वस्तुका भाव अयवा रहम्य ही तन्ना है। अुमोका तनन्त्र (Thatness) कहते ह हर चीजका बाह्य रूप अग्य होना है। बाह्य रूप भ्रामक भी हा मकता है। वस्तुका सच्चा रहम्य आन्तरिक ही हाता है। अिम सच्चे स्वरूपका अयवा रहम्यको तत्त्व कन्ने हैं। बाहरी गुणाके गानको पगयविनाम कहते ह आन्तरिक रहम्यका तत्त्वज्ञान कहन ह। अक है Physics दूमरा है अुसके बाद

अनेवाला Metaphysics । जिस तत्त्वको ही देखनेकी, पकड़नेकी और
 अुसीका महत्त्व स्वीकार करनेकी जिसकी दृष्टि और वृत्ति है अुसे तत्त्व-
 ज्ञानी अथवा तत्त्वदर्शी कहते ह । तत्त्वज्ञानकी दृष्टिसे जब साचा जाता है
 तब कहते ह कि जिसका तत्त्वत विचार हुआ है ।

तत्त्वत सोचनेके भी अनेक पहलू होते ह । अेक अेक पहलूको या
 दृष्टिका दशन कहा जाता है, जैसे चार्वाक-दशन साह्य-दशन,
 वेदान्त ज्ञान, योग-दशन, साम्प्रवादी दशन अित्यादि अनेक दशन ह ।
 हरजेक दशन जीवनके तमाम पहलुओका कुठ न कुछ अथ करता
 है और रहस्य बताता है । ये सब तत्त्वज्ञानक प्रकार ह ।

हारा और कोयला तत्त्वत कारबन ही ह, दोनामें तत्त्वत तनिक भी
 फक नहा है । किन्तु बाजारमें दोनाकी कीमत अेकसी नही हो सकती ।
 अिमलिजे तत्त्वत सोचनेके साथ व्यवहारत भी सोचना पडता है । किन्तु
 जहा जसा भेद करना आवश्यक नही है अथवा हानिकारक है वहा
 पर भा लोग तास्त्विक दृष्टिकी अपेक्षा करते ह और व्यवहारकी दृष्टिसे
 सोचकर मानवी प्रगतिको रोकते ह ।

तदभावभावित [८-६]

मानसशास्त्रका यह प्रश्न है कि अन्तकालके समय मनुष्यक मनमें
 जा खयाल अुठता है वह यदच्छासे अुठता है या सारे जीवनके चिन्तनका
 वासनाका और ध्यानका निचोड होता है ? मनुष्य अगर अेकाअेक किसी
 अपघातस भरे दुघटनाका शिकार हा जाय तो बात दूसरी है । किन्तु अगर
 मृत्युके ममय अेकाग्रतासे सोचनेका तनिक भी अवकाश मिले ता
 जीवके माय कायाका विच्छेद होते समय वही विचार प्रधानतया मनमें
 आना चाहिये जिसका अुसने अुत्कटतासे ध्यान मनन किया हो । जिस
 दवताकी मनुष्यने अुपासना की होगी अुसीका अुसे अन्तिम क्षण दशन होना
 चाहिये और अुसीके साथ अुसीकी ओर वह निश्चय जायगा ।

‘यो यच्छद्ध स अेव स ’ (१७-३) और ‘अन्ते मति सा गति ’
 ये दो वचन जिस सिलसिलेमें ध्यानमें रखने लायक ह ।

मनुष्य जिस भावकी सदा भावना करता है अुसीके भावसे
 भावित हाकर, अुसीका स्मरण करते हुअे जब वह शरीर छोडता है तब

असुतीके प्रति वह जाता है (८-६)। अर्थात् मृत्युवक समय भगवानका स्मरण करव अगर मनुष्य प्राण छोडता है तो नि सगय वह भगवत् भावका ही पहुचता है यानी वण्णव तत्वको प्राप्त होता है (१८-५)।

तद्विद [१३-१]

असका शब्दाय होता है अुस जाननवाला । गीताक अिस श्लोकमें तदविद्का अथ होता है क्षत्रविद् अथवा शरीरविद् । अिसी अध्यायक ५ वें और ६ ठे अिन दो श्लोकामें क्षत्रकी जो व्याख्या दी है अुस परसे स्पष्ट होता है कि सचेतन शरीरको ही यहा क्षत्र कहा है पचमहाभूतात्मक बाह्य सृष्टि मनोमय अन्त सृष्टि सुख-दुःखादि विकार अिन सबको अेक्षत्र करके अुसे क्षत्र कहा है । अिन सबका अिस ज्ञान ही वही क्षेत्रज्ञ है । क्षत्र और क्षेत्रज्ञ दोनोंका रहस्य जो जानत ह वे ही तदविद् ह । अुहे हम सबज्ञ भी कह सक्ते ह ।

आजकल किमी भी अक विषयमें अिसन प्रावीण्य हासिल किया है अुस expert को तदविद कहने ल्य ह । तज्ज्ञ की अपेक्षा तद्विद् शब्द अुच्चारण सुलभ है ।

तप [४-१०, २८, ७-९, १०-५ १६-१, १७-५ ७ १४
१५ १६, १७, १८, १९, २४, २५, २८, १८-३, ५ ४२]

√तप (सन्तापे अन्वये) गरम हाना गरम करना प्रकाशना समय बनना राज्य करना ।

सब प्रकारकी शक्तिया बढानके लिअ प्रयोजनपूर्वक परिश्रम अठानव तप कहते ह । अिस तपके पीछे कोअी प्रयोजन नहीं है असे तमागुणी तपक अलिंग तप कहा है । असे तपसे अिष्ट प्राप्ति नहीं होती ।

मनुस्मृतिमें तपक बारेमें कहा है

यद दुस्तरम यद दुरापम यद दुगम, यच्च दुष्करम ।
तत सब तपसा साध्यम, तपो हि दुरतिश्रमम ॥ (११-२३८)

जो कुछ भी पार करना पाना पहुचना या करना अत्यन्त कठिन हो वह भी तपक द्वारा मिद्ध हा जाता है । सचमुच तपको अतिक्रम करना कठिन है । तपचर्याको काअी मात नहा कर सकता ।

जब काअ व्यक्ति, समाज या सस्था विफलताके द्वारा अथवा आलस्य और अज्ञानके द्वारा क्षीणवीर्य बननी है तब अुस चाहिये कि वह समय पश्चिम नानोपासना और सामथ्य बढावे ।

जिसीलिये भगवानने कहा है कि यज्ञ दान और तप कोभी छाड नहा सकता । तमाम जीवन शक्ति अिन तीना पर निर्भर है ।

तपका महत्त्व अितना है कि गीताने अपने गुण-सङ्ख्यान योगमें छह श्लाक देकर तपको दो तरहने समझाया है । गारीरिक वाचिक और मानसिक तपको समझाकर अिन तीनाके सात्त्विक राजसिक और तामिक अस प्रकार भी बताये ह ।

अिनमें गौच ब्रह्मचर्य, अहिंसा और मानाहोंकी पूजा आदि सब शारारिक तप समयमें आत है किन्तु आजक यानी सरलताको भी गारीरिक तपमें किस तरह डाला है यह समयमें नही आता ।

किन्तीका दुःख न हो असा सत्य और प्रिय हित वचन और स्वाध्याय तथा अभ्यास ये सब वाङ्मय तप है । समय पर मौन रखना और आवश्यकतासे अधिक न बालना यह भी वाचिक तप है । मनका प्रसन्न रखना सबके प्रति शुभ भावना रखना मनोवृत्तियोका समय करना मौन रखना और चारित्र्य-शुद्धि — अिन सबको गीताने मानस तप कहा ह ।

तपोयन [४-२८]

यनका अर्थ अुपनिषद्कालसे व्यापक होता आया है । प्रकृतिके व्यापारका भी अुपियोने यनके रूपमें पग किया है । श्वासोच्छ्वास भी अेक प्रकारका यन है । प्राणायाम भी यन है । अिन्द्रियाका व्यापार और समय भी यन है । जानकी अुपासना स्वाध्याय — ये भी यन है । अिस तरहने यनको देखनेके बाद पापको जलानेवाला तप भी अेक प्रकारका यन माना जाना स्वामाविक है । अिसलिये तपस्वियोको तपोयन कहा है । भगवान स्वयम् तमाम यनोके और तपके भोक्ता ह (५-२९) । जो लोग तप नहा करते अुह अतपस्क कहा है (१८-६७) । अस लाग गीता नान सुनकर क्या करगे ?

तम [८-९, १०-११, १३-१७, १४-५, ८, ९, १०, १३, १५, १६, १७, १७-१, १८-३२, तामम शब्द भी सायम सोचिये।]

√तम् (काडशायाम् खदे च) चाहता चित्ता करना तित्त होना थक जाना मलूल बनना।

जहा ज्ञान नहा है प्रकाश नही है अुत्साह या स्फूर्ति नपी है असी अवस्थाको तमस् या तम कहते ह। प्रमाद जाल्स्य निद्रा मोह अप्रकाश अप्रवृत्ति मूढता अधोगति य सब तमागुणके लक्षण ह। जो तमोगुणी होते ह अुनका चान छिछला और अकागी होता है। वे जब काम करते ह तब बिना सोचे करते ह। और अुसमें भी त्रिपाद दीघसूत्रिता आल्स्य अप्रामाणिकता और हरामी होती हा ह।

तमोगुणी मनुष्य स्व-पर बलाबल देख बिना लाभ हानि माचे बिना और नतीजका खयाल क्रिय बिना बबल जडतासे अथा हाकर ही काम करता है। अुसकी बुद्धि असी अुलटी होती है कि धम और अधमको वह अुलटा ही समझता है। निद्रालुता भय शोक त्रिपाद और मद अिन दोषाको आसानीसे छोडता ही नही। अुसका सुख भी निद्रा आल्स्य और प्रमादसे ही पदा हुआ होता है। वह तप करेगा तब भी दूसरेका नाग बननेके लिजे अयवा अपना ही अनहित जिसमें है असे ढगसे करेगा। पूजा करेगा तो भूत प्रताकी तप करेगा तो शास्त्रको छोडकर खाने बठगा तब चासी सडा हुआ और जूठन भी खा जायगा जिसे दान देगा अुसकी निदा और अपमान करक देगा और वह भी असे आदमीको जो योग्य नहा है तथा असे समय पर और असे ढगसे कि वह दान किसीके कामका भी न होगा। तमागुणी लोग सस्कृतिका हास करते ह और अपना भी नाश कर लेते ह।

तमोद्वार [१६-२२]

गीताने काम क्रोध और लोभ अिन तीना आत्मनाशी दापाको नरकका द्वार कटा है। तमोगुणके कारण य तीना बढते ह और मनुष्यके शयका नाग करते ह। अिन तीनाके रास्ते नही जाना चाहिय।

केवल सन्तानकी भुत्पतिके हेतु स्त्रीगमन करना और वह भी धमकी मर्यादामें रहकर यह अलग चीज है और कामाघ हाकर विषय-सेवन करना अलग चीज है। जिस कामाघताका ही गानाने नरकका द्वार कहा है।

पुरुषाय सिद्धिके लिये धनकी प्राप्ति करना और वह भी बिनाका द्राह किये बिना यह धम है। किन्तु अचे होकर अनीतिस द्राहबुद्धिक साथ सम्पत्तिके पीछे पडना और धनका राशि बढ़ाते रहना, यह लाम है। वह नरकका रास्ता है।

अयायका प्रतिकार करना दुराचारीका कुकर्मस राकना हीनताका धिक्कार करना, ये सब तेजस्विताके लक्षण ह। जिह पुण्य प्रकाप (Righteous indignation) कहा है। किन्तु अचे हाकर अपने हितकर्ता मुहूद-जना पर भी नाराज होना वासना-तृप्तिमें जा भा बाधा डाले अुस पर विगड जाना यह तमागुणी रोध है। यह नरकका द्वार है।

ओगोपनिपदने अस नरकको ही अघम् तम कहा ह।

नितिक्षा [२-१४]

√नितिक्षा (क्षमायाम् च) बहादुरीके साथ सहन करना। जिसका अिलाज नही है अुस सहन तो करना ही पडता है हिम्मत हार कर, रोते रोते और सम्मान तथा सत्व खाकर भी सहा जा सकता है अथवा परामूत न हाते हुअे आत्मबलसे हिम्मतपूर्वक सब कुछ सहकर हम दु खस अूचे अूठ सकते ह। जिस तरह पानीमें तरनेवाला कमसे कम अपनी नाक पानीके अूपर रखता है अुसी तरह जा मनुष्य आत्माका अपमानित किये बिना, धीरोदात्त वृत्तिसे सब कुछ सहन कर लेता है अुसने नितिक्षा गुणका सिद्ध किया है। What cannot be cured has of course to be endured, but he is a hero who endures it nobly

तुल्यनिदात्मसस्तुति [१२-१९, १४-२४], तुल्यप्रियाप्रिय [१४-२४], तुल्य [१४-२५]

√तुल्य (अुमाने) तौलना तपासना। जब दो चीजें तौलने पर अेक ही नापकी हाती हैं तब अुहें तुल्य समान अथवा सम कहत ह।

जो पानी या यागी है वह मान और अमान मित्र और शत्रु, प्रिय और अप्रिय दोनों प्रति समान वृत्ति रखता है। जो सन्तुष्ट है अम मित्र या शत्रुत्व का भाव महसूस नहीं है। जब शत्रुत्व पर्याप्त होता है तब पानीके मित्र अंगुमें काभी नहीं बचा नहीं जाती। वह अपने गुण-गुण जानता है। जब यागनाम अधिप शत्रुत्व की जाता है तब अम असह्यम वह प्रसन्न बन जाएगा / लागता अभिप्राय वह बल नहीं रखता लकिन अंगुका स्वीकार भी वह नहीं कर सकता। अगर काभी कम शत्रुत्व करता है तब दूरसे अपना पर वह नाराज बस हा सकता है, और असा अपना दूर करनेकी भी आवश्यकता अनवर नहीं रखती।

अमकी बात यह है कि अपना मान-अपमान और गुण-दुग दूसरा पर निर्भर रखना काभी अच्छी स्थिति नहीं है वह ता परात्रलम्बिता हुआ। जब हम दगन ह कि सामान्य जनता कितना अपना हुआ है गतानुगतिव हकी है और रणरूपम तथा भी बनता है तब अमक अभिप्रायस गुली या दु खी हाना हमारी आत्म प्रतिष्ठाका लिभ हानिकारक है।

प्रिय और अप्रियव बारेमें प्रियता और अप्रियता सा रहती है किन्तु अमस पानी पुरग न ता अस्यस्थ रहता है न विविज हारर किसीका पशपात और तिरस्कार करता है।

तुष्टि [६-२० १०-५, ९]

√तुष्ट (तुष्टी) राजा हाना तृप्त हाना सन्ताप पाना।

व्यवहारकी प्रवृत्ति कहती है—'असन्तोष धियो मूलम'— असन्तोषसे ही सम्पत्ति और बभब प्राप्त होते ह।

आश्रम-व्यवस्था कहती है—असतुष्टा द्विजा नष्टा सतुष्टा च भूभुज ।

अध्यात्म शास्त्र कहता है मन-केनचित् जो सन्तुष्ट रहता है (३-१७) वहां सच्चा भक्त है।

भगवानन अपन बारेमें कहा है (३-२०) कि 'मर लिजे असा कोजी चीज नहीं है जो मुझ मिली नहीं है और पानको बाकी है।'

जिस मनुष्यको आत्मनान हुआ है आत्मप्राप्ति हुई है अमुक लिये कुछ भी जाननेका और पानेका नहीं रहता। फिर उसके लिये तुष्टि हा तुष्टि है। जिसके मनमें पूण सताप है वह बडेस बडे सम्राटस भी अधिक धनी और समय है कुवेर नी अमुकका तुलना नहीं कर सकता।

तृष्णा [१४-७]

√तृप (पिपामायाम्) तरमना । [तृप और तृप परस्पर विराधी धातु है।] तृष्णा याना प्यास लोभ अिच्छा। वासनाके द्वारा विषयाकी प्यास बढ़ती है, बुसीमे रजागुणकी वृद्धि होती है (तृष्णा = अप्राप्तका अभिलाषा)।

बौद्धाका कहना है कि (१) दुनियामें दुख भरा हुआ है। (२) असि दुखका कारण तृष्णा है। (३) तृष्णाका नाग करनेने दुखका नाग हाता है। और (४) तृष्णा-नाग करनेके लिये भगवान बुद्धक बनाये हुअे अष्टागिक भागका अवलम्बन करना चाहिये। अिन चार धानाका व आयसत्य कहते ह। बौद्धाने भवतृष्णा और विभव तृष्णा असे तृष्णाके दा भाग किये है। भवतृष्णा जीनेकी तृष्णा है और विभव-तृष्णा नहीं जीनेकी अथान् मरनेकी तृष्णा यानी वासना है। दोना तृष्णा दोपरुप हैं [भगवान मनुने भी कहा है—नाभिनदेत मरणम नाभिनदेत जीवित्तम।]

तृष्णा दा प्रकारसे सताती है, पहला प्रकार है अप्राप्त वस्तुका अभिलाषा, और दूसरा प्रकार है—अिदम मे न क्षीयताम असा अिच्छा।

तृष्णासगसमुद्भव रज [१४-७]

अप्राप्त वस्तुकी अभिलाषा तृष्णा है और प्राप्त वस्तुके वारेमें जा प्रीति या ममता हाती है यानी मनकी आमक्ति हाता है अमुक कहते हैं आसग। ये दाना रजोगुणक ही लक्षण हैं। रजोगुणका मूल अिमीमें है।

तेज [७-९, १०, १०-३६, १५-१२, १६-३, १८-४३],
तेजस्वी [७-१०, १०-३६]

√तज (निशाने पालन च) सान पर धरना तज करना, रक्षण करना।

किसा भा चीजको सान पर धरनेसे जुमरा जग दूर हाता है वह तीक्ष्ण बनती है चमकन लगती है और अधिक कायम बनता है। (गीताका शब्द सगित भा यहा दलिय।) अिस परसे तजका अय हाता है पराश्रम प्रभाव, प्रकाश गर्मी जुत्साह म्याभिमान अमय।

तेजस्वी पुष्ट अमान या विरोध महन नहा करता है। वह सब अपना प्रभाव और प्रकाश डालता है।

तेजाऽशतभवम [१०-४१, ४२]

श्रीश्वर ही विश्वके रूपमें प्रकट हुआ है। चंद्र लोग कहते ह कि अिस विश्वमें पूरा श्रीश्वर स्वतन्त्र नहीं हुआ है। अिस विश्वमें ता आश्वर भरा हुआ है ही किन्तु अिस विश्वके अतिरिक्त भी श्रीश्वर है जा अिस विश्वके परे है (Transcendence)। दूसरे लोग कहते ह कि अिस विश्वके बाहर कुछ हो ही नहा सकता। अगर विश्वको काशी मर्यादा मानी जाय ता वहा श्रीश्वरकी मर्यादा है (Immanence)। गीतामें कहा है कि जा कुछ भी सत्त्व विभूतिमत् है, तेजस्वी है, सौन्दर्ययुक्त है वैभवांगी है वह सब कुछ मेरे तजके अक अंग हा पना हुआ है किन्तु मेरी अमी विभूतियाका अन्त हा नहीं है (१०-४०)। मेरे विस्तारका कहा भी अन्त नहा है (१०-१९)। परमात्मा भी अनाद्यन्त है (१३-१९)। अिसलिये श्रीश्वरके बारेमें हम कह नहीं सकत ह कि श्रीश्वर अिस विश्वक जितना ही बडा है और यह भी नहा कह सकते ह कि वह जसा नहीं है।

हम अपने ध्यानक तिअ समझना चाहत ह कि कौन कौनस रूपमें हम श्रीश्वरका दलें और अुमकी अुपासना कर। (१०-१७)

त्यक्तजीविता [१-९]

जिन्हाने अपने प्राण फेंक दिये हैं योछावर किये ह । अिसके मानी यह नही कि वे मर गये ह या अुन्हाने आत्महत्या का है । अिसका अथ अितना ही है कि लडाओमें मरण आनेवाला ही है अिसका निश्चय होते हुजे भी जो लडाओमें शरीक हुअे ह । जुह अपन प्राणाकी परवाह नही है । हम भले मर जाय किन्तु हमारे स्वामी दुर्योधनका अथ सफल हो जाय असा जिन्हाने निश्चय किया है — जिन्हाने प्राणाकी बाजी लगायी है वे ह त्यक्तजीवित ।

त्यक्तसवपरिग्रह [४-२१]

परिग्रहके अनेक अथ ह । जिसे हम पकडकर रखत ह वही हमारा परिग्रह है । हमारी सम्पत्ति, हमारी अेस्टेट हमारा घर हमारा परिवार, नौकर चाकर कुटुम्ब-कबीला धमपत्नी, अतपुरकी स्त्रिया सब परिग्रह है । हमारा शरीर भी हमारा परिग्रह है । गीता कहती है कि हमारा परिग्रह ही हमें पकडकर रखता है । (Our possessions possess us)

तातेको पकडकर अगर पिंजरेमें रख दें तो जुसे विलाने पिलानेकी चिन्ता हमें दिन रात करनी पडती है । हम कहते ह कि हमने अेक तोता रखा है तोता कहता हागा कि मेरे लिअे अेक आदमी रखा गया है । यही परिग्रहका सच्चा स्वरूप है । परिग्रह रखकर भी मोक्ष पानेकी अिच्छा करना गलेमें बडा पत्थर बाधकर समुद्रमें तरनेके बराबर है । गीता कहती है कि अगर पापम मुक्त होना है कमबधसे मुक्ति पानी है, ता अन्त करणका दमन करो और सब परिग्रह छोड दो । जब तक साधना पूरी नही हुअी तब तक शरीरको नही छोडा जा सकता । किन्तु वहा भी देहाभिमानका तो छोडना ही चाहिये । तभी हम त्यक्तसवपरिग्रह बन सकत ह ।

परिग्रहके कारण हमारी आत्माकी विभूति क्षीण होती है । घरमें अगर टेबल कुर्सी, कबाट आदि फर्नीचर बड गया तो स्पष्ट है कि घूमने फिरनेका हमारा अवकाश घट जाता है और हमारे ही कमरेमें

हम बचनमें आ पड़ते हैं। रामे रोलका जेक वाक्य याद रखना चाहिये—
 'The less I have the more I am' जिस अनुपातमें मेरा परिग्रह
 घटता है उसी अनुपातमें मेरा 'यक्तिव', मेरा अध्यात्म बढ़ता है।
 स्वच्छास मत्ता घटानेके बाद सत्ता परिपुष्ट हो ही जाती है।

यहां पर त्यक्त शब्दका जेध ऊपरके त्यक्तजीविता में जसा
 किया है वसा ही करना चाहिये। सामाजिक विकास और समृद्धिके
 लिए धर्म अपकरण यंत्र आदि बढाने पड़ते हैं। अनुकी ओर ममता
 रहनेसे—यै चाहें मरी है जमी भावना रहनेसे परिग्रहकी ब्यजारी
 आती है। मह हुमी व्यक्तिगत अपरिग्रहकी बात। समाज भी परिग्रह
 बढ़नेसे रोगी और दुबल बनता है। Acquisitive wealth और
 functional wealth में जो फरक है उसे समझनेसे परिग्रह अपरि
 ग्रह भेद पर अच्छा प्रकाश पड़ सकता है।

त्याग

√त्यज् (हानौ) = छोड़ देना समझ बाटना मित्रियतका अंत
 करना।

दासता-त्याग ही गीताका प्रधान सदेश है। रामकृष्ण परमहंसन
 मानाका मन्त्र समझाते हुये कहा था कि गाताव अक्षर अलुट दा
 और तुम्हें तुम्हें गीताका सदेश मिथ्या। गीता का तागी किया
 ना हो गया। (बगानीमें त्यागीका उच्चारण तागी होता है।)
 जिसने त्याग करनेकी तरकीब या कला सीख ली वह गीताधर्म
 बन गया।

मरण समय मनुष्यका सब कुछ छोड़ जाना ही पड़ना है।
 अतः त्यागको विमान गीताका त्याग कहा जाता। सग्नत्याग फलत्याग
 कामत्याग काम्य-कर्म-त्याग गुणगुण-परित्याग मंत्रारम-परित्याग
 परिग्रह-त्याग ये सब बातें गीताके त्यागमें आती हैं। जिनके साथ
 अज्ञानका भाव त्याग किया तो मनुष्यका माधना पूरी हो गयी। असी
 माधनाका परिपूर्ण लक्षण अविद्वत्त्व अपि कहत हैं—यस त्यजति
 तन् (नि) त्यज्। (महापरिग्रह ६-६)

सर्व त्यक्त्वा भव पीत्वा योऽसि सोऽसि स्थिरो भव ।
 शेष स्थिरसमाधानो येन त्यजसि तत त्या ।
 त्यज धम अधमे च भुभे सत्यानते त्यज ।
 भुभे सत्यानते त्यक्त्वा येन त्यजसि तत त्यज ॥

संयासवृत्तिके लग्नसवत्यागमें मानन ह । जिन आध्यात्मिक प्रयाकी सहायतासे हमने मुक्ति पायी अतःका भी लोभ नहऱ रखना चाहिये । पलाल अिब धार्थीक त्यजेत प्रथ अणेयत ॥

सगत्यागम विदुर मोक्षम सगत्यागात् अजन्मता ।
 सग त्यज त्व भावाना जीवन्मुक्तो भवानघ ॥

असे त्यागके भी गीताने तीन प्रकार बताये ह । नियत कर्मोंका त्याग मोहवश होनेसे तमोगुणी होता है । शारीरिक तक्लीफने बचनेके लिये अच्छी वस्तुका भी त्याग करना रजोगुणी है । और कतव्यरूप गुभ कम करते हुअे अतःके केवल फलाका त्याग करना सात्त्विक त्याग है । गीताका सारा भार कमफल-त्याग पर ही है ।

त्रयीधर्म [९-२१], अविद्या [९-२०], अगुण्यविषया [२-४५]

अक यजुस जीर साम अिन तीन वेदाको त्रयी कहन ह । अथर्ववेदकी अर्ते तो गायद अिन तीन वेदाके जितनी ही प्राचीन हागी । लेकिन धममूल वेदत्रयीमें अथर्ववेदका अन्तर्भाव देरीसे हुआ । वेद ही हमारे धमके मूल प्रथ ह । व ही धमका आधार ह ।

लेकिन गीताका कहना है कि जिन वेदामें यज्ञ आदि सकाम काम बताये हैं । वेदधमके बाद वेदान्तधम आया । गीता कहती है कि कदिक धम गुणत्रयके अतगत है और मोक्षार्थीको तो त्रिगुणातीत बनना है । अिसलिये वेदधमके प्रति आदर रखते हुअे यनधमका व्यापक अथ लेकर वेदान्तधमका, मोक्षधमका अनुगीलन करना चाहिये ।

दक्ष [१२-१६], दाक्ष्यम् [१८-४३]

√दक्ष [वृद्धी गीघ्राघे (गतिर्हिसनयो च)] कुगलतापूर्वक सतोपप्रद काम करना, बढना, तेजीम दौडना जाना, अिजा करना ये

जिस धातुके मूल अथ ह। दम्भ गणका अथ होता है हांगियार, मब
 आर ध्यान देनेवाला और कुगलताम काम करनेवाला। जिसका
 भाववाचक नाम है दाक्षयम (१८-४३) अर्थात् श्रमता। दाक्षयम और
 वौगन्मत्रा अथ करीब करीब अेक ही है। किन्तु वौगल्में कम-
 कुशलताका भाव अधिक है दम्भनामें सब ओर ध्यान और अवधान
 पहुचाना हर वस्तुका महत्त्व समथना, तारतम्यको नही भूलना य
 सब आतं है। [हमार दा हायाम से अधिक अपुयोगके कारण जिसकी
 दम्भता अधिक होता है उसे दक्षिण अथवा दाहिना हाथ कहत ह।
 प्रात काल सूर्यका दशन करनेके लिजे पूर्वाभिमुख खड होन पर जिस
 ओर यह दक्षिण हाथ हाता है उस दिशाको भी दक्षिण कहते ह।

सामाजिक गिण्टाचारमें जो कुशल है अुमे भी दक्षिण कहते
 ह। अुमके प्रिय आचारको दाक्षिण्य कहते ह और अुसके प्रदेगको
 दािण अथवा दखन कहते ह। य सारे गण मूल दक्ष धातुकी
 प्रभा ह।]

दण्ड [१०-३८]

√दण् (दण्ड निपानन दमने च) जुर्माना करना या किसीको
 रोकना (restrain)।

जिस गणके अनेक अथ ह। लाठीको दण्ड कते ह गधको
 जिभुण् कहते ह मयासीके हाथमें भी दण्ड रहता है। और
 राजाके हाथमें भी। राजा जिस अधिकार या शक्तिसे प्रजाको काबूमें
 रखता है, जुमागसे बचाता है और अपराधियाका सजा ेता है अुम
 मामध्यरा प्रतीक है राजदण्ड। मयासी जिस समय शक्तिमें अपन मनका
 रोकना है, अिद्रियोंको अुमागन बचाता है और अपनी साधनाका
 स्मरण जाग्रत रखता है अुस समय शक्तिकर, मवल्य शक्तिका और
 तद्वा विराधका प्रतीक है सन्यासीका दण्ड। गीतामें जब भगवान कहते
 ह दण्णे दमयतामस्मि तब राजदण् और समयदण्ड दोनोंका अुसमें
 अन्वभाव समझना चाहिये। बाह्य दण्ड असली तो पगुओके लिअ है।
 गिभाविनयके द्वारा जो लाग आत्मसयत हुआ ह — स्व-संय हुआ ह
 अुनके लिजे आत्मदण् ही पर्याप्त है। मनुस्मृतिमें दण्डका राजशक्तिका

प्रतिनिधि बताया है और भुत्तोको अब पुरुष समझकर कहा है दण्डो सुप्तेषु जागति दण्ड धर्मं विदुर बुधा । (मनु० ७-१८) राजा और राजपुरुष सो सकते हैं किन्तु दण्ड अखण्ड जाग्रत रहता है।

यवन देगका आत्मवीर सुक्रतु (Socrates) जब शिष्याका अतिम उपदेश देता है तब अपने देशके बानूनाको personify करके कहता है कि 'अगर मैं जान बचानेके लिये भाग जाऊँ तो मेरे देशके कानून मेरे सामने खड़े होकर मुझसे पूछेंगे कि तू यह क्या कर रहा है हमारी ही मददसे तूने आज तक जितनी बसत की, हमारे ही विधानम तूने गान्धी की हमारा ही रक्षण पाकर तूने ब्राह्मण सम्प्रदाय लाभ उठाया और अब जिस बुलापेमें केवल जान बचानेके लिये हमारा द्राह्मण करके अपमान करके भाग रहा है? तब मैं अह क्या जवाब दूंगा?' — इस अमर उपदेशमें उसने कानूनाको जीवित सनातन पुरुष माना है। मनुस्मृतिमें दण्डका भी वही भाव है।

वाग्दण्ड मनोदण्ड और कायदण्ड जिनका अङ्ग जिस सन्यासीने अपना बुद्धि पर रखा है और वासनायें जीत ली हैं उसे त्रिदण्डी कहते हैं।

राजशासनक जयगास्त्रमें शत्रुको जीतनेके चार अुपाय बताये हैं — माम, दाम भेद और दण्ड। वह अथ भी गीताके जिस दलोकमें अभिप्रेत है। सर्वो दण्डजितो लोक । (मनु० ७-२२)

दम [१०-४, १६-१, १८-४२]

√दम् (अुपशम) काबूमें लाना समय करना गान्त करना दवाना ।

दमका अर्थ होता है बाह्य अिन्द्रिय-अुपशम । शम यानी 'अत-करणम्य अुपरति ।' दमके द्वारा अिन्द्रियाका बाहरमें रोका जाता है। शम, दम अुपरति तितित्था श्रद्धा और समाधान अिन छह योग्यताअसि जो युक्त है वही मोक्ष विद्याका अधिकारी बनता है। अिनमें सबसे प्राथमिक योग्यता है दम। अिसमें केवल बाह्य अिन्द्रियके व्यापारका निग्रह अथवा निरोध करनेकी बात है। यह सिद्ध होनेके बाद शमकी

प्राणपणसे कोणा करता है। दयाका दूररा भाव है किमीका दुख दखकर प्रेमादरके साथ अुसके प्रति मुलायम बनना। असी दया प्रेमका, सहानुभूतिका सात्त्विकताका लक्षण है।

छोटे बच्चाका, पूराको अथवा असे ही नाजुक जोर प्रेमास्पद तत्त्वोको देखकर चित्त जा मुलायम हाता है अुसका भी दया कहन ह। अिसी परसे पत्नीके लिये सस्कृतमें दयिता गन आया है।

अुपनिषदमें दानव मानव और देव तीनाका हृदयधमकी दाशा देनेवाले प्रजापतिने कहा कि दया दान और दमन जात्म-सयमके ये तान तत्व सस्कृतिकी बुनियादमें ह। क्रूरता और अुपशा दूर करनेके लिये दया, स्वाध और लोभ टालनेके लिये दान और विलासिता और अिद्रिय पूजाका हटानेके लिये दमन। अपि कहता है कि द द द की धापणा करके पजयकारी मेघ भी यही धापणा करता है। बहदारण्यक कहता ह कि जिसे हम प्रजापति कहत ह वह हृदय ही है। अेप प्रजापति यद हृदयन। दप [१६-४, १८, १८-५३]

√दप (हृण-मोहनयो सन्दीपने च)। श्री गकराचार्यने दपका जय गवका स्वरूप बताया है। दप वह गव है जो हृणमें अतभूत है और धमका अतिभ्रमण करनेमें मन्द करता है। हृष्टो दप्यति, दुष्टो धमम अतिभ्रामति। हृणयुक्त पुष्य धमण्डमें आता है और धमण्डस धमका रास्ता चूकता है। धमण्ड अन्त करणका ही अेक दोष विशेष है। धनक कारण अथवा बलिष्ठ स्वजन परिजनके कारण मनुष्य धमण्डमें आता है। बुद्धि गक्तिके कारण भी छिछले लग धमण्डमें आते ह। यह सन्दीपनका दोष है।

दर्शन, तत्त्वदर्शिभि [२-१६], समदर्शिन [५-१८], समदर्शन [६-२९], तत्त्वज्ञानायदर्शनम [१३-११], दुखदोषानुदर्शनम [१३-८]

√दृग (प्रेक्षणे) = दखना, पढ़ना जानना।

अुपनिषदका सबसे श्रेष्ठ अुपदेश है 'आत्मा वा अरे द्रष्टव्य, ध्यानव्य, मतव्य, निदिध्यासितव्य' (बृहदारण्यक २-४-५ ४-५-६)। अिममें स आत्माके लिये जा 'द्रष्टव्य' गन आया है अुसी परसे अध्यात्मगाम्त्रको

दणनान्त्र बहून् ह । शानदृष्टिगे दणना बहूी है मन्वा न्निन । बहूी है तत्त्वानानाधन्ना ।

दातव्य [१७-२०], यष्टय [१७-११]

√दा (दाने) दना अपण करना । √यन् (यजूना-मगनि करण-यजन-गानपु) नान करना हवन करता महवाग करना दक्यूजा करना ।

गीतान करने लायक (काय) 1म तीन गाग कम यनाय १ दण, दान जीर तप (१८-५) । जिमात्रिंशे काय्या १ मुस्य लीन प्रनाय दृभे — यष्टय दातय तप्तय अथवा तपनीय । य ताता मामाजित जीवना लज और आत्मगुडि और आत्माप्रतिता त्रिंशे आययव इतनेक कारण निष्काम बुद्धिसि अिह करना चाहिये । अगर वाआ कामता १ रही तो भी जिनको छोडना नहीं चाहिये । जिगालिभ कहा है — दातव्यम् अिति कायम् अित्यय यन् कम अि० 'कार्यं अय तन् अित्यानि ।

दानम [८-२८ १०-५, ११-४८, ५३, १६-१ १७-७, २०, २१ २२, २५, २७, १८-५, ४३], दातव्यम् [१७-२०]

√दा (दाने) देना ।

दानका मुख्य अय केवल देना है । जिस परस भेंटमें देना, अपण करना बहाना ये सब भाव आत ह ।

गुड समाजशास्त्र और अध्यात्मशास्त्र कहता है कि जिगी भी यकिनको कोअी चीज अपने पास मात्रिकके तीर पर स्वाभी भावमे रखाका अधिकार नहीं है परिग्रहमात्र दोष है । जिस दोषक कुछ परिहारके लिअ दानका क्तव्य बताया है । दूसरोकी आवश्यकता दंतते ही अपने पास रही हुअी चीज तुरन्त द देनकी वृत्तिको दान-वृत्ति कहते ह । दान क्तव्यरूप होनेमे दान न्नेमें सचमुच कुछ पुण्य नहीं होता । किन्तु न देनमें द्रोह या पाप होता है । गानाने यण दान और तप क्तव्यरूप बताया ह । (१८-५) कायम अेव तत, यष्टयम दातयम और क्तव्यम ये सब धमशास्त्रके आदेश ह । अिनमें विकल्प नहीं हो सकता । जिसलिअे गीता कहती है कि

कृत्य समझकर दना चाहिये। बदलेमें कोओ लाभकी आशा न रखते हुअे दना यही अच्छा दान है क्योकि वही सच्चा दान है। शेष सब दान कल्पित ह हीन ह। देनेवाला सामाजिक कृतव्यका पालन करता है। अिमलिजे माचकर याग्य काल, योग्य स्थल याग्य पात्र और योग्य पद्धतिका विचार करना अुमक लिये लाजिमी है। अिसमें शिथिलता या बेदरकारी रखनेसे समाजकी असेवा हाती है और दान पापरूप हाता है। 'अपात्रे दीयते दानम दातारम नरकम नयेत'। अिसीलिये किसीने कहा है कि कयादान जितनी सावधानीमे किया जाता है अुतनी ही सावधानीसे सब तरहका दान दना चाहिय। अेक बौद्ध साधु अिस प्रकार विचार करता है—म निरिच्छ हू मन्तुष्ट हू, काओ चीज अपनातेका न मुने अधिकार है न अिच्छा है। अिमलिये मेरे पास जो चीज पडी है अुम मुचे फेंक दना चाहिये। किन्तु यह चीज किसी न किसीके कामकी है। फेंक देनेसे अुसका दुरपयाग होगा, समाज द्राह होगा, अिसलिये अमे जान्मीको दूढ लूंगा अिस अुसकी जरूरत है। अुस देकर अुस चीजकी अज्ञातम म मुक्त हा जाअूगा। असा करनेमें म न स्वाय-त्याग करता हू और न परोपकार। दानम मुचे कोओ पुण्य प्राप्ति नही है अज्ञातसे मुक्ति जरूर है।

एषवतथ्य चेत मया सब वर सत्त्वेषु दीयताम।

मुचे यदि सब त्याग करना ही है तां बेहतर है कि वह सब गरजमन्द प्राणियाका दिया जाय। (अरिचर्यावतार ३-११)

दिव्य, देव

दे गच्छ गीतामें अनेक जगह जाये ह।

✓ दिव् (क्रीडा-विजिगीषा-व्यवहार-श्रुति-स्तुति-मोद-मद-स्वप्न-बान्नि-गतिपु)। दिव्के खेलना वेचना, प्रकाशित होना, जीतना, चाहना आनन्दित होना, नादसे घरे जाना प्रगति करना, अुपहास करना अिस्यादि अनेक अर्थ हैं। आकाशके तारे प्रकाश देत ह अिमलिये अुह दय कहा है अुसी तरह हमारी अिद्रिया भी देव ह। (देखें मनद् देया प्राप्नुयन् पूवम अवत'—अीगोपनिषत्) जो चीज प्रभावगाली है प्रकाशमान है, अुसे देव कहते ह तथा असी प्रभा या

प्रभावको दिय कहते ह। भगवानकी विभूतिया भी दिव्य ह। जो चीज अपनी योग्यताके कारण स्वर्गीय-सी दीख पड़ती है उस हमारा दिव्य विशेषण लगाया जाता है।

दीघसूत्री [१८-२८]

जो मनुष्य काम समय पर नहीं करता है उस दीघसूत्री कहत है। कतयमें विलम्ब करके आज या कल करनेका काम महानमें भी पूरा नहीं किया करता है वह दीघसूत्री है अमा श्री धरराज्यायन वणन किया है। 'दीघसूत्री विनश्यति यह कहावत सब जानते ह। तामस स्वभावक बर्नाका यह लक्षण है।

दुरासदम [३-४३]

बड़े कष्टसे जो जीता जाता है वह दुरासद है। उस दुजय भी कहते ह। दुर्योधन शकटा अथ भी वही है। काम श्राध रूपी दुर्योधन, सनातन शत्रुको ही आत्मशक्ति द्वारा मारनकी बात गीताने कही है। सच्चा भारतीय युद्ध उसी दुर्योधनके खिलाफ है।

जहां तक गीताका सबध है भारतीय युद्ध अक रूपक हा ह। अिसमें काम क्रोध रूपी पापी शत्रुको दूर करके या मार करक मुक्त होवकी बात है। अिसी शत्रुको गीताने दुरासद मानी दुर्योधन कहा है। वह मनुष्य-जातिका निय बरी है।

दुःखहा [६-१७]

दुःखका नाग करनेवाला दुःखहा है। √हन परसे हा हुआ है। दुःखानि सवाणि हन्ति अनि दुःखहा। याग सवमसार-दुःखक्षय वृत् भवति।

दुःखम [२-५६ ५-६, ६-३२ १०-४, १२-५, १३-६, १४-१६, १८-८ अित्यादि]

√दुःख (दुःख त्रिषायाम्) दुःख देना।

मुल-दुःखका व्याख्या अिस प्रकार की है — अनुकूल वन्नीयम सुखम प्रतिकूल-वेदनीयम् दुःखम बाधनालक्षणम्। मुखको व्याख्या

दुःखामात्र 'असी भी की है। सुख चार प्रकारके हैं वययिक, आभिमानीक, मानारथिक और आभ्यासिक। जिस सुखके बाद दुःख आता ही है उस दुःख ही कहना चाहिये असा अभिप्राय तत्त्वशास्त्रकार है। वे कहते हैं कि शरीर भी सुखका आयतन होनेमें स्वयम् दुःखरूप है। व्याधि आदि शारीरिक दुःखके सिवा काम, क्रोध, लोभ मोह भय, बीषा विषादके कारण भी मानसिक दुःख हाता है। यह सब रजोगुणके कारण होता है। तमोगुण भी दुःखकारी है। जन्म और पुनर्जन्म दुःखसे भरे हुए हैं।

योगक द्वारा दुःखका नाश होता है। और मासके द्वारा दुःखका आत्यन्तिक नाश होता है। मूढ लोग मोहवश होकर शारीरिक आदि सुखाको अिष्ट मानते हैं। विवेकी लोग ऊपर बताये हुए चार प्रकारक सुखाका दुःखकारक समझते हैं। दुःखम अथ सवम विवेकिन।

(स और सुख-दुःख शब्द भी देखिये।)

दुःख शब्द जब नियाविगण होता है तब उसका अर्थ होता है कष्टन। अिसी तरह सुखम् यानी आसानीसे।

दुःखालयम् [८-१५]

आशय कहते हैं घरका, आशय-म्यानको। पुनर्जन्मसे प्राप्त होने वाला अिस दुःखकी जिन्दगीका अनुभवियाने दुःखाका घर कहा है। सब प्रकारके दुःख अिसी जिन्दगीका आशय करके रहते हैं।

दृढव्रत [७-२८, ९-१४], दृढनिश्चय [१२-१४]

दृढ यानी मजबूत है निश्चय अथवा व्रत जिनका। दृढनिश्चयमें निश्चय शब्दका अर्थ होता है सकल्प। आत्म-तत्त्वके बारेमें जिसके मनमें काभी सन्देह नहीं रहा है और आत्मप्राप्तिका सकल्प जिसका दृढ है अने दृढनिश्चय कहा है। दृढता का अर्थ जगह पर (९-१४) अर्थ होता है दृढता ही है व्रत जिनका अर्थवा जा लाग अपने व्रतमें, निश्चयमें दृढ ह असा भी अर्थ लिया जा सकता है। सातव अध्यायक अष्टाशिनव श्लोकमें भी यही अर्थ है। किन्तु शंकराचार्यने अर्थ किया है 'अथम अर्थ परमायतत्त्वम न अयथा' अिति अर्थम निश्चितविज्ञाना

दृढव्रता बुच्यते । परमायतत्व अिसी प्रकार है दूसरे प्रकार नहीं है असा जिनके मनमें निश्चित धान हुआ है बुह दृढव्रत कहत ह । व्रतका सामांय अथ हाता है आचार विषयन काओ निश्चय समय या सकल्प । व्रत लनके बाद जिनका सकल्प या निश्चय डोला हो जाता है वे ह सिथिल व्रत अथवा व्रतदुबल जोर जिनका व्रतसकल्प मजबूत है वे ह दृढव्रता ।

दृष्टिम [१६-९]

√दृग् (प्रक्षण) देखना । मनुष्यकी जिद्रियामें सबसे थप्ट ह जाखें । और सब अिद्रियाका पहुच (range) बहुत कम होती ह । (सूय चद्र और ताराका प्रकाश हम करोडो तेजाबकी दूरी पर स भा दत सकत है, किन्तु ध्वनि तो पथ्वीके बाहरका सुनाओ नहा दती ।) दृष्टिक कारण ही मनुष्य अिस विगाल विश्वका कुछ ह तत समझ पाया है । दृष्टिकी यह असाधारण शक्ति देखकर ही मनका जाकलन शक्तिको भी हम दृष्टि कहन लग । अिद्रियगाचर वस्तुका जब हम प्रत्यक्ष कहत ह (जसे कि यह बात मन प्रत्यक्ष सुती है) तत जाखको ही हम आग करत ह । जब अपुनिपदके अपिन कहा — आत्मा वा अरे इष्टव्य धीतव्य मतव्य निदिध्यासितव्य — तव चमच तसे आत्माको दानना बात नहीं थी । आत्माना — परम तत्वका — दान करनेवाली विद्याको दानगास्त्र कहन लग । हरअक दानकी अपना निजी दृष्टि हाती है दृष्टि यानी जीवनदृष्टि । [असीका जग्रणीमें view of life अथवा outlook on life कहते ह । Outlook का अपेगा Inlook कहना ठाक है । अिसक लिअ अग्रजीमें Insight गल है ही ।] द्या और आयुरी य दाना भिन्न भिन्न दृष्टिया ह । अन्तर्बाह्य सृष्टिका निरीक्षण चिन्तन करके कुछ अभिप्राय या मिडान्त पर हम आ जात ह । असीका हम अपनी दृष्टि बन्त ह । किन्तु अधिकगत ता अपन परिमित अनुभवक कारण अथवा परमरा या पूर्वग्रहक कारण हमारी जमी दृष्टि हा गयी है वसा ही मृष्टि हमें न्ति पढती है । अिमीलिअ कहते ह जसा दृष्टि वमी मृष्टि ।

देवद्विजगुरुप्राज्ञपूजनम् [१७-१४]

गीताके गुण-मह्यानमें तपका ही सबसे अधिक विस्तार किया है। तपके गारौरिक वाचिक और मानसिक असे तीन भेद करके सत्व रजस्, तमसूके अनुसार भी फिरसे तीन विभाग किये ह। मस्मृत्तिका यानी मामाजिक अधुननि और प्रगनिकी बुनियात् ही तप है। जब तब भाषी (Bellows = धौकनी) जोरसे चलती है तब तक ही मट्टीकी अणुता दवेत काटिकी रहती है भाषी गियिण्ट हुज्जी कि नट्टीकी अणुता तुरन्त मन्द हान लगती है। मानवी मस्मृत्तिका भी असा ही है। जब तब ममाजका तपस् तज कायम रहता है तब तक ही अधुननिक तत्व बन्ने जाने ह।

दवी सपनका विस्तार समझान हुजे भगवानने मामाजिक अत्यपक लिजे परमावश्यक जा छब्बीस गुण बताये हैं अनुमें भी तपको स्था दिया है। हमारे दगमें गारौरिक तपक अनक प्रकार प्रचलित ह। अनुमें स बडी ता निरयक अथवा हानिकारक ह। तमागुणक कारण वे चल पडे हैं। मूत्रप्राह अथवा विराधीका द्वेष हा असका कारण है। सात्त्विक युक्तिम प्रेरित हानर मानसिक और वाचिक तप बरनक माय कुछ गारौरिक तप नी आवश्यक है। मीधे राम्मन चलना गुविभूत रहना, किनीकी हत्या न करना, ब्रह्मचयकी रसा करना ये सब बानें अितनी मिद्ध और स्वाभाविक हानी चाहिये कि गाराका आत्मन ही अनुका महान पात्रन हाना चाहिये। यही है गारौरिक तप।

अब अिने साथ साथ गारौरिक तपमें पूजन नी रसा गया है। पूजन यानी आदर करना गया करना, सन्मग बनना गुभ्रूपा बनना, पूजाह व्यक्ति जमा बहें बना करना, और अनुका अनुकरण करन हुजे मन्मचारकी आन्त डालना, ये सब बानें पूजनमें आनी ह।

एकिन पूजन कितका कर? गीता कहती है कि आध्यात्मिक मस्मृत्तिके यानी दवी सपनूके आधार-स्वरूप जा व्यक्ति हैं अनुका पूजन करना चाहिये। भुगम हा अपर बताया हुआ गारौरिक तप बडना है।

देव, द्विज, प्राज्ञ और गुरु, अिनका साम्बृत्तिक पाव क्या है यन् अर हम देरों। अिन तत्त्वाका हम ध्यान करन हैं अिन तन्वासा

श्रुपामना करत ह बुहीका देवता कहत ह। हृदिस्था देवता सर्वा ' जित्तन भी दव ह मनुष्यक हृदयमें ही ह। आजकी परिभाषामें कह ता मनुष्य-जातिके हृदयमें जो जीवित (कार्यावित हानवाले) चरम आत्मा ह वे ही देवता ह। तन मन प्राणसे बुनकी श्रुपासना करना बुनकी सन्निधिका प्रत्यक्ष अनुभव करना यही बुनकी पूजा है। यहा शारीरिक तप है।

अस आध्यात्मिक ससृष्टिका सरक्षण सवधन पापण और प्रचार करनेका भार जिन वर्णोंके सिर पर है वे ह द्विज। सामाजिक आदश और सामाजिक बुद्धिमत्ता केवल ब्रह्मों या दिमागमें रहे तो बुसस समाजका हित नहा होता। बुच्च जीवनके द्वारा बुह आचारमें सिद्ध करना स्थापित करना यही मुख्य काम है। जा द्विज लोग यह काम करते ह बुनका सत्सग करना यही बडा शारीरिक तप है। सामाजिक अधपातक अन्क कारण बतात हुअ शास्त्रकारान कहा है ब्राह्मण-अदशनन च — ब्राह्मणोंके अदशनसे बुनकी मुलाकात न लेनस बुनका सत्सग न करनसे समाजका अधपात हाता है।

ब्राह्मणोंके जलावा और भी जो लोक हित चिन्तक विद्वान पानी पुरुष ह जिनकी बद्धि मुञ्जी हुअ है बुनका भी सत्सग करना चाहिये। वे ह प्राण।

अ हम गुरु शब्दका विचार करे। अद्वय-तारक जुपनिषत्में गुरु शब्दका निरक्ति अस प्रकार दी है — गु शब्द तु अधकार स्यात् श गत् तन्निरोधक । अधकार निरोधित्वात् गुरु जिति अभिधीयते ॥ दव द्विज और प्राण ताना समाजकी सामाय रूपस सेवा करते ह। जो गुरु हात ह व अपने गिप्याको यक्तिगत रूपसे पहिचानकर विगिष्ट परिस्थितिमें बुनकी बुजतिना क्या रास्ता हो सजता है वही बताते ह। जिसलिज गुरुकी सवा सवसे श्रष्ट होती है। जिस तरह कुटुम्बना वध Family Doctor कुटुम्बक सव लागाना जितिहास और विगिष्ट्य जानकर हरजककी चिकित्सा करनमें सफल हाता है जुसी तरह गुरु भी गिप्यरी गक्ति अगक्ति खामी खूबी और परिस्थिति य सव जानकर मागगान कराता है। असका सत्सग बुजतिके लिअ परमावश्यक है।

सत्सग चीज है ता हादिक किन्तु बडाके पास बार बार जाना, धयके साथ अनुक पास बठना, नम्रता और तत्परताक साथ अनुकी शुधुपा करना, सूक्ष्मतास अनुके जीवनका और अनुकी कायपद्धतिका निरीक्षण करना ये सब बातें परिश्रमपूर्वक शरीरसे ही करनेकी हाती ह। अिमलिजे दव द्विज, गुरु धानकी पूजाका अन्तर्भाव शारीरिक तपमें किया है।

अस पूजनके द्वारा सामाजिक सस्कृतिकी रक्षा होनी है और आत्मिक अुन्नति सहज सिद्ध होती है।

देवयज [७-२३], देव यज्ञ [४-२५]

जिस यनमें देवाका पूजन हाता है, वह देव यानी देव-सम्बन्धी यन है और असा यन करनेवाले देवयजू ह। मामूली तौर पर देव यन वही है जिसमें समिधा द्वारा अग्नि प्रदीप्त करके देवाके नाम आहुतिया दी जाती ह किन्तु गीताके व्यापक अथमें देव यन जे विराट व्यापार है। (अध्याय तीमरेके दसव ग्यारहव बारहवे चौदहव और पन्द्रहव तथा सोलहव श्लोकमें देखिये।)

सृष्टिमें सूय प्रवाश जल, आकाश, अग्नि आदि जा प्राकृतिक तत्व या शक्तिया ह व सब वदिक जपियाके देव ह। अनुके द्वारा पञ्चयकी सृष्टि, धाय, तृण वनस्पति आन्िकी सृष्टि अित्यादि जा सब व्यापार चलते ह व विराट यन ह। अस विराट प्रवृत्तिके साथ सहयाग दना और अिन सब शक्तियाकी सेवा करना मनुष्यके लिअ सहज यन धम है, अमे यन धमका जा पालन करता है वह देवयन अथवा ऋयाजी है। देवयाजी ही निष्पाप जीवन व्यतीत कर सकता है, अुमका जीवन ही सबभूत हितकर होता है, वही पुरुष निष्पाप है।

देवर्षि [१०-१३], राजर्षि [४-२, ९-३३], अृषि [५-२५, १०-१३, ११-१५, १३-४], महर्षि [१०-२, ६, २५, ११-२१]

हिन्दू सस्कृतिका पाश्चात्य लगाने ब्राह्मण-सस्कृतिका नाम दिया है। अन्का कहना है कि ब्राह्मणाने ही अिम सस्कृतिकी नाव डाली

है अन्हाका प्रभाव अिस ससृति पर है और ब्राह्मण-जीवनका आत्मा ही अिस ससृतिमें सब गूढ माना जाता है। चर लोकाका कहना है कि यति धमका ही अिस ससृतिमें श्रेष्ठ माना है। वात्म यति धमका स्यात् त्रिया नत मनन और भक्ति मागन। अगर ब्राह्मण-धम यतिधम सतमत और भक्तिमागका जेवत्रित विचार करके और चार वर्णोंका तथा चार आश्रमोंका ख्यात करके सिद्ध धमको कोजी नाम देना हा ता जुस अर्पिधम जयवा आपधम कहना योग्य होगा। अपि ब्रह्मचारी नी थ और गृहस्थाश्रमी भी थ वे पुराहितका काम भी करत थ और राज्य भी चंगते थ। भक्तिमाग और योगमाग दाना जिन्हीके चलाय हुआ ह। जान और अुपासना दोनोंका विस्तार जिहास कारण हुआ है। गहराका स्थापना करना और जरण्यामें जाश्रम चलाना दोनों जिहीकी प्रवृत्ति ह। भारतीय ससृतिकी आप ससृति ही कहना चाहिये।

अर हम अपि गत्का विचार कर। अपि गत् \sqrt{a} धातुसे अथवा $\sqrt{अप}$ धातुसे जाया है ($\sqrt{अ}$ गति प्रापणयो)। अ अ अप हाता है जाना पहुचना घूमते रहना प्राप्त करना। अपका भी अथ होता है जाना बहना प्रगति करना और मारना।

अपि लोग प्राणके मूत्र स्रावक तौर पर जिमकी अुपासना करते ह जुम पूषा स्यका भी अन्हार अेवर्पि कहा है कयाकि वह अकेला आकाशमें चलता रहता है। हमारे अपि भी प्राचीन कालसे अिस भूमडलमें चरते रहे ह। चलनेमे ही अुहान अपनका तन्स्वी और शुद्ध रखा है। चलकर हा थ जान और ससृतिकी प्रचार कर सक। वं न केवल पथी पर ही धूमे किन्तु जानके क्षत्रम भी अुहान नय नय प्रण पादाकात किय। ये अपि असे योग प्रवाण थे वम हा प्रयोग-वरायण भा थे। अपि लग हमगा प्रगतिके अशभागमें ही रहे अिमलिथ अिहे कान्तर्गीकी अुपाधि मिला है।

ये अपि जीवनस कभा माग नहीं। जावनक प्रयोग करत कान्त अिहान भूल भा की ह, बडे बडे पाप भी किय ह किन्तु अिहाने अपने पाप कभी छिपाये नहीं। भविष्यकालके लोकाका चेता

वनी देनेके लिये अन्हाने अपने पापारा ययान स्पष्ट गलामें प्रथित करक रखा है। अिस तरह अन्हाने अपने पापके द्वारा भा सम्भृतिकी सेवा की है। असे अपि केवल ब्राह्मण वर्णमें ही पन्ना हुअे ह मा न्ना। जनक जम राजपि वमिष्ठ जस ब्रह्मपि नारत्त जसे दर्वपि पुराणामें सुविख्यात ह। विद्यामित्रने राजपि हान हुअे ब्रह्मपि पन् प्राप्त करनका वागिग का थी। भृगु और गौतम जम महर्षियोंने जावनस घमना पितनी ही प्रेरणा मिनी है। विप्रपि अथवा ब्रह्मपि और राजपिक समान वन्द्यपि भी हुअे हैं हालाकि पुराणामें अनुना अंगु नाम लिखि नहीं है। शूद्रक समान तपस्वाका माधनाका आत्मा क्या था सा हम नहा जानत पायद बुद्धे शूद्रपि वननकी अिच्छा रहा हा। आचार्योंमें ता प्राचीनान आर्येतरारा भा गणना की है। ज्योतिषशास्त्रमें यवना चायका अुल्लेख आता है। अपियामें भी यवनापि अवश्य हुअे हागे। अिस सिन्धिलेमें टान्सायायका नाम ध्यातमें जाय बिना नहा रन्गा। महात्माजीका भी अपियाकी कात्थिमें गिनना हागा।

(अुपि गल भी देखिये।)

देहम [४-९, ८-१३, १५-१४] देही [२-२२, ३०, ५-१३, १४-२०]

देहका अय होना है गरीर। गीतामें अुम क्षेत्र भी कहा है। क्षेत्र गल अिसलिअे महत्त्वका है कि अुसकी व्याख्या करन हुअे (१३-१ ५ ६) दृष्ट या गरीरमें कौन कौनसी वानें आना ह यह विस्तारम कहा है। अुम परम मालूम हाता है कि गरागमें पच भतात्मक कलेवर अुसका अिन्द्रिया अुनके व्यापार और विषय, बुद्धि और अव्यक्त अिच्छा द्वेष, सुख, दुख, समान चेतना धृति आदि सब कुछ आ जाता है। असे सविकार देहमें वास करनेवाले आत्माकी देहा कहा है।

अेक आत्माका छोडकर बाकी जो कुछ भी रहता है वह सब मिलकर क्षेत्र अथवा गरीर या देह कहलाता है। [अिसी सिन्धिलेमें 'क्षेत्र गल भी देखिये।]

दवम् [४-२५, ७-१४, ९-१३, १६-३, ५, ६,
१८-१४,]

दवम् यानी देव विषयकम् दव-सम्बन्धा।
दवताआच जुद्गात् किय ह्वय याता दव यन कट्टन ह। अत
यज्ञाने द्वारा दवाकी पूजा हाता है। दवका अय नमीव अयवा अदृष्ट
भी हाता है। किसी भी घटनाके सब कारण हम नहीं जानत। जा
कारण हम नहीं देख या समझ पात ह बुद्द अदृष्ट अयवा दव
रहते ह। (१८-१४)

सम्पत् जयवा ससृष्टिके विभागमें दव और आगुर अते दा
भाग किय ह जिसका विस्तार सालहव अध्यायक प्रथम तीन श्लोकामें
या है। जिस दवी सम्पत्में ही सामाजिक कल्याणके सब सद्गुण
जान ह।

प्रयज्ञा [४-२८, ३३]

गीता ४-३३ में द्रयमय यज्ञका जित्त है। गीता ४-२८ में
द्रय विनियोग द्वारा यन करनवाले लोगका जित्त है। अपनी साधन
सम्पत्ति किसी भी रूपमें परापकारमें लगाना यह द्रव्ययन है। जिनक
पात धन धायादि स्थूल द्रय ह वे ही द्रययन कर सवने ह।
पानयन तपायज्ञ जययन अित्यादि यज्ञावा अपना द्रव्ययन स्थूल
है अिष्ट और पूत अुसके दो विभाग ह। गीताका अभिप्राय है कि
द्रययनकी अपेक्षा पानयन थच्छ है कयाकि द्रयमय यज्ञ जम-जम
फलका आरम्भ कर देता है पानयन वसा नहीं करता।

द्वद्वमोह [७-२७], द्वद्वतीत [४-२२ ७-२८]

सब प्राणियाको सुख-दुखका अनुभव होना ही है। सुख दूटना
और दुख टालनकी काशिंग करना यह प्राणीभावना स्वभाव है।
किंतु मनुष्य-बुद्धि देना कि जितन सुख ह वे सब हितकारी हैं
असा बात नहीं है। जुसी तरह जितना दुख है वह सब अहितकर
ही है अमी भी बात नहीं है जिसलिअ सुख दुखकी प्राणी-सहज प्ररणासे
चग्ना मनुष्यके लिअ अुचित नहीं है। मनुष्यन यह भी देखा कि सुख

होने ही हृष भरित हा जाना और दुख सामन बुद्धिग्न या परास्न हा जाना मनुष्यकी प्रतिष्ठाके लिअे लज्जाकर है। तीसरी बात मनुष्यने दम्बी कि मत्वाचारका फल सुख है और दुराचारका फल दुःख है असा भी निश्चित नियम नही है। जिसलिअे सुखके और दुःखके साथ काजी निश्चित नतिव मूल्य जुडा हुआ नही है। जसी हालतमें अिन दानाकी बार अुत्सासीन रहना ही योग्य है। दुःख आ पडन पर हम बुद्धिग्न न हा जाय सुखके लिअे लागापित न हा जाय इसीमें मानवता है।

सुख देनेवाली वस्तुअें ह लाभ, विजय आदि प्रिय वस्तुअें। दुःख देनेवाली चीजें ह हानि पराजय आदि अप्रिय वस्तुअें। अिन्हीका — लाभ अिच्छा-द्वेष जयाजय गीत-अुष्ण, प्रिय-अप्रिय, असे परस्पर विराजी तत्त्वाको — सम्बृतमें द्वन्द्व कहते ह। द्वन्द्व याना जोडी। अिन जाडियाक मोहमे अथवा अगरसे जो मुक्त है अुह द्वन्द्व-मोह निमुक्त अथवा द्वन्दा तीन कहत ह। गुद और आदस जीवनका लक्षण ही यह है कि अिन द्वन्द्वाने चाहे जितन आघात किये तो भी मनुष्य अविचलित ही रहेगा। अमेका निद्वन्द्व (२-४५, ५-३) भी कहते ह।

द्वन्द्व-भाहके कारण मनुष्यकी बुद्धि गक्ति और निणय गक्ति क्षीण हाती है विवृण भी हानी है। स्वमान और स्वहित दानाका भूलकर मनुष्य चारिष्य भ्रष्ट होता है। अिसलिअे चारिष्यजान मनुष्यका चाहिये कि वह द्वन्दा पर विजय प्राप्त कर।

कठोपनिषदमें यमराजने भचिकेताका समझाया है कि श्रेय अलग है और प्रेय अलग है। मद लोग सुख-दुखकी प्ररणाकं यग हाकर प्रेयका पसद करत ह। लेकिन जो धार यानी बुद्धिमान ह व श्रेय प्रेयका विवकं समथकर हितकारी श्रेयको पसद करते ह। अुनका भला हाता है। जो प्रेयकं पीछे पडा अुसका नुकसान होता है। (कठ० १-२-१ २)

धमकाम , कामकाम [२-७०, ९-२१]

धमकाम गळ कठोपनिषदमें आया है।

धम काम अथ और मोक्ष ये चार पुरुषार्थ माने गय ह। पुरुषार्थका अथ हाता है जीवनका अन्तिम अुद्देश या जीवनको कृताथ

करनेका प्रधान प्रवृत्ति। वदातका यानी सच्चा तात्त्विक दृष्टिग दगनम
 माम् हागा कि चरम पुरपाथ त्रेण हा है—विनाभयव। भिन
 विश्वामक्यको पानवे लिअ पावृन मूढ मनुष्य तरह तरतर रिपन
 प्रयत्न करता है। कामाभोग द्वारा जीवनको वृताय और गुनी करनेकी
 कागिग करता है। वामें जुसवा व्यथनागा गागागर इन पर यह
 दूसरा रास्ता लता है मोनना। जिस तरह चरम पुण्याथ रिअ जा
 दो राम्न लिये जाते ह अन्हावा—काम और मोनको—पुण्याथ
 कहा गया है।

जत्र जितका मिद्विक लिअ जयती आस्यरता हागा ही है।
 अिमरु अगावा कामवा सपरा करनक रिअे जुस अुतरुष्ट और अुतरु
 वनानक लिअ मदाचारकी यानी धमकी भी मरु नी पडती है।

रिअर माथ प्राप्तिक रिअ धर्माचरण अनि आवग्या है। धर्मा
 चरणक लिअ अथस भी वदत कुछ गहायता मिअ मरती है। अिम
 तरह काम और माक्ष दोनारे मरुदगार होनके कारण धम और अयकी
 भी पुष्पथमें गमार किया है।

मा तकी तीत्र अिच्छा जब तक जाग्रत नहा हुआ है तब तर
 धम अत्र काम तीनाका यथापमाण और परस्पर अविरोधी सेवन
 करनेका विधान ह।

धर्माथकामा समम अेव सेव्या
 प जवसधी स नरो जघय ।

गीतामें भी भगवान अपना विभूति-योग कहा हुआ जाहिर करत
 ह 'धर्माविद्वो भूतेष कामोर्जस्म भरतधम ।' अर्थात् धमको सभालते
 हुजे जा कामका सेवन है वह मेरा ही विभूति है।

सस्कृतमें अय गदसे राय यवस्थाका भी भाव दिया जाता
 है। चाणक्यका अथगास्त्र सम्पत्तिशास्त्र न होकर राज्य सचालनका
 गास्त्र है।

नव भाग्मावायन कहा या "अथस्य पुष्यो दास अर्मा दासो न
 कस्यचित्" तब अुसका अय हम है मकने ह—The individual

is subordinate to the State The Sovereign state is subordinate to no one. राज्य-पूजा धमका यह सिद्धान्त है।

जिस अथमें भीष्म द्रोण, कृप आदि आचार्य और गुरु सब आचार्य आचार्य, धम अधम आदि विक्क भूलकर दुर्योधनके द्वारा चलायी हुयी राज्य-व्यवस्थाके दास बन गये थे। जिस नये अथमें वे मक्के मक्के अथ-काम थे। अगर वे धम-काम भी हाने ता अक्-सविनाका जघयताम मुक्त हो जान।

कामके साथ धम और सु राज्य-व्यवस्थाका सम्बन्ध कितना घनिष्ठ है यह नीचेका पक्ति बताती है

राजानम प्रथमम विदे ततो भार्याम् ततो धनम्।

अपनामी जिस तरह अकागी और जघय होता है असा तरह कामका भी अकागी और जघयतम हाना है और असाका जीवन असाकी दृष्टिसे भी कभी सफल और कृताय नहा हाना। न असा कभी तृप्ति होती न गान्ति प्राप्त हाना है। कामकी अिच्छा करने वाले कामकाम अथवा कामकामी लग बडी तपश्चर्या करते ह अपभाग करत ह अश्वय पात ह यज्ञ-याग करके स्वर्गमें जाते हैं। वहा स्वर्गाय अपभोग पाकर अक्-दूसरेकी अपिप्यामे जलने रहने ह और पुण्य क्षीण हाने पर (Bank Balance खतम होने पर जिस तरह हाटलमे निवाल दिया जाता है असी तरह) स्वर्गकी विलास मूमिस मत्यु लोकमें फेंके जाते ह। कष्टसे चटना और अकाअक् आसानीसे गिरना यही अिन कामकामियाके भाग्यमें वदा रहता है (९-२१)। समयी लगाका जो स्वास्थ्य मिलता है जा आत्मनृप्तिका अनुभव रहता है जो जचल प्रतिष्ठा अुहें प्राप्त रहती है वह और अुमकी गान्ति कामकामी मनुप्याका नहा मिल सकती। (२-७०)

अुपनिषदमें धमकाम शब्द आया है। अथकाम और कामकामक साथ धमका विचार करना ठीक है। (तत्तिरीयोपनिषद् १-११-८)

ममाजके आर्यन्दिन कल्याणके लिअे वर्णोंका और आश्रमाका जो नियमन किया जाता है, जो गिप्पा-दाशा दी जानी है और असी

समाज-व्यवस्था का मर्यादा लिये मनुष्य का वृत्तियार। शान-गमना का जा माधना बनायी जाती है अथवा धम बना है।

असि धमकी स्थापना के लिये अगरी शक्ति और गवार शक्ति का समाज-सर्वक भाग पुण्य गत कितना और प्रयत्न बना है जुहें धमनाम कहा जाता है। अुरीमें ग जा गव नष्ट है य मन्त्रनाम हान है। य सत्यनाम और धमनाम लाग करने समाजको जा श्रुत दने है वही मनुष्य-जातिक लिये मनुष्यक यगधम हान है।

धमसम्मूढचेता [२-७]

अपना कतव्य क्या है यह समझान पर भी अगक अनगक चलनका शक्ति और वृत्ति मनुष्यमें नहीं हानी। अगी म्यनि दुर्योधनकी थी। मुसन कहा है

जानामि धमम, न ध मे प्रवृत्ति ।

जानाम्यधमम, न ध मे निवृत्ति ॥

सात्त्विक वृत्तिक और गुर अजुनक सामन यह सवाल नहा था। धमका ही अनुसरण करनेवा अगका दद गवत्य था। अममें क शक्ति भा थी। धमका स्वरूप निश्चित हान पर अमक पापनामें क पूरी शक्ति लगा सकता था। (जब किमी देवागनात गापना हर शिगर अजुनको पापमें फमाना चाहा तब अजुनक प्रगभन और गाप गापका नयाल न करते हुअे स्पष्ट जवाब दिया कि म शार गहन करुगा किंतु पापका और मेरा कर्म नहीं बढ़गा।) भगवानने भी अजुनको विश्वास दिलाया था कि अजुन दवी सम्पत्तिका आय पुरुष है।

अजुनके सामन पेचादा सवाल यह था कि अगका धम क्या है? गुहजना और स्वजनासं मुद्ध करना ध्येस्वर होगा या मुद्ध न करना ध्येस्वर होगा? परम्पर विगधी वस्तुअें जब समान रूपसे कतन्म कर्म जसी दिख पडती है तब धमसकट पना हाता है। जन मय पर सन्धा धम क्या है यह अस्पष्ट हानेस मनुष्यका मन अक विचित्र मोहमें फस जाता है। धमत क्या करना चाहिये यह नहीं मूगनेसे मनुष्यका चेतस — मन — समूढ होता है। अिसीरिअे भगवानका अजुन कहना है 'म धम सम्मूढ चेता बना है।'

अजुन घम-मम्मूढ़-चेता तो बना था विन्तु अुसमें नम्रता थी, गिप्य भाव था और गुरुके प्रति प्रपत्ति थी शरणागतता थी — गाधि मा त्वा प्रपन्नम् । जिसीलिये वह गुरुकी शरणमें गया । दुर्घोषनमें अहंकार था जिसलिये वह अपने गुरुके पास जाकर अुनका कतव्य क्या है यह अुहें समझाने लगा । गीताने प्रारम्भसे दुर्घोषन और अजुन अिन दो प्रधान वीराके स्वभाव चित्र बड़ी सूत्रीसे दिये हैं ।

यहा जा स्थिति अर्जुनकी है वह प्रत्येक मनुष्यकी होती है । घम-अघमका निणय करना सबसे कठिन काम है । जीवनक प्रत्येक व्यवहारमें सब बाहुआका विचार करके और हर चीजके तारतम्यका तालन करके निणय करना सबसे कठिन काम है और यही सबसे श्रेष्ठ जीवन-कला है । अिस कलामें जब तक हम चित्त-शुद्धिक द्वारा पारगत नहीं हाते हैं तब तक घम-मम्मूढ़ता रहती ही है । जिसीका घम-सकट भी कहते हैं ।

घमसस्थापना [४-८]

लोगाका घमका यथाय स्वरूप समझकर अुनमें घमके अनुमार चलनेका अुत्साह और दृढता पना करना और सब लागाका व्यवहार परस्पर अनुकूल हो अैसी व्यवस्था करना ही सच्ची घम-सस्थापना है । जा स्वयं घमन और घमनिष्ठ नहीं है वह अमी घम-सस्थापना नहा कर सकता । गीताका कहना है कि काल-बलने घम समय समय पर क्षीण हो जाता है । अम अग्निके मन्द हाते पर घौकनी चलाकर अुसे बार बार जाग्रत करना पडता है अुसी तरह घमका भी बार-बार संस्करण करना पडता है । अुसे भी घम-सस्थापना कहते ह । अमे घम-सस्थापकोको अवतार मा अवतारी पुरुष कहते हैं । गीता क्ती है कि भगवान ही स्वयम् मानव बनकर यह अवतार-काय करत हैं ।

घम-सस्थापनामें व्यवस्थाका तत्त्व प्रधान होता है । और व्यवस्था कभी भी अिवालाबाधित और स्थायी नहीं हो सकती । समय समय पर अुमे बदलना ही पडता है । मनु भगवानने कहा है

अन्ये कृतयुगे धर्मा श्रेताया द्वापरेऽपरे ।

अये कलियुगे नृणां युगह्लासानुरूपम् ॥ (मनु० १-८५)

हाम न होन पर भी समय बलनके कारण धमका आदश और धमकी व्यवस्था दोनोमें सुधार बरन पन्ते ह। यह काय सतत चालू रहनका है।

धम [२-७, ३३, ४-८ ९-२, ११-१८, १२-२०, १८-७० अित्यादि]

✓पू (धारण) धारण करना पकड़कर रक्नना आधार देना रहना जिन्याणि। समाजका जा धारण करता है प्रजाको जिकटठा रखता है वह धम है। धमों धारयते प्रजा। वस्तुआक प्रवृत्ति-गुणाको भी धम कहा जाता है — जस जलाना अग्निका धम है। पिघलना मकवनका धम है। पत्थारोंको भा धम कहत हैं। जसे मनो पुब्वगमा धम्मा।

धमरा अथ मनुष्यक आचरणक नियम अथवा स्मृतिगास्त्र भी है (धमगास्त्रम् तु व स्मृति)। लागामें दानको ही धम कहा जाता है। धमराजका भा धम कहत ह। सत्य अहिंसा ब्रह्मचय अस्तेय, अतिथिह अिन पाचारो वागगास्त्रन धम कहा है और य ही मनुष्यके प्रयात धम ह। व्यक्ति और समाजक अुत्पय तथा मोक्षके लिअ य पाष धम धम परमावपक ह।

धम अथ काम माग अिन चार पुषपायोंमें धमके मानी ह गणाचार सामाजिक मद्गुण। जब हम धमका अुगक गुढ व्यापक और बन्धाणकारी रूपका समाल करने ह तब हम कहते ह कि धम जीवन-मारी है सावभौम है। अुगका अधिचार जीवनक हरअक भा प्रत्यग पर हाता चाहिय। व्यक्तिगत जीवन सामाजिक जीवन शानि सिन्धुचार पगन समाजक जीवनक नियम राजकारण व्यापार अथवा अन्तराष्ट्रीय-सम्बन्ध जा कुछ भी जीवनमें आ सतना है वह सब धमका हा धन है।

सिन्धु जब हम प्रवृत्ति भिन्न भिन्न छाट-बड भले-बुरे धमोंका विचार करत ह अत धममें पान जानवाल वहम दुराचार जिन् रागन्ध अस्मिन् अन्तता कुण्डिका अयाप अनाचार आज सतत हैं और अत धममें अन्त भा सगति सिन्धु पर सिन्धुना प्रभाव है यह सावन है सब करत है कि धमका धन कमग कम रहना चाहिय। धमका

सम्बन्ध राजनीतिस, गिन्ता-मद्धतिसे आर्थिक व्यवहारसे तनिक भी नहीं रखना चाहिये। धम व्यक्तिकी चीज है, घरके भीतर ही वह सीमित रहनी चाहिये अित्यादि।

अब तो लाग धमोंके झगडासे और धम-गुरुआकी करतूतोंमे जस अब आये ह कि वे कहने लगे ह कि धम जहर है जनताके लिअे अफीम है। धमका समूल नाग किये विना मानव-जाति सुखी नहीं हा मक्ती।

गुद्ध धमोंके लिअे धम-गुरुआकी आवश्यकता नहीं है। स्वग-नरवादिके प्राचीन अितिहास भूगोलमें विश्वास रखनेकी जरूरत नहीं है। केवल अपने अपने धमके लोगाकी सख्याबुद्धिस धमकी बुद्धि नहीं होती। श्रीश्वर पर विश्वास न रखते हुअे भी और प्रयाको प्रमाण न मानन हुअे भी मनुष्य धमनिष्ठ हो मक्ता है। धमोंका अभिमान रखनेसे मनुष्य अधिक धार्मिक नहीं होता अपितु अुसकी धार्मिकता घटती ही है।

ये सत्र बातें ध्यानमें रखकर हमें धमका विचार करना होगा।

लेकिन हमें भूलना नहीं चाहिये कि धम गब्दका और धम निष्ठाका होनेवाला अितना जबरदस्त दुर्ूपयोग ही बताता है कि धम असलमें कितनी ज्वलन्त, तेज और मव-समय वस्तु है। धम' का दुर्ूपयोग दखकर अुससे अब जाना और अुसका त्याग करना बुद्धि मानीया काम नहीं है। अग्निसे धुआ निकलता है अिसलिअे अग्निका बुझाना मूनना हागी। अग्निको वायुस प्रतीप्त करके धुअेंकी ही ज्वाला बनाना यही बुद्धिमानीका काम है।

धर्मात्मा [९-३१]

धर्मात्माका अय हाता है धमचित्त सत्ताचारी। अगर कोअी आत्मी महान दुराचारी है तो भी यदि अुमक हृदयमें भगवद् भक्तिका अुदय हुआ ता वह सत्ताचारी बनता है। श्रीश्वरक प्रति भक्ति होने ही अुमके सत्ताकी गुद्धि होती है, अुमकी निष्ठा अेकाग्र होती है, अुमका आचरण मुधरता है, वह साधु बनता है धमपरायण, धमप्राण

बनता है। उसे अटल शान्ति मिलती है। अिसील्लिअे भगवान प्रतिष्ठा करते ह कि मेरे भक्तका कभी नाग नहीं होता।

प्राकृत मनुष्य कानूनके डरम या लोकनिष्ठाके भयसे सत्ताचारके रास्ते चलता है। उस पर धमका प्रभाव बाहरसे पडता है। वह अपनको धम-परतत्र मानता है जुसे हम धमतत्र या धमभीर कह सकते ह। किन्तु जब किसी मनुष्यकी वासनायें गुद हो जाती ह तब धमकी बातें उसके हृदयको ही प्रिय लगती ह। अन्तरकी प्ररणासे ही उसका आचरण धमनिुकूल होता है। असे मनुष्यको धर्मात्मा कहते ह। उस धमपरतत्र नहीं कहेंग वह धमरूप है — धर्मात्मा है।

धम्य [२-३१, ३३ १-२, १२-२०, १८-७०],
धर्माविरुद्ध [७-२१]

धम्य = धर्मात् अनपेतम। धमसे अविरोधी धमनिुकूल धमप्राप्त, धम-वधक।

असा काम अथवा जय जिसमें धमका विरोध नहीं है धर्माविरुद्ध होता है। सामाय मनुष्य वासनाआसे प्ररित होवर प्रवृत्ति करता है। वह कामोपभोग चाहता है अय-सग्रह करता है शत्रुआका द्वय करता है और सुख-दुख पाता है। जीवनगास्त्र कहता है कि काम क्रोध और लोभ ये तीना नरकके द्वार ह। अिनके रास्ते जानसे आत्माका नाग हाता है। अिसल्लिअ अिन तीना पर जवरदस्त जकुग रखना चाहिय और वह जकुग हो सकता है धमका। कामका अपुभोग अथका सग्रह और गनुजाका विरोध तीनो धमके अविरोधी होन चाहिय। "यायी सज्जनाकी रताके लिअ जो यद किया जाता है उसे गीताने धमयुद्ध कहा है (२-३१)। कामके बारेमें भी गीताने कहा है कि जो काम धमका अविरोधी है वही मेरी विभूति है (७-११)। लोभ तो सखाब चीज है ही लोभसे अय-सग्रह नहीं करना चाहिय। अगर अय-सग्रह करना है ता वह भी धर्माविरोधी होना चाहिये।

मोहाधम कहता है कि काम क्रोध और लोभ तीनोका त्याग ही करो — तस्मात् अतत् त्रयम् त्यजत (१६-२०)।

भक्तिमार्गी कहते ह कि तीनाको ओइवर भक्तिकी ओर ही लग दो। महाराष्टके सत-बवि अेवनाथके शशोमें 'काम असावा ओइवर-भजनी, काध असावा अिद्रियन्मनी।

धारणा

√ध (धारणे) = पकडना, पकडके रखना आधार दना।

यागशास्त्र कहता है कि चित्तका किसी विशिष्ट स्थानके साथ बध जाना अथवा चित्तको अेक ही स्थान या विषयके साथ बाध देना ही धारणा है। चित्त अेकाग्र करके अेक ही वस्तु या तत्त्व पर अुसे स्थायी रूपसे लगा देना धारणा है।

असी धारणा वपयिक भी हो सकती है और तत्त्वचानमय भी हो सकती है। ध्यान चित्तन और समाधिके लिये धारणा शक्तिका दड हाना जरूरी है। [यागधारणा (८-१२) शब्द देखिये]

धीर [२-१३, १५, १४-२४]

√धि धी (धारणे आधारे)। धी याना बुद्धि जिसे है वह है धीर। धीरका मूल और मुख्य अय है बुद्धिमान समथदार या सयाना। बुद्धिमान या धीर पुरुष आगे-पीछेका सोच सकता है अनुभव और श्रद्धासे काम लेता है अिसलिये कठिन परिस्थिति जाने पर अस्वस्थ नहीं होता है। अपनी बुद्धिको खोता-नहीं। अिस गुणको भा धीरत्व या धय कहने लगे, अिसे अग्रजामें Patience कहते हैं। धीर पुरुषमें धृति तो स्वाभाविक ही हाती है। (धृति गळ देखिये) गीतामें धीर गळ बुद्धिमान धैरवान और धृतिवान अिन तीना अयमें लिया है। धीर तत्र न मुह्यति' धीर पुरुष डिमता नहा है। सुख-दुख अुसके लिये समान होनेस वह अुनम व्यथित नहीं होता अविचल और समाहित रहता है।

धृति [६-२५, १०-३४, ११-२४, १३-६, १६-३, १८-२६, २९, ३३, ३४, ३५, ४३, ५१], धृत्युत्साह [१८-२६], धृतिगृहीतया [६-२५]

√ध (धारणे, अवस्थाने) पकडना अेकत्र रखना, रहना होना करना, लाभहानी चेत स्थापनम'।

जिस वस्तुके अवयव ढील ह अउरी हम रस्सीसे बाधकर मजबूत बनात ह। रेलीक वणका सीमंटस बाधकर अेकत्र टात ह, आत्को पानीस बाधकर अुसकी राटी बनात ह पयराका चुनस बाधकर अुनकी अेक दीवाल बनाते ह भिन्न भिन्न ध्यक्तियाका अिन्नरस बाधकर अुनका सघ बानत ह भिन्न भिन्न स्त्री-पुरुष प्रेम-बाधनस जेक कूटुम्ब बनत ह समान हित-सम्बन्धक कारण जनक जानिया अेक राष्ट्र बनती ह। परस्पर अनुबाधस पूरा विश्व अक घामत्क ममान बन जाता है (यत्र विश्वम भवति अेकनीडम)। सूर्य, चंद्र ग्रह नक्षत्र, तार य सब गुरुत्वाकर्षणक कारण विश्वरसमें नावन ह।

अिन सब अुदाहरणामें भिन्न भिन्न घटवाना जनक रानवाली और परस्पर सम्बद्ध रखनवाली जो शक्ति ह Force of cohesion है अुस धति कहा ह। अुस धीप भी कहते ह धीरज भी कहते ह। स्फटिक, हीरा मणि जामि जा Water of crystallisation हाता है वह भी धृति है। आकर्षण स्नह प्रेम आत्मायता आत्मब्य ये सब अुसी धतिके रूप ह। अमामें म अहिंसा और आत्मब्यका साम्प्रकार हाता है। धीर पुरुषमें ही ज्ञानीमें ही, यह धति पूणरूपसे प्रकट होती है।

गीताने जिस धतिके भी तीन प्रकार बताये ह। मन प्राण और जिन्द्रिय त्रिया अिनक दड यागम जा धृति पायी जाती है वह सात्त्विक है। धम अथ और काम अिन तीनामें जब मनुष्य फल-कामनाआके कारण दृष्ट रहता है तब अुसकी धतिका राजसी कहते ह। वह अस्थायी हाता है। नीद भय शोक विपाद मद आदि जग्भ और अहितकर वस्तुआकी भी जब मनुष्य मूत्ताक कारण जिद्दी होकर पकड रखना है तब अुम धतिको तामसी कहत हैं। असे लोअ अपन असत्यको दापाका ध्यसनाका और दुराचारी साथियाको छाडते नही ह। न हि गणयति क्षुद्रा जन्तु परिग्रह फल्गुताम । अुन्हें पकडकर रखनेका हा व अपनी निष्ठा समझते ह।

बुद्धिको जब धृतिकी मदद मिलती है तब वह याग सिद्ध करनमें सफल होती है।

अुत्साह [१८-२६]

अुत् + √सह (मपणे तृप्तौ च) सहन करना अिजाजत दना सन्तुष्ट होना ।

अुत्साहका अथ होता है प्रसन्न प्रयत्न दीध अुद्योग, अुल्लास अुत्सुकता अुत्तेजन ।

धृतिका अथ विरोधके समय टिकनेका है । अुत्साहका अथ स्फूर्तिके साथ आगे बढ़नेका है । प्रत्येक पुरुषायके लिये धृति और अुत्साह दोनोंकी आवश्यकता होती है । जैसे Lever break में आगे बढ़नेकी सहूलियत होती है और पीछे हटनेमें रुकावट आती है वसा ही अिस गुण समुच्चयका वाय है । आगे बढ़नेमें अुत्साह मदद देता है और पीछे हटनेसे धृति रोकती है । लेकिन दोनोंके विकासके साथ जब अनासक्ति आती है तभी जीवन-याग सम्पूण होता है ।

ध्यानयोग [१८-१२], ध्यानम् [२-६२, १२-६, १२, १३-२४]

√ध्य (चिन्तायाम्) चिन्तन करना सोचना ध्यान धरना ।

यागसूत्रमें ध्यानकी व्याख्या की है—तत्र प्रत्यय अेकतानता ध्यानम् । जब हम अपने मनको किसी वस्तुके अुपर बिठाते ह (मधु चूमनेके लिये जैसे भ्रमर फूल पर बठता है) तब अुसे धारणा कहते ह । जब अिसी धारणामें मन अपनी धारणाके विषयके साथ पूणतया तल्लीन हो जाता है मनमें दूसरी काअी चीज आती नहीं, अितना ही नहीं किन्तु मन अुस चीजके साथ अेकरूप हो जाता है तब अुमे ध्यान कहते हैं । [ध्यानमें मन ध्येय-मदायका रूप तो धारण करता है किन्तु पदाय और मनका द्वत अुसमें रहता है । अिन दोनोंके अलावा और सब चीजें गायब हो जाती ह । आगे जाकर जब मन अपने रूपको भी भूल जाता है और ध्यानमें केवल पदाय ही रह जाता है तब अुसे समाधि कहत ह ।]

जब धारणा ध्यानमें परिणत होती है और ध्यान समाधिमें परिणत होता है तब अिन तीनोंके अेकसाथ होनेको समय कहते ह ।

अिन तीनोंके सिद्ध होनेसे बुद्धि (प्रना) प्रकाशित होती है ।

कहा गया है कि मनुष्यका मन अनन्त शक्तिवाला अथवा डायनामा-जित है। जिस तरह किसी पहाड़के पेटमें शयनागारिष्ठ रखकर उसे जलानेमें मारा पहाड़ अथवा दम टूट जाता है और उसके टुकड़े टुकड़े हो जाते हैं, उसी तरह कोश्री भी भवाल चाहे जितना कठिन और जटिल क्या न हो अगर हम अपने मनको जेबाय करके लगातार अखण्ड असीक पाठ लगा दें और उसमें निश्चिन्ता और प्रमाद न आन दें, तो असी प्रचंड कठिनायी भी दूर होनी ही चाहिये।

यह हुआ ज्ञानप्राप्तिका अुपाय।

अगर मनुष्य अुकट वृत्तिके साथ दीर्घ काल तक पापमें फसा हुआ रहकर अपने चारिश्मका नष्ट भ्रष्ट कर दे और पापरूप बन जाय, तो भी अगर वह गरुडपामे या आत्मरूपास ध्यान करनेमें समर्थ हो जाय और पापमे मुक्त होनेका सक्त्प करे तो उसका चाह जितना पुराना और बडा पाप क्या न हो वह व्यक्ति अवश्यमेव मुक्त हो जायेगा। ध्यानमे वृद्धि गुद्ध हाती है और सक्त्प शक्ति बढता है तथा जितना ज्ञान ही अीश्वरकी कृपा आ बरसती है। पश्चात्ताप ध्यान और भक्ति जिन तीनाकी मददमे पापकृतम भी साधु बन सकता है।

ज्ञान ध्यान और अीश्वर प्रणिधान तानास ही मनुष्यकी मुक्ति होती है। ज्ञानमे ही ध्यान बन्दर है।

मनुष्यके मनकी शक्ति अमर्याद है, किन्तु उसका सवम बडा दाप है अुमकी चञ्चलता। वह वन्दरमे भी अधिक अस्थिर है।

चञ्चलतामें कोश्री गुण नहा है सो नही। चञ्चलताके कारण ही मन सष्टिकी विविधताका अक्त्माथ आकृन्तन करना है और सर्वांगीण अुप्रतिक आग्राह्य सवन कर सकता है। जसा काशी स्थान ही नहा जहा मनना स्थ नहा पढुवता है। 'मनारपाना अगतित् न विद्यते।' किन्तु चञ्चलताके कारण मन किमी भी काममें अपनी पूरी शक्ति नहा लगा सकता। तिनलीके समान अूपर अूपर स्थान करके अुडता फिरना रहता है। ध्यानके द्वारा अुम अकाय किया जाता है और तभी उसकी अद्भुत शक्तिका पना चञ्चलता है।

ध्यानकी साधनामें अंक कठोर बात यह है कि मनके पाव बाधकर उसे जेक स्थान पर स्थिर किया जाता है। बादमें किसी भी अंक विषयमें गहराभी तक उसे डुबाया जाता है। अिम तरह माती लानेका काम अुसके पाससे लेनेके बाद आत्म चिन्तनकी साधना करनेके लिये और समाधिकी सिद्धिके लिये आखिरकार अुस मनको मार डालना पडता है। जिस तरह रम सिद्धिके लिये पारदको मारा जाता है, अुसी तरह साधनाके द्वारा मनको मारा जाता है। ध्यान-योगसे जिस प्रक्रियाका प्रारम्भ होता है।

यदि शलसम पाप विस्तीर्ण बहुयोजनम ।

भिद्यते ध्यानयोगेन, नायो भेद कदाचन ॥

(ध्यानविद्रूपनिपद-१)

नरक

स्वर्ग-नरककी कल्पना सब धर्मोंमें और सब बान्हे लोगामें पायी जाती है। अुन्नतिका अतिम स्थान स्वर्ग है अवनतिका नरक। सब धर्मोंमें स्वर्ग नरक दोनाके अितिहास भूगोलका विस्तारस वणन पाया जाता है। विश्वमें स्वर्ग और नरकका स्थान जहा कही भी हो अथवा न भी हो, मनुष्यके हृदयमें और सामाजिक स्थितिमें स्वर्ग-नरककी अवस्था अवश्य ही पायी जाती है। मनुष्यके सकल्प अनुभव और आदनाकी हीनतम स्थिति नरक ही है। मनुष्य जब असामानिक वृत्तियाके वश होकर पापमें डूब जाता है तब वह नरकावस्था ही है। अिम अवस्थामें मनको जो वंदनायें भुगतनी पडती ह वे सचमुच नारकीय यत्रणायें ही ह।

No words can tell

The torments of an inward hell

(Byron)

(‘अुत्सन्नकुलधम गच्छ भी दखिये।)

नष्टात्मन् [१६-९]

नष्ट हुआ है आत्मा जिसकी। यहा आत्माका अथ हाना है बुद्धि या स्वभाव। “जिन्हाने अपनी आत्माको खो दिया है” असा भी अथ

ले सकते ह। आत्माका नाश तो कभी हाता ही नहीं। किन्तु आत्माके अस्तित्वके बारेमें जिनका विश्वास नष्ट या गिथिल हुआ है उनको लिजे तो आत्मा मानो है ही नहीं। वे लग आध्यात्मिक दृष्टिसे सोच ही नहीं सकते भौतिक दृष्टिसे आसुरी दृष्टिसे ही ब देख सकते ह। अिसीलिअ बुहे नष्टात्माका नाम लिया जा सकता है।

जिनका आत्माकी अमरता पर विश्वास नहीं है वे अिहलोककी ही बात साचत ह। अयम लोक, नास्ति पर (कठ० १-२-३६) असी ही जिनकी श्रद्धा रहती है अिसलिअ असे लोग परलोककी साधनास भ्रष्ट हात ह।

अिसी सिलसिलेमें अीगोपनिषद्में आया हुआ आत्महनु गान सोचना चाहिय। आत्माका वासी नाग तो नहा कर सकता। जा लग आत्माको नहीं पहचानत ह आत्माका जिनकार करते ह जीर अपन जीवनमें आत्माका द्रोह करते ह वे ही आत्महन अथवा आत्मघाती ह। तत्तरीयापनिषद् (२-६१) में कहा है "असप्रव स भवति असव ब्रह्म अिति वेद चेत्"। अगर कोअी मनुष्य परमात्मा नहीं है असी विकृत श्रद्धा रखता है, तो वह स्वयम् अमत् रूप हो जाता है। अुसका जीवन नष्ट यानी यथ होता है।

नातिमानिता [१६-३]

स्वस्य अतिपूज्यत्व-अभिनिवेग = अतिमानिता तस्य अभाव। गीतान अमानित्वम् का महत्व बताया ही है। तो भी दवी सपत्के गुण समझाते हुअे अमानित्वम् की जगह नातिमानिता कहा है। आत्म गौरव स्वाभिमान आदि शब्दासे जो सदगुण यक्त होता है अुसकी रक्षा करनके लिअ गायद अतिमानका निषध किया है। आत्मानम नाथमयत आत्मानम न अवसादयत अित्यादि बोधवाक्य ध्यानमें रखकर ही अतिमानिताको दुरा बताया होगा। अथवा अमानित्वम् में सब कुछ आ ही जाता है।

नासिकाग्रम् [६-१३]

ध्रुवोमध्ये [५-२७, ८-१०]

योगी लोग जब ध्यान करन बठते ह तब न तो आँखें मूद कर बटन ह (आँखें मूदनस नीद आन लगती है) न आँखें खुली रखकर

अधर अधर दखते ह (६-१३) । किन्तु दृष्टिको अधो-भीलित रखकर अेकाग्र ध्यान करते हैं । दष्टि अेकाग्र करनेके स्थान दो है — या तो नाकके नीचेके सिरे पर अथवा दा भ्रुकुटियाके बीचमें । जब अन्तकालमें योगी प्राणाका अध्वकी ओर खीचता है तब बुह भ्रुकुटियाके बीचमें ही लाता है ।

निग्रह [३-३३, ६-३४], मनो दुर्निग्रहम् [६-३५],
आत्मविनिग्रह [१३-७, १७-१६]

नि + √ग्रह (अुपादाने) राकना, पकडना, सजा देना । निग्रह शब्दके अनेक अथ ह — पराजय प्राप्ति निभत्सना । कभी कभी निग्रह और अनुग्रहकी जोडी आती है । अिष्ट व्यक्तिके प्रति हम अनुग्रह दिखात ह अुसका पुरस्कार करने ह । अनिष्ट व्यक्ति या तत्त्वाका निग्रह करत हैं, अुनका तिरस्कार करते हैं । निषिद्ध (जयाग्य) काम करनेवालेका हम राकते ह । मन जब वामनाआका आर दौडता है तब अुमका निरोध निग्रह करत ह । राजाका राजत्व अुमकी निग्रहानुग्रह गक्तिमें समाया हुआ है । सम्पत्तिगास्त्रमें निग्रह है Tariff और अनुग्रह है Bounty

Policy of Protection के लिये हम निग्रहानुग्रहो नीति कह सकत हैं ।

यागमें चित्तवृत्तिका निराध किया जाता है जा आन्तरिक साधना है । केवल बाह्य निरोध या निग्रह व्यथ हाता है विवृति पदा करता है अिसलिये बराग्य और अम्यामके साथ ही निग्रह करना चाहिये (६-३५) । यागसूत्रमें वही कहा है — अम्यास-बराग्याम्याम तन्निरोध (या० सू० १-१२) ।

जा पाना है ओ मानसिक तप कर सकता है वह अपनी चित्त वृत्तिका निग्रह अच्छी तरहसे कर सकता है । अिसलिये अुस गान्ति और मन-प्रसाद प्राप्त हात ह (१३-७ १७-१६) । आत्मविनिग्रह पानका लक्षण है । वह मानसिक तप भी है ।

नित्यसत्त्वस्य [२-४५, १४-१८]

सत्त्वगुण ज्ञानप्रधान होता है। सात्त्विक मनुष्य स्वभावतः अज्ञान से सक्त होता है। उसकी प्रवृत्ति शुभकर सप्रयाजन और सप्रमाण होती है। अज्ञान स्वभाव जिससे पसंद किया है उस सत्त्वस्य कहते हैं। सत्त्वस्यका अर्थ होता है सत्त्वगुण-युक्त।

हरभेद मनुष्यके जीवनमें सात्त्विक वृत्तिक क्षण आ ही जाते हैं। दुर्जनक मनमें जिस तरह सबका दुर्जनता नहा रहती चार जिम तरह चौबीस घट चोरीका काम या ध्यान नहीं करता भुमी तरह सात्त्विक मनस्य भी सबकाल सत्त्वगुण पर जास्त नहीं रहते। राजागुण या तमागुणका कभी कभी जोर हा जाता है। किन्तु जब मनुष्य प्रयत्न पूर्वक दीर्घ काल तक साधनामें जाग्रत रहता है तब सत्त्वगुण अमुका स्वभाव ही बनता है। जिसे सत्त्वसिद्धि अथवा सत्त्व-संगुद्धि (१६-१) कहना चाहिये। छोट छोट बच्चे खड रहनेके प्रयत्नमें कभी सफल होते हैं जब य नियामें सहज होती है तब गिरनका या असफल होनेका अन्देगा भी नहीं रहता।

जिसी तरह सत्त्वसिद्धि जिस प्राप्त हुआ है वह सत्त्वगुणसे कभी नहा गिरता। असेका नित्य-सत्त्वस्य कहा है।

भगवान् अजुनको तीन गुणाने परे जानका बटा है। जिसका अर्थ यह नहीं है कि मनुष्य सत्त्वगुणका भी छोड़ दे। किन्तु सत्त्वगुणकी सङ्कुचितता या मर्यादा छोड़कर असेसे जूब अठनकी बात है। जिसी लिख जहा नित्यगुण्य होनेका अपदेश है वही पर (२-४५) नित्य सत्त्वस्य बननका भी विधान है।

(सत्त्वस्य का भी देखिय।)

नित्यसयासी [५-३]

यहा पर भी नित्यका अर्थ अपरके समान ही है। नित्यसयासी शब्दकी व्याख्या गीतामें ही दी गयी है। जो मनुष्य न द्वय करता है

न किसी चीजकी आकांक्षा यानी अपेक्षा रखता है सुख-दुःखादि द्वन्द्वों परे रहता है वह नित्यसन्न्यासी है। असेका ही साम्ययोगी भी कहा है।

नियतम् [३-८, १८-७, ९, २३], नियतमानस [६-१५],
नियतात्मा [८-२], नियताहार [४-३०], विनियतम्
[६-१८], विनियम्य [६-२४], स्वभाव नियतम् [१८-४७]

नियत शब्दके मुख्य दो अर्थ हैं। अर्थ है निश्चित किया हुआ। शास्त्रमें जिसके लिये जो काम आवश्यक या लाजमी बनाया है वह। नियतका दूसरा अर्थ है समय द्वारा बाधुमें लाया गया। नियताहार अथवा आदमीको कहते हैं जो अपने आहारका प्रकार और परिमाण समालोक सकता है। खाने-पीनेमें पेट न बनकर, स्वादेन्द्रियको बगमें रखकर जो मनुष्य परिमित आहारका सेवन करना है उसे नियताहार अथवा युक्ताहार कहते हैं। इसी तरह जिसने अपना मन समय शक्तिके द्वारा बाधुमें रखा है वह नियत-मानस है। जिस किसीने अपना शरीर अपना चित्त, मन अपना वामनायें और अपना स्वभाव समयके द्वारा व्यवस्थित किया है उसे नियतात्मा कहते हैं। विशेष रूपसे नियमन करने पर चित्तको विनियत कहते हैं।

पहले अर्थमें नियत शब्द जैसे कर्मोंके लिये लगाया जाता है जो शास्त्र द्वारा भिन्न भिन्न वर्ण और आश्रमके लिये नियुक्त किये गये हैं।

नियतकर्मका अर्थ यह भी हो सकता है कि समय शक्ति, नियमन शक्तिका विकास करके किया हुआ कर्म।

जिस तरह शास्त्रकी ओरसे मनुष्यका कर्म नियत होता है उसी तरह व्यक्तिके आदमीके अनुसार अथवा स्वभावकी ओरसे भी अथवा कर्म नियत होने हैं। स्वयंमनुष्य स्वभावनियत कर्म करनेमें मनुष्यका पाप नहीं लगता।

नियम [७-२०], नियम्य [३-७, ४१, ६-२६, १८-५१]

यम् (अपरमे)। यहा पर भी नियम शब्दका अर्थ बगमें लानेका ही है। विन्तु योगशास्त्रमें मन और नियमका भेद बनाया है।

वृत्तियानो राजनेन लिभ जा वचन प्राप्ते स्वामे लिपि प्राप्ति है
 अहं यम कहत ह। अहिंसा गम्य अमाय ब्रह्मण्य अगिष्ट ये
 सावभौम यम ह।

जिन यमानी निहित लिभ जा मापना माया प्राप्ति है अहं
 नियम कहत ह। यमामे कभा भा न करनका पावे आती ह यम =
 Forbearance. नियमामे गमय गमय पर करानी पावे आती है।
 नियमामे शौच सन्नाय, तपस् स्वाध्याय और भीस्वर प्रणिशा म
 पाव बनाय ह।

यमान् सेवत सतत, न नित्य नियमान् वृष ।

यमान् पतति अहुर्वांग , नियमान् क्वलान् भवन् ॥

(मनु० ६-२०६)

गीतामें जिन नियमाका जिक्र नहीं है। एहा नियमाका अर्थ सेवत
 कामे लानेका ही है।

निरग्नि [६-१]

सयाम स्न पर मनुष्य गिगा सूत्र (बाणी और जनश्रु) और अग्नि
 (नित्य यज्ञ करनका कर्तव्य) तीनारा त्याग करता है। वेद निरालाका काम
 भी अहं छाडना पडता है। मण्डपादि कमवाडका वह मुक्त हाता है। अग
 आश्रमाक्त सयाम लेनेवालेका निरग्नि कहत ह। गीताका मन्वात
 आश्रमाक्त सयाम नहीं है। यह बात अहं इति (६-१) से स्पष्ट
 होती है।

निर्योगक्षेम [२-४५]

अप्राप्त वस्तुकी प्राप्तिका यत्न कहत ह और प्राप्त वस्तुकी रक्षाका
 क्षेम कहते ह। असी पान-सभालनका शक्यता जो मुक्त है अहं कहत ह
 निर्योगक्षेम ।

मनुष्यके जावन निर्वाहके लिजे जा मामूली प्रवृत्तिया करनकी होती
 ह अहं योगक्षेम कहते ह (१-५२)। अपन भक्ताके योगक्षेमका योग
 भगवान स्वयं अठाते ह।

निर्वाण, ब्रह्मनिर्वाण [२-७२, ५-२४, २५, २६, ६-१५]

निर + √वा = बुझ जाना ।

निर्वाणको निवृत्ति भी कहते ह । निवृत्तिमें आनन्द और सतोपका भाव विशेष है । निर्वाण यानी दीपनिर्वाण — दियेका बुझ जाना । बौद्धोंमें मोक्षकी जगह निर्वाण शब्द अधिक पसन्द किया जाता है । निर्वाण बौद्ध परिभाषामें शून्य स्थिति है । गीताका निवाण ठोम ब्रह्मनिर्वाण है । वह शांतिदायक है ।

('ब्रह्मनिर्वाण शब्द देखिये ।)

निर्वेद [२-५२], अनिर्विण्णचेतसा [६-२३]

निर् + √विद (सत्तायाम) ।

निर्वेद शब्दके भले-बुरे अनेक अर्थ ह । निर्वेद शब्द अतिसाहका विरोधी है । अरुचि वरान्य, अुदामीनता आदि अनेक अर्थोंमें यह शब्द आता है । दुनियाके प्रति अरुचि अथवा योग आदि साधनाके प्रति अरुचिका भाव भी अिस शब्दमें आता है ।

निर्वैर [११-५५]

निर्वैर = द्वेषरहित । वैर शब्दमें वर आया है माना किसीका द्वेष करना वीरोका स्वभाव ही है । गीताका आदर्श पुरुष निर्वैर यानी अजातशत्रु होता है । बुद्ध भगवान कहने ह कि किसीके अपर विजय प्राप्त की तो उसके मनमें धर आता ही है — जय वैर पसवति ।

निवृत्ति [२-५९ अित्यादि], विनिवृत्तन्ते [२-५९],
विनिवृत्तकामा [१५-५], निवृत्तिम [१६-७, १८-३०]

प्रवृत्ति और निवृत्ति मनुष्य स्वभावके दो प्रधान प्रवाह ह । दोना श्रियात्मक ह । प्रवृत्तिस सासारिक जीवन बढ़ता है, जटिल होता है । निवृत्ति सासारिक जीवनको कम करनेके लिये कोशिश करती है । निवृत्ति आत्माभिमुख होती है । अिन दोनाका रहस्य न समझनेवाले लोग आसुर होते ह (१६-७) ।

निश्चयम [१८-४]

निस + √चि (चयन) = अिकटठा करना ।
 सागसे मुक्त होकर किसी निणय पर आना निश्चय है । दढनिश्चय
 (१२-१४) । जसी मनुष्यकी वृत्ति वसा अुसका निश्चय होता है ।
 जामुर निश्चय (१७-६) दृढनिश्चय सुनिश्चितम जि० ।

निष्ठा [३-३ १७-१ १८-५०]

नि + √स्था (गतिनिवृत्ती) स्थिर रहना ।

निष्ठाके ससृष्टतमें दो तीन भिन्न भिन्न अथ ह । निष्ठा यानी अवस्था
 गति बुनियात् स्थिरता दत्त भक्ति श्रद्धा वतन माग जीवनक्रम अित्यादि ।
 मनुष्यक जीवनमें आचार और विचार य दो प्रधान विभाग ह
 (अुच्चार यानी वाणी अिन दानाके बीच है) । मनुष्यके आचारमें बहुत
 सी चीजें असी होती ह जिह वह केवल जातके कारण या हृत्तिके
 जोरके कारण करता है । असे आचरणके द्वारा अुसके जीवनकी निष्ठा
 ब्यक्त नहीं होती । मनुष्यके सब विचारोंमें हमेशा स्थिरता रहती ही है
 असा अनुभव नहीं है । अतः कारणोंसे वे बल्लते रहते ह । कभी कभी
 घन्टीके लम्बक (Pendulum) के समान मनुष्य दो विचारोंके बीच
 झूलना रहता है । अिसलिय मनुष्यके विचारमें भी अुसकी निष्ठाका
 अनुमान नहीं निकल सकता ।

निष्ठा वह चीज है जा विचारके परिणाम स्वरूप स्थायी जीवन
 दष्टिरा रूप लेती है और जो याथिक आचारमें नहीं किन्तु विचारपूर्वक
 और अुसाहमें जो प्रवृत्ति सतत की जाती है अुसमें ब्यक्त होती है ।
 यह निष्ठा ह । मनुष्यके चारिश्यकी सच्ची बुनियाद होती है ।
 निष्ठा ज द्वा जय हात ह — श्रद्धा और जीवन-माग — अुसकी
 अुपगति अर हमें यहा मिलती है ।

निम्नगुण्य [२-४५]

गुणानात और निम्नगुण्य दोना अक ही ह । गुणानीत और
 निम्नगुण्य अिन दो गन्नाका विवेचन दन्विये ।

वेदके दो विभाग माने गये हैं कमवाड और पानकाण्ड । पानकाण्डमें जुपासना और ज्ञान द्वारा माक्षप्राप्तिका रास्ता बताया है । अुसमें जहा कमका विधान है वह केवल निष्काम कम है । वदके कमकाण्डमें सकाम कमोंका विधान है । सत्त्व रजस तमस, अिन गुणाके अनुसार मनुष्यकी जो नामनायें हानी ह अुनकी प्राप्तिके लिये यज्ञ-यागादि सकाम कम बनाये ह । भगवान कहते ह कमकाडी वद त्रगुण्य त्रिपय ह यानी तीन गुणाकी बातें ही करत ह । जजनको जगर मोक्षमागसे जाना है तो अुसे चाहिये कि वह अिन तीन गुणोंकी च्यटस परे जाकर निस्त्रगुण्य बने ।

नि श्रेयसकर [५-२]

नि श्रेयसका अथ है मोक्ष । श्रेयसका अथ है कल्याण हित । अिसी परम जिसमें मनुष्यका परिपूण, जात्यतिक और निश्चित कल्याण है अुस अवस्थाका नि श्रेयस कहा है ।

भगवानका कहना है कि मयास और कमयाग दाना ही मास देनेवाले ह । तो भी दोनोंमें कमसन्त्यामकी अपक्षा कमयाग श्रेष्ठ है ।

धमके दो हेतु अथवा फल बताये जाने ह अम्युदय और नि श्रेयस । अम्युदयका अथ है अहिक अुत्कप और नि श्रेयसका अथ है पारलौकिक कल्याण ।

नीति [१०-३८, १८-७८]

नी (प्रापणे) ले जाना रास्ता दिखाना बहन करना । जीवनका त्रम जा निश्चित कर देती है वह है नीति । जिस कायपद्धतिसे जीवनका अुद्देश्य सफल होना है अुसे नीति कहा जाता है ।

अिनका विश्वास है कि सदाचारसे धमपालनसे, सरलतासे जीवन सफल होना है व नीतिके अथ करेगे सदाचार । असत्य वजता और कुटिलता तीनाका अभाव ही नीतिका अुत्तम अथ है ।

अिसके विपरीत जा लोग मानत ह कि सीधे व्यवहारसे जीवनमें असफलता ही मिलती है जीवनके व्यवहारमें सज्जन और दुजन दानामे काम पडता है अिमलिये धूतता तो आवश्यक है ही किन्तु सरलतामें भी सभाल करके चलनेके लिये भी धूतता परमावश्यक है ।

असत्य न वालन पर भी जहा सत्य वालनम हानि हा वहा पर मौनम ही काम लेना चाहिय।

जो लोग जविचारी ह विन्तु अधिकार प्राप्त ह अम लोग दुजन न रहे ता भी सतरनाक तो होत ही ह। अिमलिअ अूनन माप भी सीव व्यवहारसे काम नहा चगता। राजा भतुंहरिन भी कहा है— नयो नपजन — राजाजाके साथ व्यवहार करत हुआ नय याना नीति यानी policy का अवलम्बन करना चाहिय। अिम ननीहतवा जा अवलम्बन करते ह वे ही अिम दुनियामें टिक सरत ह (तेपु अेव लोकस्थिति)। दसवें जघ्यायमें नीतिका अय policy ही लना चाहिय। जा लाग विजय चाहते ह वे नातिका ही अवलम्बन कर। नीतिनिपुणाकी यह नमाहत है।

गीताके अन्तिम श्लोकमें जब यही नीति गल आता है तब वहा भुसका यापरु अय लेना चाहिय। यवहार निपुण लोगाक अनुभवका निचोड यह है कि सरलता और प्रामाणिजता ही सर्वोच्च नीति है— Honesty is the best Policy यवहार परायण लोग Policy की दष्टिसे प्रामाणिकताका स्वीकार करते ह। धम परायण लोग आत्मिक कल्याणकी दष्टिसे प्रामाणिकताका अनसरण करते ह। व्यावहारिकाको केवल अम्यत्यकी प्राप्ति होती है धार्मिकाको नि श्रयन भी मिलता है। सावधानी तो दोनाक लिअ आवश्यक है ही।

नष्कम्यसिद्धि [१८-४९] नष्कम्यम [३-४]

आत्माका स्वभाव निष्क्रियताका है असलिअ जो मनुष्य आत्माको पहचान लता है असमें नष्कम्य आ जाता है। गीता कहती है कि केवल कमका प्रारम्भ न करनसे नष्कम्य प्राप्त नहीं होता। आल्स्यके कारण जनत्साहके कारण अथवा तबत्रीफने डरके कारण आत्मी कम छोड सकता है किन्तु असको कानी सिद्ध पुत्प नहीं कहता। कर्मोका त्याग पानपूर्वक होना चाहिय कयाकि अिन पर ही समाजकी मुस्थिति निर्भर है। यज्ञ दान तप आदि पावक कर्मोके अलावा जो दूसरी दूसरी प्रवृत्तिया ह अनके फलमें नहीं पडना चाहिय और जो कुछ भी कम

किये जाते ह वे फलकी जिच्छा छाडकर साम्य बुद्धिस करन चाहिय ।
 नमी नष्कम्य सिद्धि प्राप्त होना है ।

नष्कृतिक [१८-२८]

निष्कृतिका अथ हाता है पापका क्षालन अणका नाशन । अिसका
 दूसरा अथ है दुराचार कपट । नष्कृतिक का अथ है वह दुराचारा
 मनुष्य जा दूसरेके पेट पर पाव दता है दूसरेका भला देखकर जिसक
 निलमें जलन हानी है ।

पडित [२-११, ४-१९, ५-४, १८]

√पड (गती नागने वा) गाना नाग करना । पण नाम वद्धि
 विद्या अस्य मजाना अिति पण्णि ।

पण्डित = पहुचा हुआ । पण्डा = अनातना नाग करनवाली बुद्धि या
 विद्या । पण्डारा अथ होता है वदोज्ज्वला बुद्धि आगमजयम् चानम् ।
 सबविद्याधिकत्वम् यत पाडित्यम् तत शुदाहृतम् ।

केवल विद्या धारण करनसे कोजी पडित नही हा सकता ।
 विद्याका जा सदुपयाग कर सकता है वही पडित है । विद्याके द्वारा
 जिनके जीवनमें चारित्र्यमें जीवन-दृष्टिमें शुन्नति हुआ है वही पडित
 है । विद्याके भारके कारण जिसकी त्रियागविन क्षीण हुआ है वह
 पण्णिन नही है य त्रियावान स पण्डित ।

जिनका गान नही करना चाहिये अुमका जा गान नही करना
 चानक द्वारा जा कम उधनका जला नेता है ज्ञानयोग और कम
 योगमें जा अभे देखता है और चित्तव्रतिमें समत्वका अुदय हानेक
 कारण जो भले-दुरे चानी-अनानी पवित्र अपवित्र सबके प्रति अेकमी
 भगजी रखता है वह पडित है ।

गीताने अपने आन्श पुस्पके लिअे जिन अनक विशेषणाका प्रयोग
 किया है उनमें पडित भी है । स्थितप्रज्ञ गुणातीत यागी, भक्त बुध
 और पडित ।

परधम [३-३५]

दूसरेका कतय दूसरेकी जीवन निष्ठा।
हिंदू धर्म अस्लाम यहूदी पारसी ख्रिस्ती जित्यानि भिन्न
भिन्न संप्रदायाके अनेक धर्मोंसे जा अपना नहीं है अम लाग
आजकी परिभाषामें परधम कहते ह। गीतामें परधमका अमा अय
नहीं है। गीताक दिनमें गायन जस विविध धम थ ही नहीं।
अन जिना कुल्धम जातिधम और क्षात्रधम आदि वणधम तथा
शयीधम मान जाते थ। जुन्हीका यहां जिक्र है।

परमात्मा [६-७, १३-२२ ३१ १५-१७]

आत्मा प्रत्यगात्मा जीवात्मा जन्मरात्मा अपयात्मा परमात्मा
य गत साथ साथ आते ह। मनुष्यकी बुद्धि रहस्यका दूती है। जसकी
नजर पहल बाहर दीडती है (पराड पश्यति)। असलिय प्रथम विश्व
का रहस्य बूडा जाता है। दन्ते दूते मनुष्य परब्रह्म तत्र पहुंच गया।
ब्रह्म शब्द बहू परस आया है। सबसे बड सबव्यापक सबश्रेष्ठ
सनातन तत्त्वको ब्रह्म नाम लिया गया है। अुसीको परब्रह्म भी कहते ह।
अमने बाद या साथ मनष्य अपन अन्तर दरान लगा। कश्चित
धीर प्रत्यक आत्मानम अ तत (कठ० ४-१)।
अदर ढढते प्राण मन बुद्धि जत करण आदि पहचानते आग
बढते मनुष्य आत्मा तत्र पहुंच गया। अस आत्माको ही परमात्मा
कहत ह। [यहा जात्मा शब्दका विवेचन भी देख लेना चाहिये।]
अब मनुष्यन देख लिया कि अतरात्तामें और परब्रह्ममें सचमुच
काभी भद नहीं है। जो तत्त्व अदर है वही विश्वमें है। असलिय
मनुष्यन परब्रह्मको परमात्ताका नाम दे दिया। व्यक्तिकी अुपाधिसे
जब ब्रह्म साचा जाता है तब अुसे जीवात्मा कहते ह जब और
व्यापक दृष्टिसे सोचा जाता है तब अुसीको परमात्मा कहते ह।
जीवात्मा परमात्ताका अभद दिखानके लिये 'तत त्वम असि यह
महावाक्य प्रवृत्त हुआ है।
(पुरुपोत्तम गद भी देखिये।)

परमेश्वर [११-३, १३-२७]

✓जीन (अश्वर्य) राज्य करना, प्रभाव रखना, आज्ञा करना श्रित्यादि ।

परब्रह्म और परमात्मा आदि शब्दोंमें व्यापकत्व स्थायित्व और सनातनत्वका खयाल आता है । परमेश्वर शब्दमें परमात्माके सामर्थ्यका प्रभावका यागमायाका और स्वामित्वका खयाल आता है । अन्यथा ये सब एक ही हैं ।

साहित्यमें धनी पुरुषको मत्ताचारीका और राजाको भी श्रीश्वर या परमेश्वर कहते हैं । परमेश्वर शब्दका अर्थ महादेव शंकर भी जाना है ।

परमेश्वर मुख-दुःखसे परे होता है स्वतंत्र होता है, सबकामिन् मान जाता है जानका रक्षक होता है और भूतोंका अनुग्रहकारी होता है ।

परम्परा [४-२]

पर यानी दूसरा वादका पीछेसे आनेवाला, बडा । परम्परा यानी एक स्थितिका छोडकर दूसरी स्थिति दूसरी स्थितिको छोडकर तामरी स्थिति, असे सीढीसे जानेका क्रम । परम्पराकी खबी दो बातोंमें है । नित्य परिवर्तन करते हुये भी पूर्वकी बातोंका सम्बन्ध या अनुबन्ध बढ रही छोडती । परिवर्तनशीलता यह एक खूबी और अविच्छिन्न सम्बन्ध यह दूसरी खूबी । असी परम्परा ही प्रगतिका सच्चा व्याकरण है । From Precedent to Precedent daily Self-surpassed यह है सूत्र परम्परावादका । पुराना छोडना नहीं नया लेना नहीं यह भूत्र परम्परावादका नहीं हो सकता किन्तु यह सूत्र अपरिवर्तन वादका या जडवादका हो सकता है । मुर्दा भी अिस सूत्रका अवलम्ब नहीं करता । जीवित शरीर बढता है भत शरीर सडता है । दोनोंमें अपरिवर्तन नहीं है । परम्परामें क्रम-परिवर्तन रहता है, क्रान्तिमें क्रम शून्य अुथल-पुथल रहती है ।

गीतामें योग विद्याको परम्पराप्राप्त कहा है क्योंकि भगवान विवस्वान मनु शिश्वाकु असी अिस योगकी परम्परा है ।

परिग्रह [१८-५३]

परि + √ग्रह (ग्रहण) स्वीकार करना आश्रय लेना स्नह करना वेष्टना विवाह करना अत्यादि। परिग्रहक अनन्य अथह — स्वीकार द्रव्य मालमत्ता विवाह पत्नी गरीर जालिगन सबक-परिवार। जिसका आश्रय लकर मनुष्य अपना काम करता है या जीवित रहता है वह परिग्रह है। मोक्षमार्गमें सब प्रकारका परिग्रह बाधक माना जाता है। योग शास्त्रमें जो अहिमादि पाच यम बताये हैं उनमें अपरिग्रह है।

जा मनुष्य अपनी आवश्यकताओंमें अधिग्र वस्तुआरा जुपभाग करता है वह अस्तय व्रतका (चारी न करनक व्रतका) भग करता है जो मनुष्य आवश्यकतासे अधिग्र वस्तुआरा सग्रह करता है स्वामी बनता है वह अपरिग्रहका भग करता है। स्तय और परिग्रह दानाम जा समाज गह है वह सम्पत्ति मलय है। परिग्रहका अक अथ होता है गरीर। जत्मा जधवा जीव असि

गरारमें फमकर तरह तरहक वधनाका अनुभव करता है। लेकिन जिन वधनासे मुक्ति पानकी कागिश भी जिसी गरीरकी मन्दम बह कर सकता है। असलिय यह गरीर कारागार भी है और वधन-मक्किना साधन भी है।

जिमका हाय पकडकर सादा की ((गह्नामि ते मोभगवाय हस्तम।) उस पत्ताका भी परिग्रह कहा है। पुरान राजाका परिग्रह जन्त पुर बहुत बडा रहता था। गरीर और पत्नीके बाँ जितना भी पनधाय पग और उपकरण आदि हम अिकटठा करत ह वह भी परिग्रह है।

परिग्रहका यह व्यापक अथ देखनसे स्पष्ट होता है कि अमे परिग्रहका सपूण त्याग मरणके बिना हो नहीं सकता। और मरण काभी मुक्ति नहीं है। वधन है वासनाका ममत्वका जा मरणके साथ मरता नहीं।

पट बनकर जब हम हृदमे ज्यादा खाने ह तब वह अन्न गरीरको पापण नहीं देता किन्तु रोग पदा करता है। गरारको ही खाना है। गरीरिक मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियोंको क्षीण करता है।

अनुभव कहता है कि जिस तरह अधिक खानेवालेमें जयवा अधिक सोनेवालेसे साधना नहीं होती, अभी तरह बिल्कुल न खानेवाले और बिल्कुल न खानेवाले व्यक्तिमें भी साधना नहीं होती। यही नियम परिग्रहके बारेमें भी है। प्राणधारणके लिये शरीर अन्न वस्त्र आदिकी व्यवस्था होती है। अशुभो तरह जावन सिद्धिके लिये समाज सेवाके लिये और सततिके अत्यधिक लिये कुछ न कुछ अन्न वस्त्र आदि साधनाका आवश्यकता नहीं ही है। साधनाकी मात्रा हृदय भी कम रखनेमें जीवन-यात्रा अतनी मुक्तिवाला है कि जैसा जीवन साधना या सेवाके लिये योग्य नहीं रहता। खेतमें गिरा हुआ घास जिकटठा करके मुहकी अन्नकी बनाकर जूममें चबाकर खानसे शायद जीवनकी निष्पापता सिद्ध होगी। जीवनका पुष्पाय समाप्त करके धानप्रस्थ बने हुए लगाके लिये शायद अने जावन क्रममें समाप्त भी होगा। लेकिन जीवन विकास और जीवन-मुक्तिका वह साधन या लक्षण सिद्ध नहीं हुआ है।

समाजके लिये ता युवराहार, युवविहार और युक्तपरिग्रह यही गुण आदि हैं। अमलिअ मनसा त्यक्तपरिग्रह और जीवनमें युक्तपरिग्रह यही आदि गुण ह जैसा शीघ्र पडता है।

परिचर्या [१८-४४]

परि + चर (गती) किमाके आमपाम घूमन रहना। अपनी आज्ञाविका पानेके लिये किसीकी व्यक्तिगत सेवा करना (manual service)।

जहाँ समाज है वहाँ किसी न किसीकी शारीरिक सेवा करनेका प्रमाण आता ही है। किन्तु हरअेक व्यक्तिका धर्म है कि वह अपना काम आप ही करे दूसराकी सेवा काममें कम करे। छोटे बच्चे अति बृद्ध शरण और पागल लोगोंकी सेवा करनी ही पडती है। समाजवादी यानी करणासे प्रेरित होकर अमाकी सेवा करना सब वर्णोंके लोगोंका नैतिक धर्म है। धर्म समझकर यतन लिये बिना जब अनी सेवा की जाती है तब वह आवश्यकतामें अधिक नहीं की जाती है। सेवा करनेवाले भी जा सोच सकते हैं बड़े सेवाधर्मे दूसरामें सेवा करने

ह तथा उसे परोपकार और परावलम्बनस जल्दीसे जल्दी बच जानकी कोणा करते ह।

किन्तु जब आजीविकाके लिअ कोजी औराकी गारीरिक् सवा करता है तब समाजमें जालस्य और परावलम्बन बढनकी सभावना रहती है। जो लोग पान द्वारा शीय द्वारा या कौशल्य द्वारा समाजकी सेवा नहीं कर सकते अन्ने लिअ परिचर्याका काम ही बाकी रहता है। व गूढ बहे जाते ह। आनाकारितासे और मत्सर न रखते हुअ अह अमी सेवा करनी चाहिय।

आजीविकाके लिअ परिचर्या करनवाले अज्ञानी जीर अमस्कारी गद्दाकी सस्या समाजमें कमसे कम होनी चाहिय। जिस वणकी सस्या बनना समाजक लिअ बडा खतरा है।

परिदेवना [२-३८]

√दिव् (परिकूजन) रोना दुख करना। सस्कृतमें दिव नामक तान धातु ह। अिनमें से अकका अथ है राना दुख करना। अिसी परस परिवना गल् आया है। अिमका अथ हाता है रोना पीटना और प्रलाप।

परिपथी [३-३४]

√पथ (गती) जाना। पथिन जयवा पथाका जय है रास्ता। अिमम परिपथीका अथ हाता है वह चोर जो रास्तेमें छुपकर बढता है और आन-जानवाल मुमाफिराका रोककर अुनका सवस्व लूट लेता है। अग्रजीमें परिपथीको Highway man बटते ह हिनीमें बटमार अथवा राहजन कहते ह। राग और द्वप ये मनुष्य-जावन-यात्राक बटमार ह।

परिप्रश्न [४-३४]

प्रश्न और परिप्रश्नका अर्थ ही अर्थ है किन्तु परिप्रश्नका विाग अर्थ यह होना है कि निमा अर्थ हा विपयका पूण परिचय हानके लिअे अम विपयके अिगि (परि) अश्नवाल अन्क प्रश्न बार-बार पूछ

लेना। जो शिष्य गुरुके सहवासमें रहकर ज्ञानकी अुपासना करत है और जीवनके प्रयोग करके जीवन-दग्गन स्थिर करनेका प्रयत्न करते ह अुनके लिअे तीन साधन बताये ह—गुरुके प्रति आदर गुरुकी सेवा और परिप्रदन।

परिमार्गितव्यम [१५-४]

√मग (माग अवेपणे) ढूढना तपामना मागना और गिवार करना। किसी चीजको ढूढनेके लिअे जब हम जाते ह तो जानेके रास्तको माग कहते ह। परिमागका अथ है ढूढना। क्योकि हम किसी चीजको अच्छी तरहमे स्वायत्त करनेक लिअे अुसके अिद गिद घूम कर अुमके पाम पहुचनेका रास्ता ढूढते ह। अर्थात् यह ज्ञानप्राप्तिका रास्ता हाता है।

परिसमाप्यते [४-३३]

(अिस विवचनमें क्रियापद बहुत कम लिये ह। यहा पर विशेष अथ देखनेक कारण ही अिस क्रियापदका लिया है।) परिसम + √आप (लम्भने) सब ओरसे पूण हाता।

गीता कहती है कि मनुष्य जितने भी कम करना है अुनक और सब फल तो नाशवन्त ह क्षणजीवी ह किन्तु सब कर्मोंका अतिम स्थायी फल ज्ञानवद्धि है। (ज्ञाने परिसमाप्यते)। अिस परसे काथा कहते ह कि गीता प्रधाननया ज्ञानपरक है कमपरक गौणतासे है। जा लोग कमका प्रधान मानत ह वे कहत ह कि कमसं प्रारम्भ हानेवाला प्रवृत्ति चक्र ज्ञानमें पहुचकर अेव वतुल (परिधि) पूरा करता है और वहासे टुवारा कमचक्रका नया प्रारम्भ हाता है। ज्ञान तक पहुचने पर कम निवृत्ति नहा हाती। परि' अुपसर्गमें परिव्रतनका ये सब खूदिया वे दखत ह।

पर्युपासते [४-२५, ९-२२, १०-१, ३, २०]

परि = समन्तात् अुपासते (अुपामना गब्द देखिय)।

'परि का अथ है सब वाजूसे। प्रत्येक चीजके और त्रियाक अनेक पहलू हाने ह। अुन सब पहलूआको देखना, साचना आजमाना यह

पापयानि [९-३२]

पूवजन्ममें पाप करनेसे जा हीन म्यनि या जन्म प्राप्त होता है अन्त पापयानि कहते हैं।

स्त्री, वश्य और शूद्रका हा कोश्री पापयानि समझते हैं वह गलत है। समाजमें अन्त तानाका अप्रतिबन्ध मागसे और मानके मानमें बचित रखा अन्तक प्रति पाप किया अन्तलिअ अन्त दुर्देवियाका पापयानि कस कहें। औराका अपन्ना अन्तहाने स्वय कुछ अधिक पाप किया है अन्त ता सिद्ध नहीं हाता। पूवजन्मके पापसे अन्त यह यानि याना जन्म प्राप्त हुआ है अन्त अगर मानें ता भी अन्तमें कठिनाही आती है। अगर सब स्त्रिया पुण्य करे और अपना पाप धो डाल तो क्या स्त्री जन्म ही नष्ट हो जायगा ?

पापयानिका अन्त मनुष्यतर प्राणी भी हो सकता है। अन्त स्त्री पुण्यके पापी व्यवहारसे अन्तका जन्म हुआ है अन्त लोगोको भी पापयानि कहा जाता है।

स्त्री पुरुष और शूद्र ता क्या, अन्त प्राणी भी तो पापयानि हैं भगवानका आश्रय लेकर परम गतिको प्राप्त करते हैं। यही कहनेका गीताका आशय है।

पारुष्यम् [१६-४]

परुष = कठोर कठिन। जिस परम पारुष्य यानी कठोरता कठिनता निन्दयता कठार वाणी गालिया दयाका अभाव। आसुरी वस्तिका यह लक्षण है।

पितृव्रता [९-२५]

पिता माता य दाना शब्द मस्कृत फारसी लेटिन अन्तियाणि अन्तक भाषाओंमें अन्तस पाय जाते हैं। अन्तकी धातु कौतसी है मा दन्ता हागा। √पा यानी रक्षण करना √मा यानी नापना य धातु पाप हागे।

पितृ शब्दमें माता पिता और पूवज आ जाते हैं। पितृव्रता वे लाग हैं जो श्राद्धादि द्वारा पितरका पूजा करते हैं। जापानके बुगिडा

धर्ममें पितराकी पूजाका विधान है। प्राचीन रामन लोगके और तीजिप्शियन लोगके धर्ममें सम्राटाकी पूजा भी हानी थी। मृताकी आत्माकी पूजा सब प्राचीन धर्मोंमें किसी न किसी रूपमें पायी जाती है। हमारे पुरुखा मृत्युके बाद भी पितर बनकर अपने बगजाके हेताहित पर निगाह रखत ह और मकटके समय अुहें मदद करत हैं असे विश्वामस यह पूजा प्रचलित हुआ है। सन्त-पूजा भी अिसी भावस प्रचलित हुआ है।

दयानंद सरस्वती जैसे आधुनिक धर्म-सुधारक सवाल अुठात ह कि पितराकी पूजा अुनके मरनेके बाद ही क्या करनी चाहिये। मा-बापके जीत जी थढ़ापूर्वक अुनकी सेवा करना, अुनकी आत्माका पालन करना यही सच्चा पितृव्रत है—“पितरि प्रीतिम आपन्ने प्रीयन्ते सब-देवता।” पुराणकाराने स्वर्गके समान अक पितृलोककी भी कल्पना की है। जो अग अनन्य भावसे पितराकी ही पूजा करत ह व पितृलोक जाकर पितराको मिलते ह।

भारतवामियामें पितृभक्ति विरोध रूपम है। गेग मानत ह कि नये जमानेकी अपगा पूवजाका ज्ञान अुनकी तपस्या और दूरदृष्टि अधिक थी। स्वर्णयुग भूतकागमें ही था। मनुष्य-जाति दिन पर दिन गिरती ही जाती है असे विचार रखनेवाअके लिअे भविष्यकालके प्रति आदर या अुत्साह कस रहगा? पितृव्रतके साथ अवतारा पर विश्वास हानके कारण हा भारतवासी बच गये। गीताने पितृव्रतके प्रति आदर नहीं लिखाया है हालाकि श्रीकृष्णका अमिप्राय था कि धर्मका सच्चा ज्ञान बढाकी सेवास ही प्राप्त हो सकता है।

पुष्य [७-९, २८, ९-२०, २१, ३३, १८-७१ ७६]

√पुष् (गुमकमणि) पवित्र बनना, हितकर बनना धर्मकाय करना। अिह-परलोकमें जा कल्याणकारक है अुन पुष्य कहत ह। धार्मिक-वृद्धि करनेवाली हरअक क्रिया पुष्यकर है।

पुष्य गणक अनेक अय ह। पुष्यका अय है गुम प्रिय सुन्दर सुवागिक। पुष्यगध याना सुवान (७-९)। पुष्य अहन् यानी गुम दिवस।

पुण्यश्लोक = सुकीर्तिमान महापुरुष अथवा सन् । पुण्यलाक = स्वर्ग ।
 पुण्यगृह = मन्दिर ।

सत क्रियाका भी पुण्य कहते ह और औश्वर्य दरबारमें सन्
 क्रियाने परिणामस्वरूप हमारी जा भगती जमा रहती है और क्रिमके
 फल पातके हम अधिकारी रहते ह अम धातीका भी पुण्य कहते ह ।
 जिसलिअ धमगास्त्रमें पुण्यका संग्रह करनका और पुण्य-संग्रह क्षीण
 होनसे स्वर्गस गिर जानकी बातें आती ह । गीतामें भी (९-२१)
 जिसका जिक्र है । पुण्यवान गंगाका भी पुण्य कहते ह (९-३३) ।
 (अत्सन्नबुलधम गण भी देखिय ।)

पुत्र

पुत्र नाम नरकात् प्रायते अिति पुत्र । निपुत्रिक आत्मीका पुत्र
 नामक नरकम जा गिरना पत्ता है । जस दुर्गतिम जो बचाता है
 सा पुत्र है जसा कहा गया है । पुत्र जपन माता पिताका नरकस
 बचाता है और बुन्दे लिअ अउ लोक प्राप्त करनता है जसी मायता
 हमारे पूजजायी थी ।

जिस पर जपनिपत-बालक अपियान कहा कि पुत्रका केवल
 जन्म देनसे माता पिताको गम लोकका प्राप्ति नही हायी । पुत्रको
 अच्छी शिक्षा-दीक्षा देनस ही वह लोक प्राप्तिमें मन्द कर सकता
 है । पुत्रम अनुशिष्टम लोक्यम आहु । अनुगासन (शिक्षा) प्राप्त पुत्र
 ही लोक प्राप्तिकर है असा बताया गया है ।

पुराणम [२-२० ८-९ ११-३८], पुरातन [४-३,
 १५-४] सनातन [१-४० २-२४ ४-३१, ७-१०,
 ८-२० ११-१८, १५-७]

√पुर (अग्रगमन) आग गन्त हो चुकना । पुरा = पूर्वकालम
 सन् = हमगा । अिन गन्तको तन प्रत्यय लगाकर पुरातन और सनातन
 गण बनत ह । पुरातन = पूर्वकाशीन । सनातनका रूप होता है
 सनातन = सबकाशीन जो हमगा है जसा । पुराण गन्तकी व्युत्पत्ति
 ध्यान देन गायक है । पुरा अपि नवम अिति पुराणम, पुराना होने हुआ

भी जो नयाका नया रहता है और जिसकी अपुयागिता कम या क्षीण नहीं हाती वह पुराण है। मूयनारायण वद भगवान परमामा ये सब पुराण पुर्य ह।

सृष्टिकी अत्पत्ति, भुसका विस्तार मवन्तरादि काल मनुष्य जातिक वग और राजाआकी करतूनों अित्यादि बातें देवर तथा ळेग-वणन धम-भीमासा धम-मवाट युद्ध-वणन युगाक स्वरूपादि — धम मसृष्टि विषयक सब बातें जिसमें दी जाती ह असे सावभौम पठनीय ग्रन्थाका भी पुराण कहते ह। गीतामें पुराण शब्द जिस अथमें नहीं आया है। अितिहास और पुराण मिलकर ससृष्टिका बयान पूरा होता है।

जो चीज या तत्त्व जीण होता ही नहीं जो हमेगाके लिअ है अुमे मनातन कहते ह। जो सनातन है वह हमेगा नित्य नूतन रहता है जस सूर्योदय सूर्यास्त सत्य-अहिंसादि जीवन-तत्त्व और जिनक आचार पर रचा हुआ हिंदू धम।

सगश्च प्रतिसगश्च वशो मवन्तराणि च।

यगानुघरित चय पुराण पञ्चलक्षणम॥

पुरुष [२-१५, २१, ६०, ३-४, १९, ८-८ ८, १०, २२, ९-३, १०-१२, ११-१८ ३८, १३-१९, २०, २१, २२, २३, १५-१६, १७, १८, १७-३]

पुरि शेत अिति पुरुष । पुर = गरीर । गरीरके अन्दर जो रहता है वह जीवात्मा या आत्मा पुरुष है। अिसमें स्त्री-मुस्रपका भेद नहीं है। पुरुषमें स्त्रीका भी अन्तर्भाव है। पुराने साहित्यमें पूरुष भी लिखत है। पुरुष = अन्तर्यामी ।

साख्याकी परिभाषाके अनुसार पुरुष और प्रकृति सृष्टिक मुख्य तत्त्व ह। अिनमें से पुरुष केवल साक्षीरूप है अथवा अध्याक्ष है। सुख दुःखका अनुभव करता है और बाकी सब काय तो प्रकृति ही करती है। सत्त्व रजस तमम ये तान गुण प्रकृतिके ही ह। अिन्हीके विस्तारसे

बिन्दु बनता है। पुरुष जो प्रकृतिके बायका केवल सागी है, अपनेको अविद्याके कारण कता मानता है और बंधनमें आ पड़ता है। गीताके पद्मह्व अध्यायके अंश (१५-१६ १७ १८) क्षर पुरुष अक्षर पुरुष और जित दानास पर अमा उत्तम पुरुष अथवा पुरुषोत्तम जित तीनाका बणन है। सब मूताको क्षर पुरुष कहते ह। कूटस्थ जीवात्माको अक्षर पुरुष कहते ह। और जित दानाका वारण करनेवाल परमारमाको उत्तम पुरुष कहते ह। वह अल्पित और नित्य शुद्ध बुद्ध मुक्त स्वभावका हाता है। जुसीका नारायण कहा ह।

पूतपापा [१-२०] पूता [४-१०]

√पू (पवने) स्वच्छ करना पवित्र करना धा डालना। अपना पाप जिन्हान धा डाला है जुह पूतपाप कहत है। इस तरहम जा शुद्ध हुआ ह धाय हुआ ह अह पूत कहते ह। मस्त्रनमें दूसरी एक धातु है √पूय (विगारणे दुग्ध च) फाडना दुग्ध देना। पू और पूय गीताका भूत हून अथवा पूत बनता है। इस परसे विशेषण आया है पूति = दुग्धमुक्त (गीता १७-१०)।

गीता-वाल्में कहा गया है कि यज्ञमें तयार बिय हुआ मामरमके पानम सब पाप धोय जात ह। मोमबल्की क्या चीज है तो तो आज काभी नहा जानता है। मोमके नामसे कुछ वनस्पतिया बनाओ जानी ह महा किन्तु अनुमें मामक गुण उम नहा पाये जात। किमी वाम वनस्पतिक रमक द्वारा गरीर शुद्धि होती हा तो वह समझने लायक बात है। किन्तु अस रमके पानम पाप धोया जाय यह तो कवल थड्डाका ही पूत हा सकता है। अमिन्त्रे सामपानेन पूतपापा शब्द किल्बिषा भवति' य बात ध्यानमें नहा अती। किन्तु 'पानतपमा पूता यह बात अवश्य मानी जा सकती है।

मामका अय होना है चद्र। वह है मनका स्वता। जिसलिअ मामरमका अय मनका सकल्प गक्ति हम कर तो सकल्प गक्ति द्वारा पाप धोया जाता है यह बात ध्यानमें बनी है। अनुभव भी बसा हा है।

पूर्वाभ्यास [६-४४], अभ्यास [६-३५, ८-८, १२-९, १०, १२, १८-३६]

अभ्यासका मूल अर्थ है कोसी चीज बार-बार करना। बार-बार करनेसे आदत पड़ती है आदत पड़नेसे मौक्य और कौशल्य बढ़ता है बादमें आदत ही स्वभाव हो जाती है (Habit is second nature)। सफलता पानेका सबसे अच्छा अुपाय अभ्यास ही है गीताने अभ्यासको याग कहा है। 'सर्वत समाहृत्य चित्तस्य अेकस्मिन् आत्मन्वने पुन पुन स्थापनम् अभ्यासः।' अभ्यास यानी आवृत्तिमें चित्त न रहा तो वह केवल यात्रिक क्रिया बनती है। अुससे मौक्य जरूर बढ़ता है किन्तु और प्रगति नहीं हो सकती। इसलिये गीता कहती है कि अभ्यासकी — (केवल अभ्यासकी) अपेक्षा ज्ञान श्रेष्ठ है और ज्ञानसे ता ध्यान श्रेष्ठ है। क्वाकि ध्यान तो ज्ञानका ही अभ्यास है। मनुष्य जा जा अभ्यास या ध्यान करता है वह अुसकी अधिनागी पूजी है। अगर पूजकमें विसी चीजका अभ्यास किया है ता अस जन्ममें अुस पूजीसे ही मनुष्य अस जन्मका प्रारम्भ करता है और बगस जागे बढ़ता है। बाह्य साधन-सम्पत्तिका नाग हो सकता है आन्तरिक साधन-सम्पत्तिका नाग है ही नहीं। जन्मान्तरमें भी वह काम जा सकती है।

पूर्व [४-४५]

= पूर्व कालके लोगा द्वारा पूर्वजाके द्वारा।

मनुष्यमें पूर्वजाके प्रति आदर-वृद्धि स्वभावत रहती ही है। उनका अनुभव अुनका ज्ञान और अुनकी दूरदृष्टि नये जमानेमें नहीं पायी जाती असा मान लेनेकी नवीनाकी रुचि सब जानते ह। किन्तु अनुभव तो जमा निरपवाद नहीं है। प्रगतिके और परगतिके युग आत जाते रहते ह सबत्र प्रगति ही है अथवा परागति ही है असा जेकमात्र नियम नहीं है। नये नये प्रयोग करना, प्रगतिके बारेमें श्रद्धा रखना तो जीवनका स्वभाव है ही। ता भी अुत्साहमें दृष्टि अधी न बन जाय और पुरानी नानराशिके

प्रति जनास्था न हा जाय अिसल्लिअ प्राचीनाक प्रति आत्तर भाव
रखना आवश्यक है।

यह भा दसा गया है कि बहुतसी वातामें जिस हम नयी चाज
कहन ह वह प्राचीनाकी आजमाओ हुआ पाओ जाती है। अिसीलिअ
ता गगान यह अध-सत्य चलाया है There is nothing new under
the sun हमारे यहा भी जल्माहके साथ कहा गया है—व्याप्तो
लिच्छट जगत सवम।

पूयकत्व [९-१५, १८-२१ २९]

पूयक यानी अलग अलग। भू पर ध्यान दकर सट्टि जीर
जावनकी आर देखनकी दा प्रघान दट्टिया होनी ह। सत्त्वगुणी दट्टि
भक्का समझ ता लती है किन्तु अुस गौण अमार अयवा कवल भास
मात्र मानना है और भिन्न वस्तुआमें जो मूलगत अभू है अुसीका
महत्व माननी है। अिधर रजागुणी वृत्ति अकताका भूल जाती है
और भक्का ही मच्चा और वग मानकर अुसीके साथ समझौता
करनका काणिग करना है किन्तु अिस ध्यापारमें जाज तक कभी
भी कामयाव नही हुआ है। हम भक्का नाश नही कर सकत किन्तु
अगरा निरस्कार कर सकत ह अुसकी तुच्छता या नि माग्ना समझकर
अन ignore कर सकत ह। Ignore करना ही तिरस्कार है।
ध्यावहारिक और पारमाधिक दाना दृष्टिम दखना हा मच्चा बुद्धिमाना
है। जा लाग अकत्वन भा अपामना करत ह और विवतामुत्तम
बन्धा पूयकत्वन भी अपामना करते ह वे अम्यत्प और नि थयन
दानाका प्राप्त करत ह।

प्रकाण [७-२५ १४-११] अप्रकाण [१४-१३]

प्र + कण (गती) प्रकाण करना। प्रकाणक दा अय ह। अक
है अप्रकाण। अप्रकाण = अधरम जग्ग। दूसरा अय है—पान अयवा
प्रकाण जाना हुआ। अपान अधरक ममान है त्रिमलिअ पानका प्रकाण
कहन ह अमका मूजम अुमा करत ह (५-१६ १३-३३)। पान
हा मच्चा प्रकाण है त्रिमका काना छाया नहा है। प्रकाणमें हर चाजका

सच्चा स्वरूप हम जान सकते हैं। जिसलिये मफेद काला भग बुरा छाटा बडा जादि भेद अथवा विवक हम कर सकते हैं। अप्रकाश ता अत्यन्त अविवेक है। सत्त्वगुण निमल होनेके कारण स्फटिक मणिक समान प्रकाश प्रेता है (१४-६)।

जा गुणानीत हो गया है वह तो सत्त्वगुणी प्रकाश रजागुणी प्रवृत्ति और तमागुणी माह तीनाके प्रति कानानिक बुनासीनता धारण करता है।

प्रकृति

प्रकृति, विवृति और ससृति ये हमारे महत्त्वके गळ ह। विकार अथवा विक्रिया ये दो गळ भी अिन्हाके साथ ह। प्रकृतिके मानी हैं कुत्तरन या मष्टि और अुसका असली स्वभाव। अिस परसे प्रकृतिके अनन अथ हाने ह।

माख्यदगानने पुरुष और प्रकृतिका भेद बताया है। यह सारी मृष्टि — पञ्च महाभन और मन बुद्धि अहकार जित्पादिसब कुछ — प्रकृति है और अिनमें सामीरूप रहकर अिहें प्रेरणा देनेवाये आत्मतत्त्वको पुरुष कहा है। प्रकृतिके भी दो भेद ह — परा और अपरा।

सामान्य भाषामें हम मूल स्वभावका प्रकृति कहत ह। अुसमें जब विगाड होता है स्वास्थ्य नष्ट होना है या बन्ता है तब अुस विवृति कहत ह।

मनुष्यका अनुभव है कि अुसकी प्रकृति अपना मूल स्वरूप स्थायी रूपन पनड नहीं रखती। अुस या तो प्रयत्नपूर्वक सुधारकर ससृतिकारूप लिया जाय नहा तो जिन तरह दूध आप ही आप विगड जाता है प्रकृतिकी विवृति होना है। दहीका दूधका विकार कहा जाता है क्विन हमारी दृष्टिसे दही दूधकी ससृति ही है। दूधको विगडने न करे अुसमें अिष्ट परिवतन करनेसे दही बनता है। जमा न करने पर दूध मड जाता है। मनुष्य अपनी व्याख्याने अनुमार व्यापक अयमें दहीका विकार कहेगा अथवा गभका ध्यानमें करे अुस सस्कार कहेगा।

मष्टिमें दुःख दाप और मरण ही अधिक है असा देखकर जिनका मन मायूम हुआ है अुमने कहा है कि मरण ही हमारा प्रकृति है।

बीचमें थोड़े समय जीवित दशाम हम रहते हं अुसीको हम विवृति क्या न कह ?

मरण प्रकृति शरीरिणाम विवृतिर जीवितम अुच्यते बुध ।
यह मायसीकी भाषा है तत्त्वज्ञानका नहीं । तत्त्वज्ञान कहेगा —

जीवन और मरण दोना प्रकृतिके अन्तगत हां हं । दोना अकम गुभ हं । जम मरणके परे जाना यही है आध्यात्मिक सम्कृति । जिसीकी गीतान भूत प्रकृति मोष्य कहा है । भूतमात्रका प्रकृति अविचालक्षणा, अव्यवता है । अुसके परे जाना भूत प्रकृति-माय्य है ।

सस्कृतमें राजाकी प्रजाको भी प्रकृति कहते है । प्रजाके अुत्कर्षके लिये मेहनत करके समाजको सतुष्ट रखना यही राजाका क्तव्य है । राजा प्रकृति रजनात । राजाके कमचारियाको भी प्रकृतिपुरुष कहते हं । (जानामि त्वा प्रकृतिपुरुष कामरूप मघोन ।)

सत्त्व रज-सम य प्रकृतिके तीन गुण हं । प्रकृतिका असर जम जमान्तरमें नी पाया जाता है ।

प्रजहाति, प्रजहि, प्रजहीहि

ये अक रूप हां पातु परसे जाये हं । हां = छाड देना फेंकना । असा हां अक रूप है जहि लेकिन वह हन् (= मारना)का रूप है । गीताक तीसरे अध्यायके अतमें प्रथम कहा है कि चान विज्ञानका नाग करतवाल पापीका त्याग करो (३-४१) । आगे (३-४३) कहा है कि कामरूप दुःगसन् पात्रुको मार डाला ।

प्रजहीहि की जगह प्रजहि असा भी अक पाठ है जिसका अर्थ हाता है मार डालो ।

प्रजा [३-१० २४ १०-६] प्रजापति [३-१० ११-३९]

√जन (प्राणभवि) जम लना जम लेना । प्रजाका अर्थ है सत्तति अथवा जनता अथवा रयत रियाया । ब्रह्मावन जिनको पदा किया वे सब अनकी प्रजा हां हं और ब्रह्मावन हं प्रजापति । पुराणामें ब्रह्मादेवक पत्नी किये इभ दस प्रजापतियाका अन्त्य है अुन्हान सेप सब प्राणी पन् रिये । (अिया मित्रसिलमें गीता १०-६ देखिये ।) ब्रह्मावन

प्रजाको यन्त्रे साथ पैदा किया और दोनाको परस्परावलम्बी बनाया
असा यन्त्र रहस्य गीताने प्रगट किया है (३-१० ११) ।

प्रजामें अगर मकर पठ गया ता प्रजाका नाश होता है (३-२४) ।

शास्त्रामें राजा और प्रजाका सम्बन्ध पिता-पुत्रके समान बताया
है। त्रिमीस राजधम और प्रजाधम पदा हुअे। सामान्य कुटुम्बामें पिता
अपन लडकाका अज्ञान आश्रित और विधेय मानता है। फिर व वच्चे
बडे और मजान हुअे ता भी पिताकी वृत्तिमें वही भाव कायम रहता
है। राजा लग भी त्रिम पिताकी उपमाक वल वही गलती करने
लग। हमारा अमनी आदस था कि राजा प्रजाका अनुरजन करे
प्रजाके स्वाभाविक नेताआकी राय लेकर अुमके अनुसार राज्य करे हर
महत्त्वक काममें प्रजाके प्रतिनिधियाकी राय लकर अुमके अनुमार काम
करे।

राजा स्वच्छदी बना ता प्रजाका अधिकार था कि वह राजाको
गद्दीमे अुतार दे। गीतामें प्रजाधमका धिवरण करनेका प्रसंग अुपस्थित
नही हुआ, किन्तु यन्त्रधममें सब कुछ आ गया है।

प्रज्ञा [२-५७, ५८, ६१, ६७, ६८] प्रज्ञावाद [२-११],

स्थितप्रज्ञ [२-५४, ५५]

मेधा [१०-३४], मेधावी [१८-१०], दुर्मेधा [१८-३५]

बुद्धि [२-३९ ४९, ३-४२, १८-२९ अित्यादि],

अकृतबुद्धि [१८-१६]

प्र + √ना (अवबोधने) जानना।

प्रज्ञा = बुद्धि ज्ञान शक्ति, विचार शक्ति।

मेधा यानी बुद्धि, धारणा-शक्ति। √मिथ या √मेय या √मेघ
घानु। प्रज्ञामें त्रिमी विषयके अदर प्रवेग करके अुमका रहस्य डूढ
निकालनेकी शक्ति व्यक्त होना है। मेधामें प्राप्त किये हुअे ज्ञानको धारण
करनकी स्मरणमें अुपस्थित रखनेकी शक्तिका बाध हाता है।

त्रिमी मिलसिलेमें याग और क्षेमके बीचक भेदका स्मरण
करना। बुद्धिक द्वारा सत और अमनका बाध होना है। बुद्धिके

बारेमें अिसवे पहले लिगा है। विवेक गलना अध होता है भ्रम-गना भेद सारासारा भ्रम जाननी शक्ति।

जिसन अपनी बुद्धि गुद जीर तज करनका वागिग नहीं का है वह अवृत्तबुद्धि है। अद्वैतबुद्धि असास्वारिताना गण है। दुर्मेधाका जय होता है स्मरणशक्ति और बुद्धि हीन हानक कारण जा दुरा वाने ही परठ पर रतता है छोडता नहीं।

प्रणव [७-८]

प्र + √न = जावाज करना स्तुतिकरना कीतन करना। अिन परम प्रणव आया है। ॐकारका प्रणव कहने ह। सब वगारा गार अिन ॐकारम आ जाता है। [अिसका रहस्य माडुक्य अपनिपत्रम जीर गौडपादकी कारिकाआमें दिया गया है। छान्दाग्य अपनिपत्रमें भा प्रणवकी अपामना बताजी है।]

छादोग्यन अपिवो ध्यानावस्थामें गुनाभी श्रिया नि मूय जावगमें ॐ स्वर करत ही दौडता है। सब प्रायनाआरा गार ॐ हा है। भूत भविष्य वतमान सब ॐ ही ह। आत्माका नाम भी ॐ है। जमरा जो सार तीन जयवा अुससे भा श्रिय मात्राअें ह व सन तागृति स्वर मुपुष्टि आदिकी ही प्रतीक ह।

जब बोधी मनष्य अपनी समति ध्यनत करता है हा नह चाहता ह तब ॐ ही कहता है। अिग तरह ॐ सनातन हा व अस्तित्वका अस्तित्वका श्रद्धाना दातक है। ॐ में सब दवनाभाव अन्तभाव हाता है सब मत्राका यह बीज है सब मत्राश्रितता यह विधान है अयात्मगासनका अगम और अत ॐकारम ही है।

प्रणिपात [४-३४] प्रणिधाय [११-४४] सेवा [४-३४]

प्र + नि + √पन = पाव पडना।

पान प्राप्तिके साधनामें मुख्य होते ह निरीक्षण परीक्षण और प्रयोग। किन्तु यह हुआ भौतिक पान दुनियाकी पान। त्वाद्रिय आध्यात्मिक पान ता पानी गुरूके द्वारा ही मिठ सकता है। वे अना पान अधिकार याना माय्यता दस बिना नहीं दत। हमारी सच्ची जिज्ञासा जीर

पारमार्थिकताका सवृत जब हम देंगे तभी व अपुणे न सक्ते है। अिम पर भी हमारी आरसे कुछ महनन करनेकी बाकी रहती है। पानी गुस्का आचरण और अुमकी वक्ति दम्बर ही हमारी तयारी हा सकती है। केवल गदामि जो बात ध्यानमें नही आती वह मत्मगते मिलनी है। नम्रताक विना हमारी चित्तवक्ति अनुबूल नही हानी। यह नम्रता बनानेके लिजे और बनानेक लिजे प्रणिपात (नमस्कार) जरूरी है। प्रणिपातके द्वारा हम अपनी नम्रता और श्रद्धा यकन करत ह। मवाने द्वारा अेक ता हम गुस्ने अुअण हान ह दूसरे गुस्का काम करनेमे अुसे पुरमत मिलनी है िममें वह पान-दानका काम कर सक। लकिन अिमसे भी बडी बात यह है कि मवाने द्वारा हा गिष्य गुस्का सच्चा परिचय पा सकता है। अिमीलिअ सेवक गिष्याको अन्तवासी (नजनीर रहनेवाला) कहते ह।

आजकल गुथूपा गद मेवा या परिचयाक अथमें प्रयुक्त हाता है किन्तु अिमका असली अथ — मुननकी अुक्कट अिच्छा अितना ही है। गुठ जैसा कह वमा करनेकी और मुमबा काम करनेकी तत्परता भी गुथूपाका अथ है। अिम तरहम गुथूपामें श्रद्धा जिज्ञामा परिप्रन्न नम्रता और सेवा ये सब बातें आती ह। श्रोतुम अिच्छा गुथूपा। अिमी अथमें अुपासना गद भी आता है। अुपासना यानी पास बठना। प्रणिघाय' यानी नमस्कार द्वारा गरीरको दुकाकर।

प्रतिजाने [१८-६५], प्रतिजानीहि [९-३१]

प्रति+ √ज्ञा (अवबोधने नियोग)। ना=जानना किसीका नियुक्त करना। प्रतिजाने=म प्रतिना करता ह मत्य कहता ह वचन दना ह। प्रतिजानीहि=हे अजुन, तू अपो मनके साथ निश्चय कर खात्रीसे मान ले (कि मरे भक्नका कभी भी गान नहा हाता है)। प्रतिजानाहि' में दा भाव ह (१) स्वयम निश्चयपूर्वक जान ले और (२) अपना यह विश्वास नि गक हाकर दुनियाका जाहिर कर कि ।

अिम चीजको हम निश्चयपूर्वक मिद्वान्तके तौर पर जानते ह असाको हम प्रतिना कहते ह।

'गाम्त्र-वचना' का 'गास्त्रकी प्रतिना' भी कहा जाता है।

प्रतिष्ठा [१४-२७], प्रतिष्ठितम् [३-१५], प्रतिष्ठाप्य [६-११], प्रतिष्ठिता [२-५७ ५८ ६१, ६८]

√स्था (तिष्ठ) (गतिनिवृत्ती) ठहरना राह देवना स्थिर होना। जिससे प्रतिष्ठाका अर्थ है आधार घर स्थिरता कीर्ति बुच्च भूमिका स्थापना प्राप्ति शान्ति। भगवान् ही ब्रह्मकी धमकी और सुखकी प्रतिष्ठा है (१४-२७)। गीताका आदेश है कि जीवन कृताय करनके लिये ब्रह्मनिर्वाण प्राप्त करनके लिये मनुष्यकी प्रजा प्रतिष्ठित यानी स्थिर होनी चाहिये।

प्रत्यभावगमम [९-२]

अव+√गम=समझ लना।

अर्थात्=आव। जो वस्तु आवने सामन होती है वह तुरन्त लिखाभी देती है। देखी हुयी चीजके प्रति विश्वास भी बढता है। अग्नि शब्द सब अद्रियाका द्योतक माना जाता है। अगर हमन काभी चीज स्वयम मुनी तो हम कहते ह कि मन प्रत्यक्ष मुनी। जो चीज किसीक कहनम माननकी बात नहा है तक्से अनुमान करनकी नहीं है केवल श्रद्धास ग्रहण करनकी भी नहीं है किन्तु जिसका सीधा अनभव ही हा सक्ता है असे प्रत्यक्षावगम कहते ह। अवगम्=जानना।

भगवान् गीतामें जो राजविद्या बता रहे ह वह धर्मानुकूल है अनपठान-मुग्ध है उसके फल अस्यापी नहीं ह और वह विद्या प्रत्यक्ष अनुभवमें आनवानी है। जिस आचरणका फल तुरन्त ही मित्र जाता है और अनुभवमें आता है अुमके बारेमें रोचक फलश्रुतिया कहनी नहीं पडती। श्रद्धास मान लो असी appeal भी नहीं करनी पडनी। क्याकि प्रत्यक्ष अनुभवकी ही वह बात होना है।

जिसी अर्थमें भगवान् वद अपन जप्यागिक मागका अहि पश्यक धम्म कहन ह [अहि=आजा परय=येवा।] आओ और प्रत्यक्ष त्या अनुभवमें आ जाय तो अुमका स्वीकार करो। जिरागमका भी यहा दावा है कि अमकी बातें अितना युक्तिसगत ह कि तुह मुनन हा मरु प्रहतिक गंगाका विस्वाम बढ जाना है।

प्रत्युपकारायम् [१७-२१]

जब किसीको हम नान करत ह कुछ देते है तब कबल अुमके भलेका ही खयाल मनमें रहना चाहिये। दान करनेसे अुसके फल-स्वरूप मुझे दिव्य लोक मिलगा जमी आगासे दान करना अथवा दानके द्वारा आज जिसका म अुपकार कर रहा हू वह वृत्तज्ञता-बुद्धिसे अथवा अुअण हानेके लिये मेरे सकटक ममय मरा अुपकार अवश्य करेगा या कमसे कम वृत्तज्ञ तो हमेशा रहेगा ही जसी आगासे अपेक्षामे जो दान लिया जाता है वह रजागुणी दान है। दानके बदले जा प्रनिदान दिया जाता है अुमे प्रत्युपकार कहते ह। प्रत्युपकारकी वास्ता मनमें रखनेस दान दान न रहकर सौदा हो जाता है वह तो अुधार देनेका अेक प्रकार हुआ। जो व्यक्ति सात्त्विक वृत्तिम दान दता है वह प्रत्युपकारकी प्रतिफलकी अपक्षा नहीं रखता निष्काम भावसे ही दान दता है। किंतु अिसका यह अथ नहीं है कि कमके अटल आध्यात्मिक मिद्धात वह नहीं जानता अथवा नहीं मानता। हम जिसे मद करते ह वह हमारी मदद करेगा अथवा अुसी रूपकी मदद या प्रतिसवा हमें मिलेगी असी बात नहीं है। किन्तु भलाअीका फल भलाअीके द्वारा मिल ही जाता है। वह कब कस किस रूपमें और कहामे मिलेगा सो हम नहीं जान सकते ह न हमें जाननेकी कोशिश करना चाहिये।

असा कोशिश या अपेक्षा करनेसे दानकी सात्त्विकता गट्ट होती है।

सर्वोच्च दान वही है जो असे लोगाका दिया जाता है कि जिनक प्रत्युपकार करनेकी सभावना ही नहीं। अथवा जा दान किसीने अपने प्रति किये हुअे अुपकारका वाज्ञा अुतारनेके भावसे नहा किया है। दीयते अनुपकारिणे (१७-२०)।

प्रपन्नम् [२-७], अनुप्रपन्न [९-२१]

प्र+√पद (गलौ) शरण जाना शरण लेना पान जाना, स्थिति प्राप्त करना। अनुप्रपन्नका अर्थ है अनुसरण किया हुआ।

जब तब मनुष्यमें अहकार है तब तक अुममें आध्यात्मिक वृत्तिका अुदय नहा हो सकता। अपना आग्रह छाडकर सामारिक वस्तुआकी

आसक्ति छाडकर निराग्रही अनासक्त बननेसे नान-ग्रहणकी योग्यता आती है। सदगुरुकी गरण जानसे और सच्छास्त्राका अनुसरण करनेसे नान मिलता है और हजम होता है। गरण जाकर जात्मगुडि प्राप्त करनेके मागको प्रपत्ति या प्रपत्तियाग कहते ह। प्रपत्तिक द्वारा नान प्राप्त हाकर सशयकी निवृत्ति होती है और प्रसाद मिलता है। (प्रसाद = मनकी प्रसन्नता बुद्धिकी निमलता)

प्रभु [५-१४, ९-१८ २४] प्रभव [७-६ ९-१८
१०-८] प्रभवम [१०-२] प्रभविष्णु [१३-१६]

√म भव (सत्तायाम् प्राप्ती) होना रहना बनना पना हाना जित्यादि। प्रभव = अत्पत्ति जम अत्पत्ति-वारण। प्रभविष्णुका जय हाता है अत्पत्ति करनेवाला प्रभाव डालनेवाला समय अथवा स्वामी। असे प्रभविष्णु तत्त्वका ही जानने योग्य समझकर भुसकी प्राप्तिका प्रयत्न करना चाहिय।

जो जुत्पन्न करता है प्रभाव डालता है और स्वामी है जुसे प्रभु कते ह (५-१४ ९-१८ २४ ११-४ १४-२१)।

परमात्माका लक्षण दो ढगसे बताया जाता है। एक वह सच्चिदानन्द स्वरूप है। दूसरा वह प्रभविष्णु है प्रभु है।

प्रमाण [३-२१, १६-२४]

अष्ट पुरुष जिस माय आन्तरणीय या योग्य बताते ह जिस अपनी समति देत ह और प्रतिष्ठित बनाते ह वही सब लोगाके लिअ माय या ग्राह्य हाता है। जस अष्ट यकिनयोके अभिप्राय जुनकी सूचनाओं और जुनका नसीहत गिन प्रयामें गिखी जाती ह वे शास्त्रग्रथ भी जादरस पढ जात ह। अनभवी नाना और ममाज हितपी यकिनयाके अद्यतन भुप दाना स्वानार करना चाहिय। शास्त्रको ही प्रमाण समझना चाहिय। अम विगपन उक्तायकाके वचनका आप्तवचन कहा जाता है। नयायिकान प्रत्यक्ष अनमान और भुपमानके साथ आप्तवचनका ना प्रमाण माना है।

प्रमादालस्यनिद्रा [१४-८, १८-३९]

तमोगुणके ये तीना प्रतीक ह प्रमाद यानी भूल अथवा असावधाना, आलस्य और निद्रा।

प्रमाद (११-४१, १४-९ १३ १७)। √मद (हृपग्लेपनया) सतुष्ट हाना दयनीय स्थितिमें रहना पागल होना अित्यादि। प्रमादका अर्थ है असावधानी का दृष्टी भूल। मद्य पीनसे मनुष्य असावधानामें आ जाता है। जा नगा पदा करता है वह मद्य है। तरुण स्त्री भी अपने लावण्यसे आकर्षित करती है और पागल करती है जिसप्रकारे उसे प्रमदा कहते ह।

प्रमाद और माह तमोगुणके प्रधान लक्षण है (१४-१७)।

अग्म (१८-२८) जा मनुष्य अनुत्साहरहित है यहा तक कि कतन्य कममें भी प्रवृत्तिशील रही रहता भुक्त हम आलसी कहते हैं और भुक्त स्वभावका आलस्य कहत ह। मनुष्यक और दोष दूर करना गायद आमान हा। किन्तु आलस्यके समान मुरदार दोषका दूर करना मयमे कठिन है। ब्रह्मशास्त्रमें आलस्यकी व्याख्या अिन प्रकार की है—
‘गक्तस्य अपि अनुत्साह कमनु नालस्यम जुच्यत।

बुद्ध भगवानने प्रमादकी मृत्युका स्थान या कारण बताया है।
‘पमाना मच्चुना पदम्। जो अप्रमादी है वहा अमृतत्व पा सकता है।
प्रलय [७-६, ८-१८, १९, ९-१८, १४-२, १४, १५, १६-११]

√ला(द्वीकरणे)गीला करना, गलाना। √लय्-जाना। परब्रह्म में से अथवा परम महत्में से यह सृष्टि उत्पन्न हानी है। भुनीका गवितस वह जीवित रहती है और बडती है तथा अन्तमें भुसीमें लय होती है। उत्पत्तिके श्रवता हैं ब्रह्मा पाप्मनके विष्णु और प्रलयके महादेव। मनुष्यके सामान्य मरणका भी प्रलय कहा जाता है, पथ्वीका जब अन्त होता है तब भुमे भी प्रलय कहत है। अनक युगाक कल्पक बाद जब ब्रह्मण्यकी आयु खतम हानी है तब महाप्रलय हाता है जिसमें भू भुव स्वर् अित्यादि सब लोक मय त्र अपि, भुनि और स्वयम् ब्रह्मा

सबका नाग होता है। महाप्रलयके बाद दीपकाल तक प्रमुप्त रह कर सष्टि फिरस जम लेती है। गीतामें नीचेके स्थानामें प्रलयका अथ सामाय मरण है (१४-१४ १५ १६-११)। युगके नागके अयमें नीचे के स्थानोम वह आया है (८-१८ १९ १४-२)। और ७-६ ९-१८ में दाना अथ अभिप्रत ह।

जुपनिषदका वचन यतो वा अिमानि भूतानि जायते, यन जातानि जीवन्ति, यत प्रथन्ति, अभिसविशन्ति तत जिज्ञासस्व, तद ब्रह्म अिति ।' भूतमात्र जब लौटते ह और जुसीमें प्रवेग करत ह तब वह प्रलय है। (तत+ज) (तत+ल) (तत+जन) = तत (ज+ल+जन) = तज्जलान। ब्रह्मका ही यह अक गुप्तनाम है तज्जलान।

प्रलय और महाप्रलयके बीचमें कल्पान्त आता है। अिस समय गायत्र ब्रह्मदेवकी अक कल्पनाका विस्तार पूरा हो कर अुसका प्रयाग भी पूरा होता है। अक कल्पम हजार युग होत ह और हमारे ४३ २० ००० वष हात ह। कल्पक्षय (गीता ९-७) कल्पादी (९-७)।

प्रविलीयते [४-२३]

पूणतया विलीन यानी नष्ट हाता है।

प्रवृत्ति [११-३१ १४-१२ २२ १५-४ १६-७
१८-३० ४६] अप्रवृत्ति [१४-१३]
निवृत्ति [१६-७ १८-३०]

√वत (वतन) रहना हाना बनना जीना। कठोपनिषदमें कहा है कि ब्रह्मदेवन अिद्रियाका बाहर दौडनवाली बनाया है अिम वास्ते मनुष्य बाहर त्वता है। दृष्टि जुस्टाकर आत्माका देखनवाल् बहुत कम हात ह (कठ० ४-१)। मनष्यका स्वभाव ही दुनियवी वस्तुआकी जार दौडनवा है। जिमकी वति बहिमखी होती है असा मनुष्य जा कुछ भी काय करता है जो कुञ भी कम करता है अस प्रवृत्ति कहने ह। सामाय तोर पर सब तरहक कायका प्रवृत्ति कहने ह। प्रवृत्ति याना व्यापार चला ससार माया जल्पति तित्यात्ति।

जैसी प्रवृत्ति छोड़ देनेका और निफ बठ जानेका कहते हैं अप्रवृत्ति । अप्रवृत्ति यकानके कारण आलस्यके कारण अथवा तमोगुणके कारण हो सकती है (१४-१३) ।

किन्तु जब मनुष्य अधिकांश प्रवृत्तिकी व्ययता देख सता है और जीवनकी कृताङ्गताके लिये आत्माका ओर लौटना चाहता है तब वह दुनियवी बानाकी ओर दौटना बन्द कर देता है और फिर अेकाग्रतामे और अुल्माह्म आत्माकी आर जानेकी नये ढङ्गी प्रवृत्ति जारामे चलाना है । जिस लौटनेकी प्रवृत्तिको निवृत्ति कहते हैं । निवृत्ति जन्म प्य नही होती । निवृत्तिमें कमोंका विस्तार सकुचिन किया जाता है मही । किन्तु दूसरे प्रकारकी प्रवृत्ति बन्ग्री जाती है । निवृत्तिमें कम दिहीनताके लिये अवकाश नहा है । (निवृत्ति गळ भी देख लाजिये ।)

प्रशान्तात्मा [६-७, १४ २७]

जिसका मन या हृदय गान्त हुआ है पूणतया स्थिर हुआ है अुसीका प्रमाद प्राप्त हो सकता है वही योगी बन सकता है । अुमीको प्रगात-मनस भी कहा है (६-२७) ।

प्रव्यथितान्तरात्मा (११-२४) और प्रगान्तात्मा (६-१४) जब दूसरेके विरुद्ध हैं । जमे विपाश और प्रमाश भी अेक दूसरेक विरुद्ध हैं ।

प्रसाद [२-६४, ६५]

प्र+ √सद् (विचारण-गति-अवसादनेपु) टूटना जाना गिरना जित्यादि । प्रसाद = प्रमन्नता निमलता शान्ति सन्तोष । प्रसादका दूसरा अर्थ है दया कृपा महरवानी ।

बारिष्क दिनमें मिट्टीक कारण पानी मला रहता है । कुठ न्निके बाद मिट्टी नीचे बठ जानेमे पानी आप ही आप माफ हाता है तब कहन ह पानी प्रसन्न हा गया । मिमतीका बीज (क्तकरेणु) बालनेस भी पानी जल्दी साफ हाकर पीने लायक होता है ।

मनका भी वमा ही है । मनमें जब काम माधादि दाप प्रबल हात हैं तब बुद्धि धुधली-सी हा जाती है । मन निर्विकारी हात ही चित्तमें प्रसाद आ जाना है । प्रसाद प्राप्त हाने ही मनकी भव आधिया

और आधिया, और सब कुछ दूर हाथ है (२-६५)। मनुष्य प्रगल्भता
 होन पर (२-६५) अंगकी बुद्धि स्थिर हाता है। अस मनुष्यका
 प्रसन्नात्मा भी कहत है क्यकि अंगरा हृदय (आत्मा) तिम् गूढ
 और सन्तुष्ट हुआ है। प्रसन्नात्मा (१८-१४) हृदय-शासन पर रहता
 है अंगमें पक्षपात नहीं हाता जिमा चीजकी अपेक्षा आवागता भी नहीं
 रखता जिसलिअ अंग पराभक्ति (१८-६८) प्राप्त हाती है।
 गीताका पहला अध्याय विपाठ प्राय है। आन्विकी अध्याय
 प्रसाद-योग है (१८-७३)।

प्रियहितम [१७-१५], हितम [१८-६४]

जा चीज सुखकर भा है और हितकर भी है अंग प्रियहित
 कहते ह।

अस दुनियामें अमी बातें दुर्लभ बढत कम हाती ह। कठोपनिषत्में
 (२-१ २ ४) प्रत्यक्ष यमराज कहत है कि श्रेय अङ्ग है और प्रय
 अलग है। य दाना मनुष्यका जन्म अङ्ग जिगाअमें सींच ले जात
 है। अिनमें से श्रेयको हितकरका पसन्द करनवायेका भला होना
 है। और प्रय (सुखकर) का पसन्द करनवायेका नुकसान हाता है। जो
 बुद्धिमान है वह सुखकरको छोडकर हितकरका पसन्द करता है। जो
 बुद्धिमद है वह सिफ पट चलानक लिअ प्रय यनी सुखकरका पसन्द
 करता है। अिन दोनोका फल जन्म जलग है। [नीचे श्रेय देविय।]
 लेकिन नित्य-सत्त्वस्य यकिनको अपनी वाणीक तपके लिअ
 प्रियहित बोलनकी ही आन्त डालनी चाहिय।

श्रेय [१-३१ २-७ ३-२ ११, ३५, ४-३३ ५-१,
 १२-१२ १६-२२, १८-४७]

√श्री (पाके) पकाना अवालना। √त्रि (सेवायाम्) आश्रय
 लेना।

अपत श्रेय अपत अत अवे प्रय
 ते अंभे नानार्थे पुरुषम सिनीत ॥

तयो श्रेय आददानस्य साधु भवति
 हीयते अघात य अ प्रेया वणीते ॥
 श्रेयो हि धीरोऽभिप्रेयसो वणीते
 प्रेयो मदो यागश्रेमान वणीते ॥ (ऋ० २-१२)

अहिक सुत्रापभाग और याग-श्रेम सब प्रेयमें शामिल किया गया है तब हम श्रेय किस वहे? श्रेय वहा है जो आमाकी अुन्नति करता है आमाका गिरने नही दना। श्रेय वही है जिसम दूनरेके भलेको हम अपना भला समझत हैं। जिद्रिय-जयक बिना काम श्रेय लोभके नागव बिना मनका मारे बिना श्रेयकी प्राप्ति नहा हानी है।

प्रिय [७-१७, ९-२९, ११-४४, १२-१४, १५, १६, १७, १९, १७-७, १८-६५]

√ प्री (प्रीती तपणे च) स्नेहका अनुभव करना मताप पाना किमीका सुग करना।

अुन्नतिपदामें प्रेय और श्रेयका विराध बताया है। प्रिय परम हा प्रेय गल आया है। जा चीजें प्रिय अथवा सुखकर होनी हैं व हिनकर हाती हो ह असा अनुभव नहा है और जा हिनकर हानी ह व प्रारम्भमें गरारका या मनको सुखकर हाता हो हैं असा भा अनुभव नही है।

बुद्धिहीन मनुष्य श्रेयको नही समझना है प्रयकी आर दोहना है और नुक्मान पाता है। बुद्धिमान पुष्प श्रेयका ही स्वीकार करता है और अमीका प्रियकर बनानेकी कागिण करता है।

जा मनुष्य पानी है म्थितप्रन है त्रिगुणानीन है वह प्रिय और अप्रिय दानाके प्रति समान भावमे अुदामीन और अल्पित रहता है (५-२० १४-२४)।

मवभूताका हिन चाहनेवाला तपस्वी अमी हा बाने बालता है जा मय हा प्रिय हा और हिनकर भी हा (१७-१५)। श्रेय और प्रेयका विराध टालकर वागाका प्रयाग करना मचमुच वही कठिन तगम्या है।

प्रियाय [११-४४]

जब अजुन श्रीकृष्णका विश्वरूप देखता है और उसका काल स्वरूपका काम समझ लेता है तब श्रीकृष्णकी भयताका खयाल करके और उसे विराट पुरूपको सखा समझकर उसके साथ जो अति परिचय किया उसके लिए क्षमा मागता हुआ बिनती करता है कि हे भगवान जिस तरह पिता अपने पुत्रके और मित्र अपने मित्रके अपराध सहन करता है उसी तरह मेरे अपराध सहन करो अर्थात् क्षमा करो। पिता पुत्रकी और सखा-सखाकी जुपमा तो स्पष्ट है। उसके बाद प्रिय प्रिया याहसि दब सोठुम अस शब्द आय है। यहां अप्रमावाचक 'अिव शब्द नहीं है तो भी जिस तरह कोई प्रिय पुरुष अपनी प्रिय स्त्रीको सहन करता है उसी तरह मुझ सहन करो उसी तीसरी जुपमा चंद योग लते ह। जिसमें सधि-दाप आदि व्याकरणके दोष आ जात ह। प्रियाया जसा स्त्रीलिंगी पट्टी विभक्तिका रूप लेना व्याकरणके विरुद्ध है। असलिये प्रियाय जसा पुल्लिंगी चतुर्थीका रूप लेना ही ठीक है तथा तीसरी जुपमा न लेकर केवल अितना अर्थ लेना चाहिये कि तुम प्रिय मेरे जैसे प्रियके लिए सहनशीलता बताओ।

प्रत्य [१७-२८ १८-१२], प्रेत [१७-४]

प्र + √अ (गती) । प्रत्य = जिस दुनियासे विदा होकर जाकर यानी मरकर। जिस अर्थ परस प्रत्यका अर्थ परलोकमें असा भी हाता है। प्रत गदका अर्थ है जिस दुनियासे गया हुआ यानी मृत यक्तिकी जात्मा। अब तो प्रत गदका अर्थ जीव चले जानक बाद पीछ रह हुआ शरीरके गवका लगाते ह। प्रतोकी पूजा गव पूजा नहीं है किंतु मृतात्माकी पूजा है। इसी सिद्धिसिलेमें पितव्रता गद दखना चाहिये।

कठोपनिषत्में साम्प्रगय गद आय है जिसका अर्थ है मरणक बादकी आत्माकी स्थिति। उस गदके और भी अर्थ होते ह जस कि परलोक प्राप्तिके साधन भविष्यकालकी भीमासा युद्ध और यद्ध-सम्बन्धी बानें। अिहलोक और परलोकके सधि-स्थानमें ही युद्ध रहता है।

हो सकती है हमारी गतिविधा का विश्वास हो सकता है। प्रत्यक्ष फलसे तो कमोबेश सुख मिलेगा या सग्रह बढगा साथ साथ सग्रहका बंधन भी बढेगा। जिसलिये कम करनेके कारण फलके बारेमें जितना भी अधिकार हमें प्राप्त हुआ ही कुछ छोड देना ही अच्छा है।

फलहेतु [२-४९]

किन्तु जो लोग फलका शोध करते ह वे बंधनमें जा पडते ह। फलतत्त्वासे प्रेरित होकर वे कृपण बनते ह और समत्व-बुद्धि खो बठते ह।

फलाकांक्षी [१८-३४]

फल प्राप्तिकी जिच्छा रखनेवाला।

बलम् [१-१०, ७-११, १६-१८, १८-५३]

बल (प्राणन धायावरोधने च) सास लेना जीना अनाजका सग्रह करना जीजा पहचाना। जिस परस बलका अर्थ हुआ सामर्थ्य, शक्ति, जबरदस्ती। शैयका भी बल कहत ह (१-१०)। जबरदस्तीके अर्थमें बलन अथवा बलात शक्तका व्यवहार हाता है जिसी परसे बलात्कार शक्त आया है। बलका मूल अर्थ शारीरिक शक्ति भले ही हो किन्तु चाटुशक्ति माय चद्रबल, बुद्धिबल द्रव्यबल मधुबल आभबल आदि प्रयोग भी प्रचलित ह। उपनिषदोंमें जानी किन्तु नियत मनुष्यका अवहेलना ही की है अर्थात् शक्तम् विज्ञानवताम जेको बलवान आकषयत अथवा जक भी बलवान मनुष्य सौ जानियाको कषाता है। उपनिषदोंमें अपिदान अथवा स्वयम् यमराजन कहा है 'नाथमात्मा बलहीनन सम्य' अर्थात् बलहीन मनुष्य आत्माको प्राप्त नहा कर सकता। और जगत् पर बल है बलेन लोक तिष्ठति — बलके आधार पर ही यत् जीवनक सदा है।

भगवान स्वयं कहत ह कि बलवान लोगमें काम रागके दोषाम मुक्त जा बल हाता है विजय पानका शक्ति हाती है वह मेरी ही विभूति है। यह शक्ति जितमें नहीं है वह अहि-पशुलकमें कुठ भी नहीं पा सकता। चारा पुण्याय अमरं जिजे आकाशपुण्यवत् ह। अमरकी मनो बलिका भागानन हृद्य-शौच्य कहा है।

बहुमत [२-३५]

बहुभि गुण युक्त अिति बहुमत । अनेक अच्छे अच्छे सदगुणासे युक्त है जसा जिसके बारेमें समाजका अच्छा अग्रिप्राय है उसे बहुमत कहत ह । जिस तरह बहुमत माय ब्यक्तिका जो मान मिलता है उसे बहुमान कहते है ।

बहुशाखा [२-४१]

√गात्र (व्याप्तौ) फलना ।

भारतीय ससृति बनापवनकी ससृति है, जिसलिअे ससृत भाषामें वन और वृक्ष आदि गत्र अुपमा रूपक आदिके रूपमें जहा तहा पाये जात ह । प्रथमे विभागको शाखा पत्र बल्ला कहना सयामियाके नामके साथ वन अरण्य, गिरि, सरस्वती तीर्थ, पवत अित्यादि नाम लगाना सब अमीक लक्षण ह ।

जेव वृक्षकी अनेक शाखाओं हाती ह और अेक अेक शाखामें अनेक प्रशाखाओं होनी ह । वसे ही जो लग प्रमाणजनित विवेक-बुद्धिमे रहित ह अर्थान् अव्यवसायी ह, उनके मनमें सकल्प विकल्पात्मक अनेक शाखाओं फूटती ह ।

बाला [५-४]

वाग्ना मूल अय है वच्चा । लेकिन शास्त्रप्रथामें बालका अय होता अत्र गग, अविचारी लागि । प्रहण धारण-पटु बाल न तु स्तनधय ।

बुद्धि [२-३९, ४१, ४९, ३-२, ४२, ४३, ५-११, ६-२५, १२-८, १८-२९, ५१ अित्यादि]

(बुद्धिके प्रथमान्त स्थान बहुत है वे यहा नही दिये है । अप्रधान कारकके स्थान लिये ह ।)

√बुध् (बोधने) जानना, समझना, मानना । समझनेकी शक्तिको भी अथवा बुद्धि कहते है । निचयात्मकवृत्तिपुत्रम अन्तकरणम बुद्धि । बुद्धिका काम निणय देनेका है । गानामें (१८-३०, ३१ ३२) बुद्धि तीन प्रकारकी बतायी है — नात्त्विकी, राजगी साममी । शास्त्रामें

बुद्धि पाच और सात गुण बताय गये हैं (१) अिष्टानिष्ट विपत्तिश्च
 (२) ध्यवसाय (३) समाधिता (४) सगम (५) प्रतिपत्तिश्च बुद्ध
 पञ्चगुणान विदुः ।

अिती बुद्धिचे सात गुण य ह

गुभ्रूया ध्वणम् चव ग्रहणम् धारणम् तथा ।

अहापोहोपविज्ञानम् तत्त्वज्ञानम् च धीगुणा ॥

अिस बुद्धिकी नष्ट करणवाले बारह दोष बताय ह

गोक श्लेषदच सोभश्च कामो मोह परामुता ।

और्षा भानो विचिकित्सा हिसाऽसूया जगुप्सता ॥

अनुभव कहता है कि बुद्धि तटस्थ होत पर भी मनुष्यक अपन
 कमचे प्रभावके नीचे आ ही जाती है। अिसीलिअ मनहरित कहा
 है—बुद्धि कर्मानुसारिणी। जस जिकसे कम बमी अुसका बुद्धि।
 अिसलिअे जो कुछ कम हम कर सोचकर ही कर ताकि बुद्धि भ्रष्ट
 न हो जाय, बुद्धिका भेद न हो जाय। मनुष्यके पास अपनी जो
 गवितया ह अुनमें सबसे श्रेष्ठ है बुद्धि। अुसे गुड रखनसे सब कुछ
 सिद्धिया प्राप्त होती ह। जाय धाणक्य कहता है भेरे सब साया मुक्त
 छोड दें तो परवाह नहीं मरी बुद्धि मुक्त छोड न जाय—बुद्धिस्तु
 मा गात मम ।

बुद्धिप्राप्त्यम [६-२१]

जो आत्यन्तिक सुख है वह अिन्द्रिय-जय नहीं किन्तु बुद्धिप्राप्त्य
 हाता है। अिन्द्रिय-जय सुख अन्तर दुःखको ही पदा करता है।
 अिसीलिअ कहा है 'ये हि सस्यजा भोगा दुःखयोनय जय ते
 (५-२२)। जो बुद्धिप्राप्त्य सुख है वह परम सुख है। असा बुद्धिप्राप्त्य
 सुख जस प्राप्त है वह बडा दुःख आन पर भी विचन्ति नहा होता।

बुद्धिनाश [२-६३]

बुद्धिनाशके जो अन्क कारण बताय ह अुनमें गीतात अन् कारण
 बताया है स्मृति भ्रम (स्मृतिका अय होता है जागति alertness
 memory विवेक)। अिकसे नागसे बुद्धिनाश होता स्वाभाविक है।

जिम मित्रसिलमें दूमरे अध्यायक ६२ ६३ दोना दलाव देखने चाहिये और जिनके साथ अपर बताये हुजे वारह दोपाका मुकाबला करना चाहिये।

बुद्धिभेदस भी (३-२६) बुद्धिनाग हाता है। परस्पर विराधी मिद्वान लागाक सामने रखनेसे अथवा लागाके अधिकारक बाहरक मिद्वान भुह वतानेस अनुकी वृत्ति जा डावाढोल हाती है असे बुद्धिभेद कहत ह।

पानीका जिम बानकी सावधानी रखनी चाहिय कि अमुक अपुण्यस या आचरणमे अज जनताका बुद्धिभेद न हाने पाव।

बुद्धियुक्त [२-५०, ५१]

यहा बुद्धिका अथ समत्व-बुद्धि है। समत्व-बुद्धिवाला आदमी ही योगी बन सकता है।

बुद्धियोग [१०-१०, १८-५७]

भक्तियोग ज्ञानयोग, कमयागक समान बुद्धियाग काज्रा स्वतंत्र माग नहीं है। यहा मागका अथ केवल मयोग ही है। बुद्धि प्राप्त हाना और समत्व-बुद्धिसे चलना ही बुद्धियोग है। जिसको गीताने साम्ययाग भी कहा है (६-३२ और ३३)। जा भक्त है अमुकी बुद्धि गुड और विवकयुक्त करनका कोर भगवानने दिया है (१०-१०)। यहा बुद्धिका अथ सम्यक ज्ञान अथवा श्रीचर विषयक ज्ञान शा है। बुद्धियोग Rationalism नहीं है। अपनी बुद्धि श्रीचरमें लगाकर अमुकी गरण जाना जुगीता ध्यान करना बुद्धियाग है (१८-७)।

साम्यबुद्धि किन्वात्मक-बुद्धि और श्रीचर-शरण-बुद्धि — ये बुद्धियाग तान पहलू ह।

बुद्धियागका अथ बुद्धिम याग भी हाता है (६-६३)।

बुध [४-१९, ५-२२, १०-८]

बुध (बोधने) जानना समझना मानना। गीतानें जिस बुध कहा है यह ज्ञानी ही है। पानी, पहिल धीर, मनीसी और बुध ये सब

अब ही आदश पुरुषके नाम है। गीताका बुध पाताग्निमे कम-ब-पनको जला देता है। जुमक मव कम काम-नव-पस मुक्त रहत ह। जिद्रिम जय भोगाकी धार सुसका रचि तहा ब-ती। यह सारा विश्व भगवानम ही पैदा हुआ है यह समयकर भुम भगवानकी ही वह भक्ति करना है।

ब्रह्म [३-१५, ४-२४, ३१, ५-६, १९, ७-२९, ८-१३, १३, २४, १०-१२, १३-१२, ३०, १८-४, १८-५०]

√ब्रह्म (बुधभने बुद्धी) बुधोग करना, बडना आवाज करना। जिती परमे बहत (= बडा) शब्द लाया है।

जा सबसे उडा है, सबव्यापी है सब-समय है वह ब्रह्म है। जिन ब्रह्मका वणन या स्तवन जिनमें है उसे नी ब्रह्म कहते ह। जिन अथमें ब्रह्म यानां स्ताय, मत्र वेद अंकार।

वेद और तपस्मा द्वारा जो मर-यापी ब्रह्मकी जुपामना करत ह, बुहें भी ब्रह्मन कहते ह। जिन अथमें ब्रह्मन् = तपस्का ज्ञाना, ब्राह्मण, और ब्रह्मदेव।

ब्रह्मकम [१८-४२]

ब्राह्मण जातिका जा धाम कम है जुस ब्रह्मकम कहत है। गीताने ब्रह्मकममें ब्राह्मणाक काम न दते हुए अनके गुण और मुनका ध्यय ही रनाया है। ज्ञान और विज्ञान (Culture and mystical experience, Realization) ह ब्राह्मणके ध्येय और गम, दम तप गीच धान्ति (धमा) और आजक (अकुम्लितता) य हुअ जुमके गुण जिह प्राप्त करनेक लिज मारी जिदगां भुसे मेहनत करनी चाहिय। स्मनियाम ब्राह्मणाके छह कम बताये ह। तीन ह धम पालनके लिज और तीन आजीविकाके लिजे। अध्ययन यजन जार दान ये आमाप्रतिके लिज ह। अध्यापन याजन और प्रतिग्रह (पत्नाना यन करवाना और दान लेना) य तीन ब्राह्मणकी आजीविकाके लिज ह। जिनमें से अध्यापन बेक आजीविकाके लिजे नहीं है। सुसन द्वारा लाकाप्रति और मस्कुनि रमण भी होने ह।

ब्रह्मकर्मसमाधिना [४-२४], ब्रह्मव गतव्यम्

ब्रह्मकर्म-समाधि यह पानीका विनोपण है। ब्रह्मरूपी कर्ममें जिसने अपनी समाधि लगायी है उस ब्रह्मकर्म-समाधि कहते हैं। अमे जात्मीका ब्रह्मकी ओर ही जाना है। पानीका सब कर्म निष्काम यज्ञका रूप ही धारण करता है। तमाम कर्म ब्रह्म ही है जमा श्रद्धासे पानी काम करता है और उसका कर्म ब्रह्मकर्म रूपमें ही प्रगट होता है। जमा कर्म बचनकारक नहीं होता।

हरजेक द्विजका अपना जीवन निष्पाप बनानेक लिअे समाजमें बुअण होनेक लिअे पंच महायण करने पन्त ह। उनमें ब्रह्मयण अेक है। यहा पर ब्रह्मका अय है वेद पान परमार्थिक आध्यात्मिक पान। जिन पानना, जिन वन्विद्याका रक्षण, सबधन और प्रचार अव्याहत चाडू रखनेक लिअे ब्रह्मयणका विधान है। वेद सीखना और सिखाना जिनका प्रधान रूप है। पारमार्थिक सस्कृतिक आधाररूप जा महाप्रथ ह जुनका पठन-पाठन अध्ययन-अध्यापन मनन चिन्तन गगनार चलना रह जिनलिअे रोज ब्रह्मयण किया जाता है। जिनके साथ साथ जिन प्राचान और अवाचीन अपियाने अपने अवयण सगोधन और अनुशीलन द्वारा पानकी परम्परा कायम रखी है उनका कृतननापूर्वक स्मरण यानी श्राद्ध करनेकी बात भी ब्रह्मयणमें जाती है।

ब्रह्मचर्य [६-१४, ८-११, १७-१४]

जिस पन्तका मूल अय कुछ अलग है। ब्रह्म = वन्। वन्तका जका पताने अध्ययन करनेक लिअे जा चर्या यानी समित जीवन त्रम बनाया है वही ब्रह्मचर्य है। गुरुगृह-वाम जिद्रिय निग्रह और अध्ययन ताना मित्र करक ब्रह्मचर्य होता है। जिनमें स जिद्रिय निग्रह द्वारा कायिक वाचिक, मानसिक वीयरणा सप्रस प्रधान है। जिनलिअे जुनीको ब्रह्मचर्य कहन लगे। ब्रह्मचर्य प्रतिष्ठित याना स्थिर होनेम मनुष्यका वीपलाभ हाता है (योगसूत्र २-३८)। अमसे मनुष्य वयकाय हाता है। वीयरणा ब्रह्मचर्यका प्रधान लक्षण होनेम अम पारीरिक तन कहा है। ब्रह्मचर्यके सामग्र्यस ही वेदग्रहण और ब्रह्मज्ञान हा मरना है। पाण-भाषनाके लिअे भी ब्रह्मचर्य अत्यन्त आवश्यक है।

आश्रम-व्यवस्थाएँ अनुसार आठ वषण एकर श्रम कम बाग
 वष तर जीव अधिका अधिका अहतात्मास वष तर अविगाहिन रहन
 जिद्रिय निग्रह-पूर्वक वष-अध्ययनके लिअे गुरुगृहमें अगक अधीन रहनेका
 विधान है। स्मृतिनाम अगका विस्मार् पाया जाता है। गानामें निष
 ने हा जगट पर ब्रह्मचर्य-आश्रमका क्रिक आता है (४-३४ ६-१६)
 जहा गुरुगृहमें रहकर गुरु गुरुश्रूपा, भिन्ना भाजन प्रणिपात परिश्रन,
 सेवा आदि द्वारा ज्ञानप्राप्तिकी साधना करनकी बात है।

साधीजीवा कहना है कि पशुपार रहिन सरस्मिबय-भाव दूढ करनक
 लिअे भी ब्रह्मचर्यकी आवश्यकता है। गानी करनसे विगिष्ट स्त्रीक
 प्रति पत्नीभावक कारण जो आवषण या विषय आत्मापता पना हाता
 है वह ममदर्शिताक लिअे बाधक हो सकती है। गृहस्थाश्रमी बननसे
 अपन पदा किय हुअे बालवच्चाके प्रति विशेष धम पना हाता है।
 अुसक हात हुअे ममदर्शिता सिद्ध करना आसान नही है। भाभी-बहनका
 नाता और माता पिताका नाता हमारा बनाया हुआ नही होता। लकिन
 पत्नी जीव अपत्यका सबध हम क्या पना करे?

**ब्रह्मनिर्वाण [२-७२, ५-२४ २५ २६] ब्राह्मी स्थिति
 [२-७२]**

सब कम निष्काम भावसे अपण करके वृत्तिको ब्रह्ममय करके रखना
 अिसे ब्राह्मी स्थिति कहते ह। असी ब्राह्मी स्थितिमें अन्तकाठ तक रहनेसे
 मनुष्य ब्रह्मनिर्वाणका पहुचता है अर्थात् मोक्ष पाता है। अन्तिम घडीमें
 ब्राह्मी स्थिति रही तो भी मनष्य मोक्ष प्राप्त करता है। फिर था शकरा
 चायक समान बचपनसे ही जसी वृत्ति रखकर ब्रह्मचर्याश्रमने ही ना
 सपान लते ह और जीवन भर ब्रह्म भावना कायम रखते हैं वे ब्रह्म
 निर्वाणका जायेंग यह कहनेकी आवश्यकता ही क्या?

बौद्धान ब्रह्म शब्दके शगडेमें न पडते हुअे बबउ निर्वाण ना
 ही अपनाया। अुनका कहना था कि निर्वाणका वषण हम क्या
 करे? निर्वाण अनुभवका वस्तु है। अगर निर्वाण ब्रह्म निर्वाण ही है
 तो अुमका अनुभव हुअे बिना रहेगा नही। अर्चामें अुनरनसे निर्वाण
 साधनामें विषय पदा होता ह। अुममें बचता ही अच्छा।

ब्रह्मयोग [५-२१]

परब्रह्मक साथ ली लगानेका ब्रह्मयोग कहत है। ब्रह्मयोगक द्वारा जिनका अन्त करण साम्यावस्थाका पहुच गया है जुम ब्रह्मयोग मुक्तामा कहत ह।

ब्रह्मवादिन् [१७-२४]

ब्रह्मका या ब्रह्मको जा मानत ह और वेदका पाठ प्रवचन चलत ह जुह ब्रह्मवादा कहते ह। ब्रह्म जाननेवालेका ब्रह्मविन कहते ह (५-२० ८-२४)।

ब्रह्मज्ञानक साथ ब्रह्म-साक्षात्कारकी सिद्धि प्राप्त हानेके बाद दूसरका ब्रह्मका शिक्षा-शिक्षा देनेका अधिकार निस प्राप्त हुआ ह अुमाका गायक ब्रह्मवादा कहना चाहिये।

ब्रह्मसंस्पर्शम् [६-२८]

ब्रह्मके साथ होनेवाले सम्पर्कन प्राप्त होनेवाला (मुख)।

मुख दो प्रकारक होने ह। अेक है अिन्द्रिय-गम्य बाह्य स्पर्शजय (५-२१) और दूसरा है बुद्धिग्राह्य अतीन्द्रिय (६-२१)। जा बुद्धिग्राह्य है अुमाका ब्रह्म-संस्पर्श कहा है। अिन्द्रिय-जय मुख (अिन्द्रियावे) विषयके साथ अिन्द्रियाका स्पर्श हानेस प्राप्त हाता है और वह मुख अन्तमें मुख ही पला करता है (५-२२) (ये हि संस्पर्शका भोग बुद्धयानय अेव ते)। जा बुद्धिग्राह्य मुख हाता है वह अतीन्द्रिय हाकर आत्यन्तिक होना है। वह अिन्द्रियाके सम्पर्शस पदा नहा हाता, किन्तु ब्रह्म-संस्पर्श हाता है (६-२८)।

ब्रह्ममूत्र [१३-४]

त्रिस श्लाकमें ब्रह्ममूत्रका अुल्लेख आया है वह महत्त्वका श्लाक है। क्षेत्र-क्षेत्रन-मीमासा तिस अध्यायमें ह अुस तैरहवें अध्यायका शत्राध्याय कहत है। क्षेत्रकी व्याख्या करत समय भगवानका अपि-बचनका और ब्रह्ममूत्रका स्मरण हुआ है।

प्रधान उपनिषद्‌गत दार्शनिक यचनाका अकर्मित करण अनुमें स
 अक निश्चित तत्त्वज्ञान निचाल कर श्री कृष्ण द्वापयनन ब्रह्मसूत्राति
 द्वारा यह ज्ञानकी वाणिग की है ति उपनिषद्-यचनाग वर
 तत्त्वज्ञान कग फलित होना है । नारतायान अग वाणिगारा महा
 माना है । अिसलिअ जा वाओी उपनिषद्‌गारा अय करन जाना है
 अुनवा कतव्य हाता है ति यह यह भी गिड करे ति अुगारा तिया
 हुआ अय ब्रह्मसूत्रास विरापी नही है ।

ब्रह्मसूत्रपत्र में श्री कृष्ण द्वापयनन ब्रह्मसूत्राता अयवा गारा
 सूत्रावा अुल्लेख है या नही य अर अतिहागिन चर्चारा तिया है ।
 जा लोग मानते ह कि शारीरसूत्राता अिसमें अुल्लेख नहा है व
 ब्रह्मवाचक वचना द्वारा अय करते ह । किन्तु सूत्रपत्र श अिनने
 ध्यापक अयमें नही आ सकता है । विगिष्ट प्रयवा ही अुल्लेख यहां
 लेना चाहिय ।

गीताकी रचना कव हओी और वांगरायणक ब्रह्मसूत्राका रचना
 कव हओी अुसका निणय अगर हा जाय ता हम आमानास अिसरा
 निणय कर सकते ह । गीताका ब्रह्मसूत्र गळ त्खवर ही वांगरायणकी
 अयन सूत्राक लिअे यह शळ रचना मन हुआ हागा । अयवा वांगरायणक
 सूत्रप्रयवा ही गीतामें स्पष्ट अुल्लेख होगा ।

ब्राह्मण

जो ब्रह्मको जानता है वह ब्राह्मण । गीतामें २-४६ में ब्राह्मण
 गळ आया है, वहा श्री गकराचायन अुसका अय सयासी तिया है ।
 गीतामें चार वर्णोंका अुल्लेख जाता है । वग (१८-८१
 ९-३३ १७-२३ और ५-१८) ब्राह्मण गळवा अय प्रयम वर्णका
 यक्ति अितना ही है ।

अुपनिषदांमें धम्मपद जादि बुद्ध भगवानके वचनामें और जन
 प्रथोमें भी ब्राह्मण गळ विगिष्ट गुणवाचक अयमें आया है । बुद्ध
 भगवानके वचनासे असा ही मालम होता है कि ब्राह्मण गळ जो
 वर्णवाची है अुसका निपध करके वे गणवाचक अयम ब्राह्मण गळका
 प्रयाग करते ह ।

अपनिपदमें ब्राह्मण गल् कृपण शब्दके विरोधमें आया है (वह्नारण्यक ३-८-१०)। वहा जो आदमी अन्तर ब्रह्मको न जाननके कारण जमान्तरक फेरमें फसा हुआ है अउसे कृपापात्र कृपण कहा ह और जिसने ब्रह्मका जाना है वह ब्राह्मण है।

गातामें ब्राह्मण और क्षत्रिय जिन दो वर्णोंके बारेमें आदर व्यक्त हुआ है। और अुह स्त्रा-वन्द्य-शूद्रामि श्रेष्ठ बताया है। स्मृतियामें ना यह मिलसिला चला है। लेकिन वेदान्त विद्या वर्णगत श्रेष्ठत्वका महत्त्व नहा देता। गीतामें ब्राह्मण गाय हायी कुत्ता और घाडाग सबके प्रति समदर्शी हानेकी सिफारिश ह। महाभारतमें भी जगह जगह चारो वर्णोंकी समानता पर जोर लिया है। गीताका बाध ता चार वर्णमें (और चार आश्रममें) समानता दखनका ही कहता है।

भक्त [४-३, ७-२१ ९-३१ ३३, १२-१ १४ १७, १९, २०], भक्ति [८-१० २२, ९-१४, २६ २९, ११-५४, १३-१०, १८-५५, ६८]

√भज (मवायाम) सेवा करना बाट लना थवलम्बन करना स्वीकार करना प्रेम करना भक्ति करना नगीव हाना। भज का अमली अय है आकृष्ट हाकर पाम जाना अुमकी सेवा करना और अुपभाग करना तथा अन्तमें अपनेका अुपभागके लिअे अर्पित कर दना तना जाकर आत्मापणके द्वारा द्रवतका नाग हाकर अद्रवत मिद्ध हागा। भक्तिका सर्वोच्च रूप है अमेद भक्ति। अिममें आकृषण-अपणके लिअे द्रव भी आवश्यक है और प्राप्ति-नप्ति-आनन्दका अद्रव भी। श्री गन्तराचाय कहन हैं—मोक्षकारण-सामप्याम भक्ति अेव गरीयती—मान प्राप्तिका जो माघन-नमुनाय है अुसमें सबसे श्रेष्ठ भक्ति हा है। अितना कहकर दूसर ही वाक्यमें व कहन ह—स्वस्वरूपानुपघान भक्ति अिति अभिघायते—अपने अमली आत्मस्वरूपका प्रेमाद्रनपूर्वक स्मरण ध्यान रखना यहा भक्ति है। आत्मस्वरूपके साथ जुड जाना बध रहना ही भक्ति है याग है। अनुसन्धानका अय गान भी है निषय भा है अनुसरण भी है जुड जाना भी है और अन्तमें गान्त हा जाना भा है। असलिअे अपने आत्मस्वरूपकी खोज करनेम लेकर

जगत् गाय तन्नाम ह्ये जान तव गत्र भाव भक्तिमे आन ह
 त्रित तरह अन्तमें भक्त और भगवानका साथ ता होना ही है साथ
 गाय नान और भक्तिका भी अभ्य हा जाता है।

भक्तियोग [१४-२६]

चारहवें अध्यायका भक्तियोग कहा है। सातवें और नौवें
 अध्यायमें भी भक्तक लक्षण पाय जात ह। अंगमें भक्तक जा लक्षण
 त्रिय ह व ही ज्ञानीके यागीक और स्थितप्रज्ञक भा लक्षण ह।
 गीतामें य जो भिन्न भिन्न लक्षण त्रिय गय ह व सब अर हा आत्मा
 पुरुषक लक्षण ह। पहलूमें याडा कुछ अिधर अधर पक हागा।
 भक्तियोगमें भक्तिक द्वारा आत्माका परमात्माक साथ सम्बन्ध या
 याग त्राड तेनकी बात रहती है। भक्ति प्रमके द्वारा त्रिस यागको
 सिद्ध करती है। जब ता जीवात्माकी परमात्माक साथ कुछ दूरी
 है तब तक भक्तियोग विरह्यक्त आवषणका रूप धारण करता है
 और आत्माका परमात्माके चरणमें पहुचनका प्रयत्न रहता है
 त्रिस प्रयत्नक लिअ भज् त्रियापत्का अपयोग होता है (भजस्व
 ९-३३ भजन्ति भजन्ते ७-१६ २८ ९-१३ २९ १०-८
 भजने भजति ६-३१ ४७ ९-३० १५-१९)।

जो आवषण भक्तका भगवानक प्रति है वही अथवा अससे
 अविन भगवानका भक्ताके प्रति भी होता है त्रिसलिअ भगवानक
 लिअ भी यही त्रियापद जाता है (४-११)। भगवानकी वक्तिका
 पता द्वाक ९-६ और ०-१२ मे चरता है। भगवानन स्वयम
 भक्ताके चार प्रकार बताय ह और अुनमें ज्ञानियोको अपनी आत्मा
 बताया है। नाय साथ त्रिस तरहसे नान और भक्तिका अभ्य भी
 बताया है।

भक्त्युपहृतम [९-२६]

अप+√ह (हरण)।

पत्र पुष्प फल ताय आदि जा कुछ भी वस्तु भक्ति भावसे
 अषण की जाती है त्रिस भगवान प्रसन्नतासे खा लेते ह। √ह (हरण)

+अप, पास ले जाना अपहार यानी भेंटके तौर पर लाकर दना अपग करना। भक्त्या, भक्तिपूर्वकम प्रापित्तम अपित्तम।

नगवन् [१०-१४, १७]

यह शब्द गीतामें श्रीकृष्णक भाषणक पहले आता है। सम्बृत्तमें विभूति छह गुण और अक्षय माने गये ह जुह भग कहन ह।

अवयस्य समग्रस्य धमस्य यत्त श्रिय।

ज्ञान-वराग्ययो चेति षण्णाम भग अतीरणा॥

श्री गकराचायने ये छह गुण जिस प्रकार बताये ह

ज्ञानशक्त-बलवीयतेजोनि सदा सम्पन्न भगवान।

सूयका भी नाम भग है। भगका अर्थ देव अथवा भाग्य भा हाता है। अदाहरण

आस्ते भग आसीनस्य अूष्व तिष्ठति तिष्ठत।

गते निपद्यमानस्य चराति चरतो भग।

अिद्रका यह वचन है।

समस्त ब्रह्माणकारी गुण और शक्तिके निधानको भगवान कहन है। भगवान श्रीकृष्णकी गाओ हुआ अपनिपदका भगवदगाता कहन है। अमलमें यह गीता शब्द अपनिपदका विशेषण है।

भयम [२-३५, ४०, १०-४, ११-४५, १८-३५]

√भी (भये)।

गीतामें कहा है कि भय और अभय दाना भगवानके ही भाव है (१०-४)। देह-बुद्धिक साथ भय आता है आत्म-बुद्धिके साथ अभय आता है। जब काशी तारक पुरुष किमी भयभीत पुरुषको 'मा भ की अभय-वाणी सुनाता है तब वह डरे हुये जादमाक हृदयका अपने हृदयके साथ जाड देता है और अपनी सहायताके साथ अपनी निभयता भी कुछ न कुछ द ही दता है। अगर काशी मनुष्य विवाभाके साथ अपने हृदयका जा द ता वह निभय बनेगा और सहायता पानेकी अपना छाडकर सहायताका दाना बनेगा।

जुनक साथ तत्कार हो जान तवक सब भाव भक्तिमें जात ह ।
 जिन तरह अतमें भक्त और भावानका अन्ध तो होता ही है साथ
 साथ नान और भक्तिका भी अभद हो जाता है ।
भक्तियोग [१४-२६]

वारद्वे अध्यायको भक्तियोग कहा है । सातवें और नौवें
 अध्यायमें भी भक्तके लक्षण पाय जाते ह । जसमें भक्तके जो ल्
 स्थि ह वे ही नानीके यागीके और स्थितप्रज्ञके भी लक्षण ह
 गीताम य जो भिन्न भिन्न लक्षण दिय गय ह वे सब अक ही आत्
 पुरुषक लक्षण ह । पहलूमें थोडा कुछ अघर अघर पक हागा ।
 भक्तियागम भक्तिवे द्वारा आत्माका परमात्माक साथ सम्बध या
 याग जोड देनकी बात रहती है । भक्ति प्रमवे द्वारा जिस योगको
 सिद्ध करती है । जब तक जीवात्माकी परमात्माके साथ कुछ दूरी
 है तब तक भक्तियोग विरहयुक्त आकषणका रूप धारण करता है
 और आत्माका परमात्माके चरणाम पहुंचनका प्रयत्न रहता है ।
 जिस प्रयत्नके त्रिअ भज क्रियापदका अुपयोग होता है (भजस्व
 ९-३३ भजन्ति भजन्ते ७-१६ २८ ९-१३ २९ १०-८
 भजने भजति ६-३१ ४७ ९-३० १५-१९) ।

जा आकषण भक्तका भगवानक प्रति है वही अथवा अुससे
 और भगवानका भक्ताक प्रति भी होता है जिसलिअ भगवानके
 त्रिअ भा यहां क्रियापत् आता है (४-११) । भगवाकी वक्तिका
 पना द्वाक ९-६ और ९-१२ मे चलता है । भगवानन स्वयम
 भक्ताक चार प्रकार बताय ह और उनमें नानियोको अपनी आत्मा
 बनाया है । माय माय अिम तरहमे नान और भक्तिका अभद भी
 बनाया है ।

भक्त्युपहृतम [९-२६]

अप+√ह (हरण) ।

पत्र पुत्र पत्न साथ आत् जो कुछ भी वस्तु भक्ति भावमे
 जग का जाती है अुस भगवान प्रयत्नताम खा लेते ह । √ह (हरण)

+अप, पास ले जाना अपहार यानी भटके तौर पर लाकर देना अपण करना। भक्त्या भक्तिपूर्वकम् प्रापितम् अर्पितम्।

भगवन् [१०-१४ १७]

यह शब्द गीतामें श्रीकृष्णक भाषणके पहले आता है। सस्कृतमें विभूतिके छह गुण और अन्वय माने गये हैं। अहं भगवन् इति ।

अन्वयस्य समग्रस्य घमस्य यगस धिय ।

ज्ञान-धराण्ययो चेति षण्णाम भग अतीरणा ॥

श्री शंकराचार्यने ये छह गुण अिस प्रकार बताये हैं

ज्ञानशब्द शक्ति-बलवीर्यतेजोभि सदा सम्पन्न भगवान् ।

सूयका भी नाम भग है। भगका अर्थ देव अथवा भाग्य भी होता है। अुदाहरण

आस्ते भग आसीनस्य अूष्व तिष्ठति तिष्ठत ।

गते निपद्यमानस्य चराति चरतो भग ।

अिद्रका यह वचन है।

समस्त कल्याणकारी गुण और शक्तिके निधानको भगवान् कहते हैं। भगवान् श्रीकृष्णकी गाथा हुआ अपनिपदका भगवद्गीता कहते हैं। असलमें यह गीता शब्द अपनिपदका विशेषण है।

भयम् [२-३५, ४०, १०-४, ११-४५, १८-३५]

√भी (भये) ।

गीतामें कहा है कि भय और अभय दोनों भगवान्क ही भाव हैं (१०-४)। देह-बुद्धिके साथ भय आता है, आत्म-बुद्धिके साथ अभय आता है। जब काशी तारक पुरुष किसी भयभीत पुरुषका 'मा भू' की अभय-वाणी सुनाता है तब वह डरे हुये आदमीक हृदयका अपने हृदयके साथ जोड़ देता है और अपना सहायताके साथ अपनी निभयता भा कुछ न कुछ द ही दता है। अगर काशी मनुष्य विन्वात्माके साथ अपने हृदयका जोड़ देता तब वह निभय बनेगा और सहायता पानेकी अपना छाडकर सहायताका दाता बनेगा।

जब याज्ञवल्क्य मुनिन राजा जनकको ब्रह्मज्ञान दिया तब अन्तमें कहा— 'हे सम्राट अभयम व ब्रह्म अभयम व प्राप्नोति सम्राट ।' (बृहदारण्यक ४-१-७ ४-४-२५)

जो मनुष्य ब्रह्मसत्य हुआ वही एक पूणतया निभय हा सकता है। जिसील्लिअे कहा है 'द्वितीयात व भयम भवति'। दह-आत्माका द्वत स्व परका द्वत धनी निधनका द्वत भय पग करते ह।

भयकारक वस्तुका या प्रसगको भयानक (११-२७) या भयावह (३-३५) कहते ह।

विश्व कल्याणकारी सब भूत हिते रत असे यकितका श्रष्ठ धम यही है नि अपनी अहिंसा-वृत्तिके द्वारा सब भूतोको अभय दान दं। विश्वात्मक्य भाव दढ होन पर हृदयस द्राह निकल जाता है। असा ही आदमी सबको जभय-दान दे सकता है। स-याम आश्रममें प्रवग करते समय विश्वात्मक्य भावके साथ भूताको अभय-ज्ञान देनका मत्र बोला जाता है जिसे प्रप कहत है— 'अभय सबभूतेभ्य' 'मस सबम प्रवतते' (यतिधमसग्रह)। यह दूसरा मत्र गीता १०-८ में आया है।

भयाभये [१८-३०]

सात्त्विक बुद्धिका लक्षण बताते यह शब्द आया है।

जो बुद्धि अधमको ही धम मानती है असी विपरीत बुद्धि तामसी है। धम-अधमका भू और कार्य-अकार्यका भू तो जो जानता है लेकिन प्रवृत्तिके माहके कारण जो बुद्धि असे भूत्वा स्पष्ट रूपमें नही जानती वृ राजसी बुद्धि है।

सात्त्विक बुद्धिका गान गुढ और निमल होता है। कौनसी प्रवृत्ति योग्य है किस प्रवृत्तिसे दूर रहना अच्छा है अिसका भद जो जानती है कौनसा कम करने लायक है कौनसा नही वध किस तरह हाता है मोष किस तरह होता है अिसका विवेक जो गुढ रूपसे जानती है वह सात्त्विक बुद्धि है। जिस विवेचनके अनुसधानमें भया भय का चितन और अतमधान करना चाहिये। श्री गकराचाम कहते ह कि भय और अभयका कारण जाननवाली बुद्धि सात्त्विक है।

मोघा अथ यह है कि भय किम बातका रखना और किस बानका नहा रखना किम बातने डरना चाहिये किससे नही डरना चाहिये अित्यादि विवक जो जाननी है वह सात्त्विक बुद्धि है। पापने डरना तथा सकटमे मौतसे, गलत-महमियसे नही डरना अितना जा जाननी है वह है सात्त्विक बुद्धि। (१०-४ भी देखिये)।

भाव [२-१६, ७-१२, १३, १५, २४, ८-४, ६, २०, १०-५, १७, १८-१७, २०], भावना [२-६६]

√भू (मत्तायाम् प्राप्ती अवकल्कने) होना पाना सोचना, गुद्ध बनना। भाव=हस्ती स्वभाव स्वरूप अस्तित्व अवस्था स्थिति, तत्त्व भाव पदाय भावना। भावना=ध्यान, भक्ति।

वगालीमें भावनाका अथ हाता है चिन्ता गुजरातीमें लागणी, मराठीमें श्रद्धा। यात्शी भावना यस्य सिद्धिर भवति तादृशी।

भावसंगुद्धि [१७-१६], सत्त्वसंगुद्धि [१६-१]

मानम तप और दवी सपत्तिके गुणामें भावसंगुद्धिका स्थान है। मन प्रनात्के साथ और आजवके साथ और अद्रोहक माथ भाव-संगुद्धि और सत्त्व-संगुद्धि आना ही चाहिये। भाव-संगुद्धि यानी अन्त करणकी निमलता।

भूतग्रामम् [८-१९, ९-८, १७-६]

√भू (सत्तायाम्)। जिहें अस्तित्व है वे भूत ह।

जो सास लने ह वे प्राणी हैं, जिह चतन्य है वे जीव ह और जड चेतनादि सब स्थावर जगम सत्तामात्र भूत ह।

√ग्राम (आमवणे) बुलाना, अिकट्टा करना। ग्रामका अथ है समुदाय जानि सघ गाव। गीता १७-६ में भूतग्रामका अथ होता है 'जिद्रियाका समुदाय' जिद्रियाक रूपमें जो पचभूत अिकट्टा हुअे हैं अुनका समुदाय। भूतग्रामका अथ होता है सृष्टिके तमाम ब्यक्ति।

भूतभत [९-५, १३-१६], भर्ता

√भ (भरणे धारणपोषणया) पोषण दना पालन करना आश्रय देना। भगवान अिस विश्वमें रहकर चराचर सचतन अचतन सब तत्त्वोका पालन करते ह। उनका जीना भी भगवानक ही आनार पर निर्भर है। अिसलिय भगवानको भर्ता कहते ह।

भूतभावोदभवकर [८-३]

अजुनके सवालके जवाबमें भगवान कमकी याख्या देते हुअ कहते ह कि — भूताकी अुत्पत्ति करनवाल विसगका कम कहत ह। अिसमें विसग ग^३ मुख्य है। श्री शंकराचार्यन विसगका अथ किया है दवताके जुद्गासे चरु पुरोडाग जादि द्रव्याका परित्याग यही है लक्षण जिसका असा यज्ञ। विसगका व्यापक अथ है भजना पेंचना त्याग दान सृष्टि सष्टि-व्यापार जित्यादि। यहा पर विसगका यापक अथ है सृष्टिका यापार।

भूताका भाव यानी भूतोकी हस्ती अुत्पन्न करनवाला जो मृष्टिका यापार है वही सचमुच कम है The Process of Creation अितना यापक अथ करके भी अुसमें कमयात्रका समावग नहा होता। अुत्पत्तिकर कमका ही यहा अुल्लेख हुआ। हालाकि अजुनन जिस कमकी याख्या पूछी थी वह तो ७-२९ म भगवानन जिस अखिल कमका अुल्लेख किया वही था।

भूतसर्गा [९-१२ १३, १६-३ ४, ५ ६ अित्यादि]

भूतसर्गका सामाय अथ है प्राणियोकी अुत्पत्ति अथवा सहज स्वभाव। यहा पर जिनका अथ है प्राणियाक दो प्रकार दो स्वभाव, अथवा दो ससृष्टिया। दव और आसुर जिन नो विभागामें मानवी ससृष्टि बटी हूअी है। दवी सम्पतके रोग आत्मिक कल्याणका आन्श सामन रखकर अध्यात्मगात्रका प्रमाण रखकर चलते ह। आसुरी सम्पतिके लोग भोग और अश्वयके पीछे लग हुअ रटते ह। व लोकायतिक हाते ह।

तीसरा प्रकार राक्षसी वृत्तिके लोगका है। तमोगुणके कारण उनका विकार नहीं हाता, जिसलिये उनके जीवनका सम्पत्तका नाम भी नहा दिया है। नौव अध्यायमें राक्षसी आसुरी और दवी जसी तीन प्रकृतिया बताओ ह। उनमें स अन्तिम दो ही सम्पत्ति या सम्पत्त कहने लायक ह अेक आसुरी, दूसरी दवी।

प्रकृति	$\left\{ \begin{array}{l} १ \text{ दवी} \\ २ \text{ आसुरी} \\ ३ \text{ राक्षसी} \end{array} \right\}$	$\left\{ \begin{array}{l} \text{सम्पत्} \\ \text{विपत्} \end{array} \right\}$	$\left\{ \begin{array}{l} १ \text{ सात्त्विक} \\ २ \text{ राजसिक} \\ ३ \text{ तामसिक} \end{array} \right\}$		
				$\left\{ \begin{array}{l} \text{सम्पत्} \\ \text{विपत्} \end{array} \right\}$	$\left\{ \begin{array}{l} १ \text{ सात्त्विक} \\ २ \text{ राजसिक} \\ ३ \text{ तामसिक} \end{array} \right\}$

राक्षसीके लिये यह लोक भी नहीं है परलोक भी नहा है। वह अयन (४-३१) है। आसुरी सम्पत्त सबत्र फैली हुआ है और जुमीका अल्प दीख पडता है।

जो लोग स्वभावसे ह तो आसुरी सम्पत्तिके किन्तु पुण्याथके अभावमें प्रवृत्ति कम करते ह महत्वाकाक्षा नहीं दिखाते व अपनेको मत्त्वगुणी दवी सम्पत्तवाले भले ही कहलावे किन्तु वे अमली तमागुणकी ओर झुके हुअे रजोगुणी आसुरी सम्पत्तके प्रतिनिधि ह। सत्त्वगुणका अल्प हुअे बिना रहता ही नहीं कमसे कम उनमें आत्म विश्वास और आत्म-मतोपकी कमी कभी नहीं हानी है।

भूति [१८-७८]

√भू (सत्तायाम प्राप्तो अवकल्बने) होना जम होना, जीना, प्राप्त करना गुद्ध बनना। भूतिके अर्थ होते ह जम जीवन कल्याण उत्पन्न, वभव प्रतिष्ठा भस्म।

अुत्तरोत्तर अद्वयकी वद्धि (श्रियो विशेषो विस्तारो भूति)।

अुपनिषदके अपियोने अुपदेश दिया है 'भूत्य न प्रमदितयम', समाजके अुत्पन्नके बारेमें सदा प्रयत्नशील रहना चाहिये गफलत नहीं करनी चाहिये। जहा अजुनके जसा धनुधर और कृष्णके जसा योगेश्वर हैं वहा विजय श्री, भूति और धुवा-नीति रहनी ही ह।

भूतेज्या [९-२५]

भूत + अज्या (√यजू)।

विनायक वेताल अथ क्षत्रपाल आदि भूतगणाकी पूजा करने वाले। भूत प्रतादिकी पूजा करनेवाल पंच महाभूताकी पूजा करनेवाल। भूतेभ्य अज्या येषाम् ते। (अज्या = यजन पूजन दान √यजू)

भक्ष्यम [२-५]

√भिक्षु (भिक्षायाम लाभ अलाभ च)। अती परसे भिक्षा भक्ष भक्ष्य भिक्षुक भिक्षु दुर्भिक्ष्य भिक्षान्न अित्यादि गल् आय ह। भिक्षासे प्राप्त अन्नको भक्ष्य कहते ह। सयासीके लिअे कहा है कि बह भूखको एक रोग समझ जीर भुमके निवारणके लिअ अन्न-रूपी दवा ल ल। मतलब यह है कि स्वात्का सयाल छाडकर और मेदोवद्धि न हो जाय अितना ही अन्न खाव और वह भी सन्तोष वतितसे लाजी हुआ भिक्षाका अन्न हो। क्षुद व्याधिश्च चिकित्सयताम, तदुदितम भिक्षौषधम गृह्यताम स्वादु अन्नम न तु धायताम, विधिवगात् प्राप्तेन सत्तुष्यताम। अजुन कहता है कि अिस राज्य लाभस स्वजनाकी हत्या करनेकी अपेक्षा सयास लेकर भिक्षा पर जीना बहतर है। क्षत्रियाक मनमें अगर अधिक्से अधिक् तिरस्कार हो सवता है तो वह भिक्षान्नके बारेमें। असा भिक्षान्न भी साकर जीना स्वजन-हत्याकी अपेक्षा बहतर है। अिस तरह अजुनन अपन विपालकी पराकाष्ठा वताओ है।

भोक्ता [५-२९ ९-२४ १३-२२]

√भुजू (पालन-अभ्यवहारयो) पालन करना भोजन करना खाना।

भगवान स्वय अन्न भी है जीर अन्न खानवाला अन्ना भी है वर्ता भी है जीर भोक्ता भी है। प्राणियोंके द्वारा वह स्वयम भोक्ताकी त्रिया करता है किन्तु भुसका बचन प्राणियाको होता है भगवान तो अल्पिप्त रहते ह।

भोग [१-३२, ३३, २-५, ३-१२, ५-२२]

अिद्रियोके द्वारा जा कुछ भी अनुभव लिया जाता है या पाया जाता है वह मव भोग है। भोगके द्वारा जो सुख मिलता है वह तो क्षण-जीवी हाना है, किन्तु अुसके कारण अिद्रिया क्षीण होती ह। यह हानि दीघकालीन हाती है अिमलिये भतहरि कहते हैं— भोगा न भुक्ता धयमेव भुक्ता ' हमने भोगाका अुपभोग नहीं किया हम ही अुपभाग किये गये। अफीमकी मानता है कि वह अफीम खाता है, किन्तु अमली बात तो यह है कि अफीम ही अुसे खा जाती है। भोगे रोगभयम।

भाग और त्यागके बीचका रास्ता है योगका। (६-१६ १७)

भोगश्वयप्रसक्त [२-४४]

आसुरी सम्पत्तमें रहनेवाले लोग जहिक जीवनका ही मवस्व मानते ह। अुनके सामने सुख और सामथ्य अुपभोग और अश्वय, ये दा हा आदग रहत ह। √जीशू (अश्वयें) हुक्म करना राज्य करना, अधिकार रखना, वशमें रखना। दूसरे पर या किमी वस्तु पर जो अपना प्रभुत्व रखता है अुस जीग कहते ह। जैसे श्रेष्ठ जीशका अीश्वर कहते ह। राजा मालिक धनी अिन मवके लिये अीश्वर गळ आता है। अस जीश्वरके सामथ्यको अश्वय कहत ह। मनुष्य दूसरेको आना करनेकी शक्तिम मनुष्य हाना है और सम्पत्तिके द्वारा मिलनवाले अुपभोगसे भी मुक्त पाता है। आसुरी सपत्तिमें अिन्हीका खयाल रखा जाता है।

मच्चित्ता [६-१४, १०-९, १८-५७, ५८]

मयि चित्तम येपा त जिनका चित्त मुझमें लगा हुआ है पिरिया हुआ है अम मनुष्य। भक्ताके लभणामें यह विगेषण सबसे अधिक महत्वका है। महा पर मत् का अय भगवान परमात्मा श्रीकृष्ण है।

आत्माक लिये भी अहम् गळ आता है। अुम अथमें भी जिसको विगेषण ेना चाहिये। मनुष्यको चाहिये कि वह अपना मन जा विषयके साथ जेकरूप होकर अुनकी तरफ दौडता है अुस राके

रागद्वेय अद्वैता ममात्ता पामें १ वग। अता माका अन्तरात्मामें ही स्थिर कर। अन्तरात्मा ही आत्माराम है। भगवानमें और अगमें कौसी भे नही है। आत्म-वरायण हाता और परमात्म-वरायण हाता अेक ही बात है।

मन्-कमवृत्त [११-५५], मत्-कमपरम [१०-१०]

मत्कमवृत्त का अर्थ है भगवानका चिन्त्र ही काम करीवाला। मनुष्य जिस कामको भगवानका काम समझता है अज्ञानको करनेवाला मत् कामको ही सबसे धष्ट समझनवाला मनुष्य जो कुछ भा काम करेगा है अज्ञान वह भगवानका ही अपण करेगा। काम करने समय जो मनुष्य सोचता है कि यह काम आवरका है या नही और आवरका है कभी जुग बदलके चिन्त्र तयार हाता है तब काम न मो कौसी काम का व्यय काम करेगा न सवाम वृत्तिम करेगा। भगवन्-भक्तका यह लक्षण है।

मत्परम [११-५५ १०-२०], मत्परायण [१-३८]

अहम् परम यस्य स — म हा जिसका चिन्त्र सबधष्ट है। जिसका भा अर्थ मन्विता क समान लनका है। यह भा भक्तका चिन्त्राण है।

मध्यस्थ [६-९]

मध्यस्थ वह है जो अज्ञानीके जमा पनापान रति और न्यस्य ता है ही लम्बिन परस्पर विरोधा और झगडनवाक हाता पनाका हित चाहता है और असक चिन्त्र प्रयत्न नी करता है।

मन [३-६, ७, ४२ ५-११ १३ ६-२४, ८-१०],

मनोपिन् [२-५१ १८-२ ५], मन प्रसाद [१७-१६],

मनुष्य [१-४४, ३-२३ ४-१८ अित्यादि]

मन् (जाने अवरोधन स्तम्भ) जानना सोचना, विचार करना, अभिमान करना।

किसी वस्तु पर आग पीछेका विचार करके सोचना मनुष्यका ही काम है। मननात मनुष्य । जा अत्तम मनन कर सका वह मनु या (४-१ १०-६) ।

जब मन क्लृप्त होता है तब वह शुद्ध निणय नहीं कर सकता। स्वच्छ पानी जिस तरह पारदर्शक होता है उसी तरह निमल मन रागद्वेष रहित मन, जीवन और सृष्टिका रहस्य आसानीसे और पूणतया समझ सकता है। मनकी जिस स्थिति और गतिका मन प्रसाद कहते हैं। मन स्वभावन चंचल होता है। स्थिर हाने पर जूसमें प्रसाद आता है।

(असके साथ मुनि गद्दका विवरण भी देखिये।)

मनु [४-१, १०-६]

√मन् (गाने, अववापने, स्तभे) जानना सोचना परख करना, गव करना।

मन परसे ही मन्ता मनुष्य मानवी मन्त्र, ममथ, मयु मनन मानिना मनीषा मन्त्रि आदि शब्द आये ह।

मनुष्य-जातिके मूल पुरुषका मनु कहते ह। पुराणोमें उसे चौदह मनु बताये ह। ब्रह्मदेव मनुआको पदा करता है और धुनके द्वारा सब प्रजा पन्ना होती है। अेक अेक मनुके कालका मन्वन्तर कहते ह जा ४३ २०,००० मानवी वषका माना गया है। मनुष्य मनुकी प्रजा है असलिये उसे मनुज कहने ह।

चार वण चार आश्रम राजा प्रजा, यायाधीन, साक्षी मेना अित्यादि ममाजके सब अगाका क्तव्य-कम बतानेवाला धमशास्त्र मनुस्मृतिके नामसे प्रसिद्ध है।

मनुका पुत्र अिह्वाकु मनुष्य-ममाजका सबसे प्रथम राजा हुआ।

मनोरथ [१६-१३]

जिसका गन्थाय है मनका रथ अथवा मनरूपी रथ। जिसका रूड अथ है अिच्छा वामना। वामनाजा पर आरूढ हाकर मन चाहे वहा दौरता है। मामूली रथ तो सीधी जमीन या रास्ता मिलने पर

महात्मा कहा ही है। जिस परस सिद्ध होता है कि जिसकी आयताक वारेमें मनमें जादर हो भुस महात्मा शब्द लगाया जाता था। जब सञ्जयन जजुनको महात्मा कहा तब सञ्जयके मनमें अजुनकी भगवद् भक्ति कृष्णनिष्ठा धम-पालनका आग्रह ये सब गुण थ ही। साथ साथ भगवानकी कृपाका वह पान है यह बात भी सजयके मनमें अवश्य होगी।

महानुभाव [२-५]

√भू (सत्तायाम् प्राप्ता अवक्त्वन) होना पदा होना प्राप्त करना शुद्ध होना जित्यादि।

अनुभावका अर्थ है पराक्रम राजतेज प्रभाव सामर्थ्य निश्चय दढ अभिप्राय मनोविकारका बाह्य चिह्न। जिस परस महानुभावका अर्थ हाता है प्रभावशाली मनुष्य समय पुरप।

काठजिल जिस अर्थमें Hero शब्दका व्यवहार करता है अर्थमें हम महानुभाव शब्द चला सकत ह। आजकल Hero-worship के लिअ विभूति-पूजा' शब्द चला है। सब महात्माओं महानुभावता होनी ही चाहिय।

महायोगेश्वर [११-९], योगेश्वर [११-४ १८-७५]

योगियामें जो श्रेष्ठ हाता है जस योगेश्वर या महायोगेश्वर कहते ह। महादेव शकरक लिअ और श्रीकृष्णक लिअ यह शब्द सास लगाया जाता है।

महाशन [३-३७]

√अग (भाजन) भाजन करना। अगन = आहार। महत् अगनम् अस्य जिति महागन। जो बहुत खानवाला या पेटु होता है अगन महागन कहत ह। काम और क्रोध य दो जिसके पहचू ह असा वासनारूपी शत्रु रजागुणस पदा हुआ है सब पाप करता है अगनकी कमी तृप्ति हाती ही नहीं।

अजुनका भाआ भीम बहुत खाता था। अिमलिजे अुमका नाम हुआ था वकादर (१-१५) अर्यात् भेन्विका पट रखनेवाला। विन्तु वह जितना खाता था अतना हजम करके काम भी करता था। अिमलिजे अुसे भीमकमा (१-१५) पराक्रमक काम करनेवाला भा कहत थे।

काम ऋाधरूपी णु महापापी है महान है विन्तु अुसे णुभकम ता कही दीख नहीं पडते। कहते हैं कि जिस भस्मक रोग हाता है वह खाता बहुत है विन्तु अुस आहारस अुसकी णकिन नहीं वन्ती प्रयुत शरीर क्षीण होता जाता है। काम ऋाधका भी यही हाल है। कामी मनुष्य क्षीणवीय होने पर और भी अधिक काम-सेवन करता है और जल्दी रोगग्रस्त हा जाता है।

मात्रास्पर्शा [२-१४]

√मा (माने) नापना।

नायन्ते शब्दादय आभि अिति मात्रा।

√स्पृग् (सस्पृगने) छूना सम्बन्धमें आना।

स्पृश्यन्ते अिति स्पर्शा = विषया = शब्दादय। मात्रा = अिद्रिया स्पर्शा = अिद्रियाके विषय। जिनके द्वारा वस्तुआका अनुभव नापा जाता है व ह अिद्रिया और अिद्रियाक साथ जिनका स्पर्शा यानी सयाग हाता है व ह विषय। शब्द स्पृश, रूप रम गन् ये सब विषय अथवा स्पर्शा हैं और श्रात्र त्वक अक्षि जिह्वा घ्राण य सब मात्रा अथवा अिद्रिया हैं। वस्तुआके साथ अिद्रियाका सयाग हानेस शीत, अुष्ण सुख, दुःख आदिका अनुभव होता है। ये सब अनुभव और सयाग स्पर्शा नहीं हात, वे आते ह और जाते हैं अुहें सहन करना ही याग्य है।

माया [४-६, ७-१४, १५, २५, १८-६१]

मायाका असली अय है सामथ्य। अीद्वरका सामथ्य गूढ है अिमलिजे अुमे माया कहते ह गूढ सामथ्य माया है। जादूगर लग गूढ मन्त्र-नामथ्यसे भ्रम प्णा करत ह और लागीका ठगते ह अिसलिजे

ठगनेकी शक्तिको और अिच्छाको भी माया कहन लगे। जब कात्री चीज जसी है वसी नही दीखती है तब अुसक भासमान स्वप्नको भी माया कहते ह। वेदान्तमें प्रकृतिका माया कहते ह और भगवानको मायिन् कहा है

मायाम तु प्रकृति विद्धि मायिनम तु महेश्वरम।

(श्वताश्वतर ४-१०)

शाक्त लोग देवीको ही माया या आत्माया कहत ह। मायावादी अज्ञानमूलक भ्रमका माया कहते ह। श्री शंकराचार्यने अिन दो श्लोकमें मायाका स्वरूप पूणरूपस आया है

अव्यक्तनाम्नी परमेशशक्ति अनाद्यविद्या त्रिगुणात्मिका परा।
कार्यानुमेया सुधियव माया यया जगत् सवमिदम प्रसूयत ॥

सन्नाप्यसन्नापि अुभयात्मिका नो भिन्नाप्यभिन्नाप्युभयात्मिका नो।
साङ्गाप्यनङ्गाप्युभयात्मिका नो महादभुताऽनित्यवचनीरुपा ॥

(विवेकचूडामणि ११०-१११)

परमेश्वरकी त्रिगुणात्मक जो महान शक्ति है अुसे अव्यक्त कहते है। अुसीको अनादि अविद्या भी कहते ह और माया भी कहते ह। अिस जगतकी अुत्पत्ति अिस मायासे ही है। माया दीख नहा पडती लकिन अुसका काय देखकर बुद्धिमान पुरुष अुसका अनुमान कर सकते ह। अिस मायाका रूप न सद है न असत् न सदसद। वह भिन्न भी नही अभिन्न भी नही और अुभयरूप भी नही। वह न है सावयव और न है निरवयव न अुभयात्मक। असी यह माया अति अम्भुत आश्चर्यकारक और अनित्यवचनीय है।

मागशीष [१०-३५]

जिस महीनकी पूर्णिमाके दिन चंद्र मृगशीष नक्षत्रमें रहता है वह मागशीष महीना है। विभूतियाका विस्तार समझात हुआ भगवान कहते ह कि सब महीनामें म मागशीष मास हू। अिसा महीनका महत्त्व देनेका कारण यह है कि वह महीना प्राचीन कालमें वषके प्रारम्भमें आता था। आज भी अुसे अगतन यानी अग्रहायण कहत ह (हायन = वष अग्र = आरम्भ)।

ज्योतिषकी मददसे गणित करके मागशीप महीना वषके आरम्भमें कब आता था इसका निश्चय करना कठिन नहा है । यह गणित करके तथा और भी सबूत देकर लाकमाय तिलकने वेदकालका निणय करके अेक पुस्तक लिखी है जिसका नाम अुन्होंने रखा है मगशीप अयवा वेदकाल निणय । जब दिन रात समान रहते ह अथात् जहा विषुववृत्त और क्रांति वृत्तका क्षेप हाता है तब अुस स्थानसे (सपातसे) वर्षारम्भ गिनते ह । वषमें असे दो स्थान जान ह । आजकल वसत सपात भाद्रपदा नक्षत्रमें आता है इसके पहले रवनीमें था । बहुत काल पूव वह मृगशीपमें था । सपातके अिस तरह पीछे हटनको अयन चलन कहते ह ।

मादवम् [१६-२]

मादवम् = मृदुता, अक्रोयम् सौम्यता । $\sqrt{\text{मृद}}$ (क्षोदे) दवाना मसलना, घिसना ।

दबाकर घिसकर मसलकर मृदुता लायी जाती है । मादवका यह स्वभाव प्रयत्नसे ही लाया जाता है । जिसने बहुत दुख सहन किया है अथवा देखा है वह दूसराका दुख देखकर पिघल जाता है ।

दुबल मनुष्य प्रमादशाली है अवरदस्त विकाराके सामने वह पराभूत होता है । यह देखकर सज्जन लाग अेक आर स्वयम् मचेत रहते ह और दूसरी जार पतित्तके प्रति क्षमावृत्ति धारण करत ह । सहानुभूति और क्षमाशीलता ये मादवके दो पहलू ह । अिसके अावा जीवनके व्यवहारमें हरअेकके प्रति सस्कारी सौम्यता धारण करना भी मादवका अेक पहलू है ।

हम अपने हेतुआको और विकाराका समझ पाते ह और अपनी अुन्नतिके लिअे हम ही पूण रूपसे अुत्तरदायी ह । अिसलिअे हम अपने प्रति कठोर बनें यह याग्य है । दूसरेकी परिस्थिति हम नही जानते अुसके हेतुका नही पहचानते और अुसके विचारके काजी बननेका हमारा काम और अधिकार भी नही है । अिसलिअे हम अुसके प्रति मृदुता धारण करे मही सच्चा याय है । जो मनुष्य और सब बातामें अच्छा है किन्तु लोगोक प्रति कठोर या याय निष्ठुर है अुसका सद्काम सब

लोग टालत ह। और जो मनुष्य निस्पृह होकर क्षमाशील है अंगक प्रति राग आवृपित होकर अंगक अिगि अिगिटा हान ह और अुसका खुलक प्रति बठोरता ढेकर जीवन-साधना सोच लेत ह। अिम तरट मानव-युक्त मनुष्यका सहवास आह्लाक और कल्याणकारी होना है। बज्यादपि बठोरणि मद्रुनि कुमुमादपि लोकोतराणां घतासि। यह दष्टि भी साचन लायक है—सपत्सु महतां चित्त भवति अुत्पलकोमलम। आपत्सु च महागलगिलासघातककगम॥

मिथ्याचार [३-६]

अदभित्व गल देविय।

मित्रद्रोह [१-३८]

√द्रह (जिघासायाम्) किसीका द्वेष करना बुरा चाहना। जो मनुष्य स्नह करता है द्विद्र है असीका बुरा चाहना सबस होन पाप है। मित्रद्रोह समाजकी बुनियादको ही काट नेता है।

मित्रारि [१४-२५]

मित्र = स्नही। जरि = शत्रु।

शत्रु मित्र दोनोंके प्रति जो मनुष्य समान भाव रखता है यानी जो जयाय करक मित्राका पक्षपात नहीं करता और द्वेष करके शत्रुका नुकमान नहीं करता वह गुणातीत है। गीतामें (६-९) सुहृद मित्र अरि जुगसीन मयस्य द्वेष्य और वधु साधु और पापी सबके प्रति समान भाव रखनका साम्य योग बताया है।

जिसी सिलसिलेमें तुल्य और सम वाले ग- भी देखिय।

मुक्त [४-२३ ५-२८ १२-१५, १८-४० ७१],
मुक्तसग [३-९ १८-२६] विमुक्त [९-२८, १५-५]

√मुच् (मोक्षण) छोडना त्याग करना छूट जाना।

जो बधनसे छूट गया अुसे मुक्त कहते ह। मनुष्यकं मुख्य बधन तो काम क्रोध लोभ माह मद मत्सर य छह गत्रु ह। अज्ञान आलस्य और परावलम्बिता भी अुसके बड बधन ह। अिन नौ बधनासे छूट

जाना ही माय या मुक्ति है। पुत्रपणा, वित्तपणा और लोकपणारूपी भव-बधनम जा मुक्त हुआ वह मुक्त है।

अनमें से जा बधन मोहक कारण हम पसन्द करने हैं उाडना नही चाहत अुह सग कहा जाता है। सगके बधन नवमे कनि हान ह। अुनस जा बच गया वह मुक्त-मग है।

सकाम कम करनेस कमफलक साय मग पदा होता है। अुम सगका जिसन निष्काम-वत्तिसे छाग वह मुक्त-मग हुआ।
('द्वन्द्वमोहविनिमुक्त जमवमविनिमुक्त गळ् ल्किये ।)

मुनि [२-५६, ६९, ५-६, २८, ६-३, १०-२६, ३७, १४-१], मौन [१०-३८ १७-१६]

√मन (अबवाधन पान) सोधना विचार करना।

जो ठीक साचता है वह कम बोलता है जिसलिअ मुनिका अय वाणीका मयम करनेवाला भी हाना है। मननात (श्रीस्वरस्वरूपस्य) मुनि । मनन करनेमे मनुष्यको सब पत्तार्योका ज्ञान हाता है जिसलिजे मुनि पानी हाने ह । मनन करनेस आमक्ति छूटता है जिसलिजे व स-यासा बनते ह और विवक प्रखर हानेक कारण वाचा-मयम अुनका स्वभाव बनता है यह स्वभाव ही मौन है।

प्राकृत लग जिन बातोंमें सावधान रहत ह अुन बातोंमें मुनि अुत्तमीन पाना सोये हुअे-न रहते ह जोर जिन बातोंमें दुनिया मायी रहती है अुनमें मयमी मुनि जाग्रत रहत ह (२-६९) ।

(जिसक साय मनुष्य गळ्का विवरण भा देखिये ।)

मुमुक्षु [४-१५]

√मुक् (मोगणे) छोड देना डीग करना छूट जाना त्याग करना ।

अिमी परम मुक्त मुक्ति, माय मुमुक्षा मुमुक्षु आदि गळ् जाय ह । मुक्त होनेकी अिच्छाका मुमुक्षा कहते ह । जिसमें अनी अिच्छा जाग्रत हुआ है वह मुमुक्षु है । यह अिच्छा मिद्ध हाने पर अमाका मुक्त कहत है ।

मूढग्राह [१७-१९], असदग्राह [१६-१०], मूढ [७-१५,
२५ ९-११, १६-२०], मुह्यति [२-१३, ५-१५,
८-२७]

√मुह (बचित्य) बभान होना भूल करना पागल होना। जिस परस मुग्ध और 'मूढ' दोना गन् आय ह।

√ग्रह (अुपात्तने) लेना पकडकर रखना। जिस परसे ग्राह शब्द आया है। ग्राहका अर्थ है अभिप्राय निश्चय मगर कदा। इसी परसे जाग्रह शब्द भी आया है। जिस परसे मूढग्राहका अर्थ होता है मोहक कारण पकडकर रख हुआ (जसत् = असभ) निश्चय।

जो नानी नहीं हं वे होने हं अज्ञानी। विन्दु अज्ञानी कवल जानक अभावसे गान्त कसे रह सकत हं वे कुछ न कुछ तो ल ही लेते हं। माहका यह गुण है। जिस तरह अपानजनित मोहके कारण जिन जिन माताको मनुष्य पकड रखता है अुहे मूढग्राह कहते हं। यह आनानीस नहीं छटता।

जा लोग तमोगुणी होते हं जामुरी वृत्तिके होते हं अुनकी बुद्धि गुद्ध नहीं होनी और जिन् बडी मजबूत होनी है जो काअी बात व पकडकर रखत हं अुसे आत्मनाग होन पर भी नहीं छोडत। Obsession को भी मढग्राह कह सकत हं।

मत्युससारवमनि [९-३] मत्युससारसागर [१२-७]
ससार [१६-१९]

मम + √स (जाना बहना दौडना)। जिस परसे ससार याना जीवनकी गति अथवा विन्दगी जावयोनि। अब यह सब ससार अथवा यानिया मयस प्राप्त हं जिसलिअ सब जीवयोनियाको मत्यु-ससार कहन हं। अिग मत्ययकत ससार-गतिका रास्तकी (वत्त) अुपमा भी दी जाना है और क्या-ि जीव जिसमें डूब जात हं जिसलिअ सागरकी भी अुपमा दा जानी है।

जन्म-मृत्युका चक्र चालू ही है। यह रास्ता कभी सतम ही नहीं जाता। जो लोग भगवानकी तरफ जाने हैं वे ही असि गगार सागरा बच जात ह। मृहीका रास्ता सतम हाता है।

जन्म और मृत्यु मिलकर गूण जीवन हाता है। मृत्यु जीवनका ही अरु भाग — आवश्यक अंग है। मृत्युके बिना जीवन परिपूर्ण नहीं हाता। भगवानन हमें जानेका मौता दिया है और मरनेका अधिकार भा दिया है। It is our privilege to die. अिमी पीजका दूगरे दगम इनारे लागाने कहा है — मरण प्रवृत्ति परीरिणाम्।

मृत्युम बचनेका अमर हातका धात्ता मनुष्यके गामने है। सब धर्मोंमें अिगका अिन्न है। परीरिग ता कभी अमर हुआ नहीं। लेकिन जन्म-मृत्युक परेम बचनेका बात अवश्य साचा जाती है। आत्माका भूत जाना बचत जड तत्व पर ही श्रद्धा रगकर जीना यहा है मृत्यु धाता आत्मवाणी मानत ह।

मेधा [१०-३४], मेधावी [१८-१०],

अिय सुमेधा ।

मय [१२-१२]

√मिद् (स्मृते) प्रम करना स्मृ करना। जो मनुष्य अनुकूल है तिन चाहता है, अनुप्रति प्रगति केनकर गनुष्ट हाता है अुम तिन बन्ध है। सुनियारे मय लागाने प्रति अिगका स्नेह है हित-बुद्धि है अम आतगायु कहत ह।

मत्री करुणा मुन्निा और अपुगा ये चार आय वृत्तियां हैं।

अिनमें औरारा मुय देगारर मुग्गी होनेकी वृत्तिका मत्री कहा ह। समानारे प्रति मत्राभाव रत्ता है।

दूगराका दुग दगकर दुग्गी हाता और अुसक दुगका निवारण करनकी अिच्छा हाता यह करुणा है।

अपनग अधिन भाग्यवात पुरुषका भाग्य देनकर जीर्वा न करारा प्रमप्र हाता यह है मुन्निा। मुदिता अगा सुदर सदगुण है जो मत्सर वीर्षा अमूया आदि दापाका नाग करता है।

दुष्टोंकी दुःखनता देखकर भी जुन पर प्राप न करना जुनका द्वेष नहीं करना जुनका अहित नहीं करना जुपेक्षा है। य मन् आय वतिया ह। वन्की मीख है कि सबको मत्रीके भावमे ही लखो। मत्री भाव जब नि स्पह होता है तभी वह पक्षपात रहित हा सकता ह जयथा मत्री मत्री नहीं है। हर जगह पक्षपातको देखकर निराग हुआ किनीने कहा है— 'There are no friends but only accomplices' जो मनुष्य सबभूत हित रत है जुसका कोओ खास मित्र नहीं हा सकता और वह भी किसीका खास मित्र नहीं हो सकता। अथवा या वह सक्ते ह कि वह सबना मित्र विश्वमित्र हाता है।

मत्रीक बारमें लोकाका जो जादग है वह भतहरिन नीचेक सदर स्लाकमें लिया है

पापान निवारयति, योजयते हिताय,
गुह्यन च गूहति, गणान प्रकटीकरोति
आपदगतम च न जहाति वदाति काले
सामित्र-लक्षणम भिदम प्रवदति सत ।

दूथ और पानीकी मत्रीका जदाहरण भी भतुहरिन लिया है।

मोक्ष [१८-३०]

√मुच (माशण)। मुक्त गळ दलिय। यह चार पुरपायोंमें से अतिम है।

मोघाण [९-१२] मोघज्ञान [९-१२] मोघम [३-१६]

मोघकर्म [९-१२]

माघ यानी व्यय निष्पत्त। माघम् अयय है। अमना जय भी यही है—अप्रयोजन। जा मनुष्य समाज-सेवा नहीं करता दूमरेका सपाल नहा रयता बवल अपनी अिद्रियोका ही सन्ताप दना रहता है अम पापीका जीवन यय है।

जा लोग दवी प्रवृत्तिक नहीं ह आमुरी अथवा राक्षसी प्रवृत्तिके ह अुनका बढि काम नहीं करती। माहक वा हानके कारण अनका तान अुनका कम और अुनकी आगाअें सब माघ याना निष्पत्त हाता ह।

मोह [४-३५, १४-१३, २२, १६-१०, १८-७, २५, ६०, ७३]

√मूह (वचित्पे) बेहाग होना, मूढ बनना, भूल करना।

काशी चीज जब ऊपर ऊपरस सुन्दर हाता है मडकीला या आकपक हानी है, क्षणिक मुख दती है तब अुसके जसरसे मनुप्य आपेम बाहर हा जाता है भल-बुरेका भेद भूल जाता है। तब कहत ह कि अुमे मोह हुआ है। जा भावना सत्यकी विरोधी ह वह माह है। कतव्य-अकतव्यका भेद भी जब मनुप्य नहा जानता तब कहत ह कि अुस माह हुआ है। मोह = विवकभ्रष्ट बुद्धि। तमागुणक कारण माह बटता है। श्री गगराचाय कहते ह --- अनानज माह समस्त ससार-अनय-हेतु सागर अिव दुस्तर। माहको ही समोह कहत है। माह = भूर्छा चित्तवकल्पम् भ्रान्तिसाधनम् जनानम्, मिथ्या प्रीति।

मोहनम् [१४-८, १८-३९]

√मूह (वचित्पे) बेहाग हाना मूढ बनना, भूल करना।

मोह पदा करनवाली चीजका माहनम् कहत ह। अनान अविदक और माहको पना करनेवाली चीज मोहन है। पौराणिक युद्धमें माहन नामका अस्त्र काममें लाते थे जिसस मारी सेना या ता मूर्छित हा जाता थी या भ्रममें पटना थी। प्राचीन राजनीतिमें कहा है कि राजाको चाहिये कि अपने गत्रुक राज्यमें भ्रामक विचाराका प्रचार करव गत्रु प्रजामें मोह पदा कर जिसस अुमका सगठन टूट जाय और वह चारिष्य कुबल वने। काव्यामें मोहन गब्द अच्छे अयमें भी आता है।

यज्ञ [३-१४, १५, ४-२३, २५, ३२, ३३, ८-२८, ९-१६ २०, १०-२५, १६-१, १७-७, ११, १२, १३, २३, २७, १८-५], यज्ञचक्र [३-१६]

√यजू (देवपूजा-मगतिकरण-यजन-दानेपु) यज्ञ करना आहुति देना दान करना मगति करना।

यज्ञका असली अर्थ है अपण करना, श्रीश्वरके नाम अग्निमें आहुति देना। जिसके बाद प्रत्येक घमवृत्त्यको यज्ञ कहने लगे। पर ब्रह्मको भी यज्ञ कहते हैं। समाज-सेवाके जो तीन प्रधान कर्तव्य हैं उनमें यज्ञका प्रधान स्थान है। यज्ञ दान, तपके द्वारा समाज युन्नत होता है और जिन्हे करनवाला पुनीत होता है।

गीताने यज्ञ शब्दका बहुत ही व्यापक अर्थ किया है। अणुभोगके कारण सृष्टिमें जो कमी पदा होती है उसे पूरा करनका काम यज्ञका है। यज्ञका प्रयाजन अणुकी विधि और अणुका रहस्य जो जानता है वह यज्ञविद है (४-३०)। अणुभोगके कारण विश्वमें जो क्षीणता आती है वह यज्ञके द्वारा दूर होती है। फिर यज्ञ होनेसे सारा विश्व यज्ञभावित होता है।

गीताने द्रव्ययज्ञ तपायज्ञ जपयज्ञ ध्यानयज्ञ, दाययज्ञ ब्रह्मयज्ञ योगयज्ञ नामयज्ञ अस अनक यज्ञ बताये हैं। और अयज्ञ व्यक्तिके जीवनकी यथता भी बतायी है। किसी न किसी रूपमें यज्ञ हमारे घमका प्रधान रूप शुरूसे रहा है। वेदमें ही कहा है—यज्ञान घतम अयजन्त देवा तानि घर्माणि प्रथमानि आसन्।

यज्ञशिष्टम [३-१३, ४-३१]

स्मृतियोंमें कहा है कि देवयज्ञादि कर्तव्य पूण करनके बाद अन्न वच जाता है वह अमृत है, उसे खानेमें पाप नहा है। समाज पूण पूणतया अदा करनका बाद जो चित्त वचता है अणुका स्वायल्लिभे अणुपयोग करनमें दोष नहीं है। जैसे अवशिष्ट अन्नके दो प्रकार होते हैं। विघस और अमृत।

यतचेता [४-२१, ५-२६ ६-१०, १२, १९]

गीतामें भिन्न भिन्न विशयपणाके साथ चेतस शब्द पन्द्रह जगह और अिसी अर्थका चित्त शब्द सात जगह आया है। मन और बुद्धि भी चित्तके ही क्षत्रमें आते हैं। अणुके स्थान भी तीस या चालीससे कम नहीं है। अणुके अलावा गातामें मन बुद्धि और चित्तके यापारका,

असके निरोधका वगन जगह जगह आया है। जिन सब स्थानाका अेकत्र विचार करने गीताका मानसशास्त्र समूहीत करना चाहिये। मन, बुद्धि, अहकार आदि सबका जिसमें अन्तभाव होता है असा व्यापक शब्द है चित्त और चेतस।

जिनने ही व्यापक अर्थमें मन शब्दका भी प्रयोग हुआ है। मनुष्य शब्द ही मन परसे आया है। मनुष्यके लिये सब पुरुषार्थकी पूजा ही अेकमात्र मन है। विज्ञानशास्त्री (Physicist) भी कहते ह "हमारी सबसे श्रेष्ठ प्रयोगशाला हमारा मन ही है। भोग विलासमें डूबे डूबे लोग भी कहते है 'सुखका सच्चा साधन मन है।' वय और मोक्ष दाना मनके ही द्वारा हान है। अुपियाने यहा तक कहा है कि मन ही परब्रह्म है। यह सारी जड-चेतन सृष्टि भी मनकी ही सृष्टि है। बुद्ध भगवानने कहा है "मनो पुब्बगमा धम्मा।" सब पदार्थ मनपूर्वक ही होत ह। जिसलिये मनका स्वरूप असका व्यापार और असका शुद्ध सस्कारी और समय बनानेका अुपाय गीताने किस तरह बताया है यह सब स्पष्ट रूपसे समझना जरूरी है।

'यतचेता यानी जिसने अपने मनको यत नियत-सयत बनाकर खुदको अपने काबूमें रखा है असा मनुष्य।

अपना मन, अपना अन्तःकरण और अपनी अिन्द्रिया जिसने अपने वशमें रखी है अुसीके चारित्र्यका विकास हो सकता है मानसिक और आध्यात्मिक शक्तियाका पूण अुत्कप हाता है और असा ही मनुष्य साधनाका और मोक्षका अधिकारी बनता है।

यति [४-२८, ५-२६, ८-११], अयति [६-३७]

√यत् (प्रयत्ने) प्रयत्न करना।

√यम् (अपरमे) रोकना, अूपर अुठाना। जिन दाना धातुअाके मूत दृढन्त 'यत' हाते है। यति अपने मनको, अपनी अिन्द्रियाको, शरीरको और क्रियाओका रोकता है, रोकनेका प्रयत्न करता है। सदासनाआको पोषण देनेका प्रयत्न करता है। यति सयमी और यतनशील होता है। गीतामें असे यतियाको यतचित्त (६-१९),

यतचेतस् (५-२६), यतचित्तात्मा (४-२१ ६-१०) [आत्मा = शरीर] यतचित्तद्वियत्रिय (६-१२) यतवाक्शामानस (१८-५२), यतामवान (१२-११) यतात्मा (५-२५ १२-१४) यतेद्विय मनानुद्धि (५-२८) जित्यादि विगणण लिये ह। यतिको प्रपत्तात्मा (९-२६) भी कहा है और जो लग सयमका प्रयत्न नहीं कर सकते ह मनको वाक्में रत्तनमें शिथिल ह असाका अयति कहा है (६-३७)। दुनियामें अधिकाश गम अयति ही होने ह।

युक्त, युक्ततम [६-४७], युक्तचेष्ट [६-१७], युक्तचेना [७-३०], युक्तात्मा [७-१८] नित्ययुक्त

√युञ् (सयमन समाधी योगे च) जोडना नियुक्त करना मनका जकाग्र करना। योग गन्में यही धातु है। जा अपने मनको जीवन्क साथ जोड देता है सुख आर दुखके बीच समताका साता नहीं जिसकी त्रियार्ये (चेष्टार्ये) यथायोग्य और नियमित ह अतको युक्त अथवा योगी कहते ह। यही याग-वक्ति स्थिर हाने पर अम आत्मीका युक्ततम कहते है।

युक्ताहारविहार, युक्तस्वप्नावबोध [६-१७]

योगमें अर्थात् युक्तावस्थामें सोना जागना खाना, पीना और धूमना फिरना आदि सब बातामें प्रमाण नहीं लाया जाता है। जिनमिअ यागीका कम अत्यन्त कुशलताके साथ त्रिया जाता है। अुसका जीवन सर्वांगपरिष्ण हाता है। (अवबोध = जागना)

गीतामें असा कहा है कि जो बहुत खाना है या बिल्कुल नहीं साता बहुत सोता है या बिल्कुल नहीं साता अुसके लिअ योग माध्य नहा है। बीचका रास्ता ही योगके तिअ अनुकूल है। ब्रह्मचयक वारेमें असा मध्यममाग नहीं बताया है हालाकि चद गाक्त और सूफा लग असा कुछ अभिप्राय रत्तत ह। ब्रह्मचय एक जत या मिरा नहीं है किन्तु आरमाकी शुद्ध स्थिति है। ['अत्यन्त गब्द दविये (६-१६)]

सहज समाधि

योगमें अघर अधर दौडनेवाले मनका राक्तर अेक ही वस्तुके माय जाडा जाता है और वही स्थिर रखा जाता ह। अमी अवस्थाका समाधि कहत है। प्रथम तो अमी समाधि कठिनाओसे टिकती है। आग जाकर जब वह दृढ होनी है तत्र दुनियवी व्यवहार चलात हुआ भी समाधि अवस्था टूटनी नहा। अैसी युक्ततम अवस्थाका सहज समाधि कहत है।

युगम [४-८, ८-१७], युगपत [११-१२]

√युज (योगे मनियमने समाधौ) जोडना (join, add, yoke), जेकत्र करना नियुक्त करना तयार करना दना अलग करना जोतना (yoke)। जिस परस युग गल्के अनेक अय हान ह। जुआ (yoke) जाने (जिस अथम युगम भी कहते है) और कलि कृत द्वापर अित्यादि युग।

गीतामें युग गद कलि कृत आदि युगके अथमें ही आया ह। अेक युगके वष निश्चित नही है। कृतयुगके १७ २८ ००० वष हान ह, त्रेतायुगके १२ ९६ ००० वष हान ह द्वापरक ८ ६४ ००० और कलियुगके ४ ३२ ००० वष। ये चार युग मिलकर मानवी ४३ २० ००० वर्षोंका महायुग हाता है। [कही कही सामान्य चार वषका भी युग गिना जाता ह, कहा पाच वषका कही बारह वषका।]

हमारे लाग कहते ह कि युगका आधार वर्षों पर नही किन्तु समाजकी नतिक अवस्था पर है। लागकी धम-शक्ति जब सोती है और कल्ह बडत है तव कलियुग चल रहा है असा समचना चाहिये। अिमीअे कलियुगमें सध-शक्तिका विनोप माहात्म्य बनाया है।

युगपद अययका अय हाता है अेक साथ होना। जब दो अथवा अधिष चीनें साथ होनी है तव युगपत (११-१२) हुजी असा कहा जाता है। हजार सूर्योंकी प्रभा अगर आकासमें अेक साथ लडा हा जाय अित्यादि।

योग [२-३९, ४८, ५०, ५३, ४-१, २, ३, ५-१, ५,
 ६-२, ३, १२, १६, १७, १९, २३, ३३, ३६, ३७, ४४,
 ७-१, ९-५, १०-७, १८, ११-८, १२-६, १३-२४,
 १८-३३, ७५]

√युज (सयमने समाधी, याग) जोडना अेकत्र करना नित्युक्त
 करना दे दना मनको अकाप्र करना।

याग यानी जोडना (yoke)। गरीरको मनके साथ जोडना
 मनको आत्माके साथ और आत्माको परमात्माके साथ जोडना यह सब
 योग है। योगसूत्रमें योगकी यास्या की है — योगश्चित्तवृत्तिनिरोध
 और बुद्धका फल बताया है — तदा द्रष्टुं स्वरूपे अवस्थानम्। गीताने
 कहा है — समत्वम् योगो बुद्धियोग आत्मयोग अभ्यास-याग आत्म
 पानयाग कमयोग जपयोग बुद्धियोग आत्मयोग अभ्यास-याग आत्म
 सयम-योग साम्ययाग सयासयोग, ब्रह्मयोग जिस तरहसे गातामें
 अनक योग बताये ह। जिसमें यागका अय माग ही है। गीताके
 हरअेक अध्यायके साथ योग गच्छ आता है वहा पर योगका कोअी
 विाप अय नहीं है। प्रथम अध्यायका अजुन विपा-याग कहा है।
 यहा पर विपा कोअी योग तो है नहीं। सामाय तौर पर योगका
 अय प्रसग और घटना भी किया जा सकता है। योगके नीचेके
 ध्यावहारिक अय भी ध्यानमें रखने चाहिये योग = जोड या मिलाप
 सम्बन्ध स्था अपयोग (व्यवहार) पद्धति कम परिणाम कपट जाद
 ध्यासग ध्यान समाधि निष्ठा अेकाप्रता अी-वरी-मामध्य जीव गिक्का
 अय सामध्य बड (ध्यावरणमें व्युत्पत्तिमूलक अय गणितमें जाड,
 ज्योतिषमें नगत्रका मुख्य तारा। यागभाममें योगका अय है अप्राप्त
 वस्तुका पाना और क्षमका अय है प्राप्न वस्तुका रक्षण करना।)
 आहार विहार बेष्ठा निद्रा जागृति सब बानामें योगी नियत
 रूठा है। अिमिअे सब ऽसति मुक्त और गरीर अय मनम निराणी
 होकर वह अी-वरका ध्यान कर सकता है। अभ्यास और वरायके
 ता मनको बाबुमें लानम योग साध्य होता है।

योगधारणा [८-१२]

एकाग्रता अथवा समाधिकी अवस्थाको योग धारणा कहते ह । अन्द्रियोको अिधर अुधर दौडने नही देना अुहे काबूमें रखना, यह है अिन्द्रिय धारणा । यही स्थिर होने पर योग धारणा सिद्ध होती है ।

योगभ्रष्ट [६-४१]

अुपर 'योग' गब्द देखिये ।

योग आत्मोन्नतिकी अेक साधना है । पूरी अुत्कटता हो ता सिद्धि शीघ्र मिल जाय । नहा ता अनेक जम तक चलानी पड़े । योग मागमें शिथिलता आने पर कुछ कालके लिये मनुष्य योगभ्रष्ट हो जाता है । भ्रष्ट स्थितिमें पूव पुण्यका अुपभोग करके अुसे क्षीण भी कर सकता है, किन्तु आत्मोन्नतिका सबल्प अुस फिर अनुकूल परिस्थितिमें ला देता है । योगमें अेकाग्रता और अुसका अुत्कटता नष्ट हाने पर अुसका मानस चलि्त होता है मनुष्य अनेक चित्त विभ्रान्त हाना है (१६-१६), समय शिथिल होता है (अयति ६-३७) तब अुसे योगभ्रष्ट कहते ह ।

योगससिद्ध [४-३८, ६-३७]

कर्मयोग और समाधियोगके अनुशीलनस जिसे पूरी सस्कारिता यानी योग्यता प्राप्त हुआ है अुसे योग-ससिद्ध कहते ह और अुसकी सिद्धिको योगफलका योग-ससिद्धि कहते ह । दीप और अेकाग्र प्रयत्नस ही यह ससिद्धि प्राप्त होती है ।

योगस्य [२-४८]

साधक योग स्थितिमें सबकाल नही रह सकता । कुछ समय बाद व्युत्थान हा ही जाता है । सिद्ध दशा आने पर मनुष्य योग वित्तम अथवा योग-ससिद्ध बनता है । अुसीको योगारूढ भी कहते ह (६-३४) । जब तक वह आरूढ नही हुआ है तब तक अुस आरूढु कहत हैं । योगारूढ = प्राप्तयोग ।

योगी [३-३, ४-२५ ५-११ २४, ६-१ २, ८, १०,
१५, १९ २७, २८, ३१, ३२, ४२, ४५, ४६, ४७ ८-२३
२५ २७ २८, १०-१७, १२-१४ १५-११]

योग विद्यामें जिसका प्रवेश हुआ है अथवा अंतमें जा प्रवीण हुआ है अतः दोनाको योगी कहत ह। अस यागयुक्त अथवा यागयुक्तात्मा भा कहत ह। सिद्ध यागी यागारूढ़ है। सब यागियाके आदि आचार्य परात्पर गुरु प्रत्यक्ष जीश्वर ही ह। अिमलित्रे अहें योगस्वर कहत ह (११-४ १८-७१ ७८)।

योनि [१४-३ ४ १६-१९ २०]

योनि = जन्मस्थान या मनुष्ययोनि भूतयोनि अित्यादि जन्म

रज [१४-५ ७, ९ १० १२ १५ १६, १७ १७-१]

✓रज (राज) रगना सुस हांना प्रम करना अनुरक्त हांना। सत्त्वगुण स्वच्छ सफ़ माना जाता है। तमोगुण काला और बीचका यानी मध्यका जो गुण है वह रगीन होता है अिसलित्र अम रक्तवण कहते ह। वही रजोगुण है। रजोगुणमें जनान मूलक अल्प पान मूलक या विवृतनान मूलक प्रवृत्तिकी बहुतायत होता है। अुमक प्रमाणमें प्रगति बहुत कम होनी है। अथवा होती ही नहीं — मध्य तिष्ठति राजसा। सच्ची और स्थायी प्रगति सत्त्वगुणसे ही हाती है। अिसी रजोगुणसे काम और क्रोधकी अुत्पत्ति होती है। काम और क्रोध जब ही चीजके दो पहलू ह और पायके मूलमें वे दाना होने ह। अिस वरीको गीतान रजोगुण-समदमव (३-३७) कहकर अुमका विस्तारस वणन किया है। जिसमें रजोगुण प्रगट होता है असे राजस या राजसी कहत ह।

रस [२-५९ ७-८, १५-१३ १७-८]

✓रस (आस्वात्न-स्नहनयो) स्वाद लेना चाहता प्रेम करना पतला बनाना।

किन्ती चाजको देखकर अुसके प्रति हमारे मनमें आस्वादकी जो वसति पदा होती है वह रस है। स्वादिष्ट खाद्य पदार्थ देखकर जीभमें पानी छूटता है जिसलिये जीभका रमनम (१५-९) अथवा रमना कहते ह।

अुपवास करनेसे विषय ता दूर हाने ह किन्तु रस कम हानेकी जगह बढ़ता ही है। अति आहारस रस बिगडता है बिल्कुल न खानेस रस बढ़ता है जिसलिये युक्ताहार ही श्रेष्ठ माना गया है। जिद्रियाका विषयके प्रति जो आकर्षण है जा रस है वह भगवानके दान विना आत्म-दशनके विना दूर नहीं होता। न असति सम्यक दशने रसस्य अुच्छेद। रसका अय सार भी है। अिम अथमें भगवानका भी रस कहा है — रसो व स। असा माना गया है कि वनस्पतियोंमें जो रस पाया जाता है वह चद्रमाके द्वारा अुहें मिलता है। सोम चद्र भी है और अुम नामकी वनस्पति भी (१५-१३)। आहारमें जा पिष्ट अण हाना है अुस रस्य कहते ह।

राक्षसी [९-१२]

यह शब्द किम वातुम जाया है कहना कठिन है। जिसके दा रूप है रक्षस् और राक्षस। √रक्षका अय होता है पालन करना, जानवरको चराना राय करना। और दूसरी धातु है √रक्ष गापणाल मयया — सुखना अलङ्कृत करना। अिनमें से किसी धातुसे शायद आया हा। दुष्ट वृत्तिक मनुष्यको अथवा कोअी भिन्न योनिको राक्षस कहन ह। गीतामें तीन प्रकारकी सस्त्वृतियाका अुल्लेख है। मनुष्य प्रवृत्तिक तीन प्रकारो पर अिनका आधार है दवी आसुरी और राक्षसी। अिनमें से राक्षसी तो अत्यन्त हीन है। यह दीघजीवी या आप्तकाम नहा हो सकती अिमलिये अिस छाडकर आगे मालहूवें अध्यायमें दवी और आसुरी अिन दो प्रवृत्तियासे निबलनेवाली दो सस्त्वृतियाका विवेचन किया है। राक्षसी प्रवृत्ति सस्वार-क्षम ही नहा है अिमलिये राक्षसी सस्त्वृतिका अणन नहा हा सकता है। गाकर भाष्यमें छिदि भित्ति पिद खाद परस्वम अपहर अिति — तोडा, फोडो पिया, खाआ दूमराका घन लूटा असा अिस प्रवृत्तिके लागाका जीवन क्रम बताया

विकास होता है और अपना जीवन सफल होनेका समाधान प्राप्त होता है, असीको अगर सुख माना जाय तो बात अलग है। कालिदासका दुष्यन्त कहता है 'नातिश्रमापनयनाय यथा श्रमाय रायम्' — (राज्यका स्वामित्व कष्टको जितना दूर करता है अमस अधिक तो पैदा करता है)। किन्तु राजा लाग तो अकसर राज्यको मिलकियत समघन ह, सुखापभोगका साधन समघने है अनेक लाग पर हुकूमत (आज्ञा) चलानेके आनन्दका साधन समझते ह। "राज्यम किम?" "आजाफलम।" अिसी भावमे अजुन कहता है कि राज्य-सुखके लाभसे हम स्वजनाको मारनेके लिजे अुद्यत हुअे ह, तुच्छ स्वाय और सुखके लिजे अयानक पाप करनेके लिजे तयार हुअे हैं।

रात्रि [८-१७, १८, १९, २५]

प्रवृत्तिके लिजे दिवस है, विप्रान्तिके लिजे रात्रि है। यह बात जितनी मनुष्य और पशियाके लिजे सही है अतनी ही अिम ब्रह्माडकी बन्ध-अध्वम्याके लिजे भी सही है। हृदयकी घडकनमें और नाडाका ठोसमें दिवस और रात्रि पाजी जाती है। प्रकृतिके वषमें शानकार माना रात्रि है समुद्रमें ज्वारके बाद जो भाटा आता है वह अुसका रात्रि है। जीवनको अगर हम त्ति कहें तो मरण जीवाका रात्रि है। पुराणकाराने दिवस रात्रिके तत्वका विनियोग ब्रह्मा प्रजापति अयान् विराटके जीवनमें भी करके दिसाया है। हजार युगका अेक त्ति हाता है अिसके बाद हजार युगकी रात्रि होता है। अिस हिमावसे ब्रह्मदेव अपने सौ वष जीता है। असे अनेक ब्रह्मदेवके राज्य-कालका मापन काशी मुवान जृपि है।

दिन हाने पर अत्र्यस्तनमें से मृष्टिकी अुत्पत्ति होनी है। रात पढन पर वही सष्टि मूल अध्वकनमें फिरस लीन होनी है। दिवस और रात्रिके बीच दो दो सध्याअें भी हानी हैं।

लघ्वाशी [१८-५२]

लघु है आहार जिसका घानी कम खानेवाला। अ्युका अय केवल कम ही नहीं किन्तु मुषान्य चीजें खानेवाला नी लेना चाहिये।

दुजर पणाय तानम स्यास्व्य पर बाधा पडता है और मन विवर्ती
 होता है निराशा तत्र विगड जाता है और तपस करना कठिन
 मात्र होना है। जबान्न ताना अनि आहार करना और मन स्यास्व्या
 मोक्ष उमौक ताना य गत्र शरीर-स्यास्व्यना और मन स्यास्व्या
 निराशी है। मनुन अति भाजनको निरा करने हुआ कहा है
 अनारोप्यम अनापुष्यम, अस्वग्यम घातिभोजनम।
 अपुष्यम् लोक्विडिष्टम तस्मात् तत् परित्यजत।'

यहा ध्यानमें रखना चाहिय कि स्मृतिचार गमाजना सब
 जारम विचार करनसाल य। जो गुना है जिसना शरीर बधमान
 है जो ब्रह्मचयका पालन करना है अगे आहार तोड तोड कर
 और सोचत करते तानकी आवश्यकता नहीं है। स्मृतिपां बढ़ना
 ह — अमितम् ब्रह्मचारिणाम् — ब्रह्मचारियाणे लिभे तापनील
 करक तानका जम्नल नहीं है।

अकान्तमें रहनेमें और आहार कम करनस हम स्वप्न-दायक बच
 जान ह और बाकाक मात्त्विक गुणाका अनुशीलन करना आमान बनता
 है। योगशास्त्रमें भी मुषाच्य अल्पाहारका महत्त्व बद्धत माना है।
 बघागाम्नन तो कहा ही है कि जो मनुष्य मितभुक् और हितभुक् है
 वनी निरोगा रह सकता है। [आहार गत्र भी त्रेणिये।]

लाभालाभौ [२-३८]

✓लभ (प्राप्तौ) पाना रना सताना। लाभ और अलाभ प्राप्ति
 और अप्राप्ति दोनाके प्रति सामान्य भाव समान भाव रखनको गीतान
 नाम्ययोग कहा है। सबभूताक हितने लिभ और आत्मगुडिने लिभ
 यन दान तप आदि कतय कम करते समय यह ध्यानमें रखना
 पडना है कि मनुष्यका अधिकार कम तत्र ही सीमित है। कर्मों
 जा अनक फल पना होत ह अन पर मनुष्यका अधिकार नहीं है
 य तानकर मनुष्यको चाहिय कि वह सुख-दुख लाभ-हानि जय
 पराया जित्यादि द्वन्द्वाके प्रति समान भाव अथवा जुनासीनक जसा
 भाव धारण करे। इसीको साम्ययोग कहा है। 'समत्वम योग
 अयते' — योगमें समबलि जा जाती है।

जिनका यह अर्थ नहीं है कि मनुष्य काभी कार्य प्रयाजन विहीन करे और यह भी अर्थ नहीं है कि त्रिम कायन हानि हा शिव पदवी हा जसा काय मनुष्य मूत्रप्राहम करता ही रह । किन्तु मनुष्यविमे विहित कम करने हुअे लाभ-हानि जा कुछ भी प्राप्त हा अथवा अद्वैतरहित और वामना-शून्य हानर स्वीकार कर ।

लोकमहेश्वर [१०-३]

√लोक (ज्ञाने) दखना निरीक्षण करना । (नापायान् दोषो घ) जानना, घूमना प्रकाशित होना ।

लोक शब्द अनेक अर्थ ह । लोक = दुनिया । भूलाक स्वर्गाक जिदलाक, मुरेदलाक मत्पलाक चद्रगाक पितलोक गोलोक पानाल लाक, 'ग्यातल' गक नरगाक अहलाक परलाक अि-यादि अनेक लोक हैं ही । लोक यानी दुनिया । लोक क्या कहगे अस वाक्याने लोकका अर्थ होता है जनता । 'गनानुगतिको लोको न लोक पारमायिक' अिस वचनमें लोकका अर्थ है सामान्य प्राकृत जन । लोकका अर्थ प्रजा भी होता है । 'लोक वेदे च' (१५-१८) अिस वचनमें धमप्रथ और लोक-वचनका क्षेत्र भेद दिखाया है ।

लोक-महेश्वरका अर्थ होता है त्रिलाकी अथवा चतुर्ग भुवनाका स्वामी । जो मनुष्य अक्षण्ड जानता है कि अज अनादि परमाना अिस त्रिलाकी पर जाग्रत भावस राय करता है वह आदमा बना गफ्तमें नहा आता । फलत वह सब पापाके आक्षयणन पाना प्रवृत्तिम मुक्त रह सक्ता है ।

शास्त्रधम, लोकधम, गिष्ट-माहित्य, गक-माहित्य शास्त्राय मीत, लोक-सगीत, अि-यादि विभागामें लोकका अर्थ सामान्य जनता (masses) किया जाता है । अस लागाका जो स्वामी (God of the masses) है वह भी लोक-महेश्वर है ।

नारायण शब्दके समान मन्वृत्तमें नारायण शब्द भी पाया जाता है । लोक यानी जनता, है अयन रहनेका स्थान जिनका यह है नारायण । नारायण शब्दका अर्थ होता है God of humanity चार्वाकोंका दान भी नारायणत्व कहगता है ।

लोकसंग्रह [३-२०, २५]

श्री शंकराचार्यन लोक-संग्रहका अर्थ दिया है— लोकस्य शुभांग प्रवृत्ति निवारणम् अर्थात् लोकाकी खराब प्रवृत्ति रोकनके लिये जो जा करना युचित है वह सब लोक-संग्रह है। समाजकी धारणा और बुनतिके लिये ज्ञानी पुरुषको लोक-संग्रह करना पडता है। असा नहीं करनस लो ग बिगड जाते ह।

आजकल लोक-संग्रहका भ्रामक अर्थ किया जाता है। लोकाको राजी रखनके लिये अनुकूल बनानके लिये बुनकी खुशामद करना बुनके अज्ञान, भ्रम और दोषको बनाय ररना ही माना लोक-संग्रह है असा माना जीर बताया जाता है। जो बात हम नहीं मानते असीका पोषण देना भी लोक-संग्रहके लिये आवश्यक माना जाता है लो ग नहा सोचते कि अज्ञान असत्य और दम्भका गीता पुरस्वार नहीं कर सकती। कोअी भी मनुष्य समाजके लिये धर्मके लिये या भगवानके लिये भी असत्याचरण या दम्भाचरण करनको बाध्य नहीं है। लोकाकी प्रगति रमग होती है यह समझकर लोकाके अपर सुधारका बोझ रमग डालना चाहिये और भिन्न भिन्न वृत्ति और योग्यताके लोकाको सत्यकी आर जक साथ ले चलनमें जो वृत्तिकी बुदारता चाहिये भिन्न भिन्न पहलू समझनकी व्यापक दृष्टि चाहिये वही लोक-संग्रहमें आवश्यक है।

लोक [३-९, २१ २२, ४-३१, ४०, ५-१४, ७-२५
९-३३ ११-४३, १२-५ १५, १३-३३ अि०]

√लोक (दघने भाषायाम् दीप्ता च) दिखना देखना दूढना प्रकाशना जानना।

लोकके मुख्य दो अर्थ ह। स्वर्ग पृथ्वी पाताल आदि स्थान या भुवन (११-२० ४३ १५-१७)। दूसरा अर्थ है असे भुवनमें रहनवाले व्यक्ति। लोकोक्ति=कहावत—अस गळमें यह दूसरा अर्थ है। गतानुगतिको लोको न लोक पारमार्थिक —अस वचनमें भी लोक गळका वही अर्थ है।

गीतामें ये दोना अथ आने है। भगवानका दोना अथमें लोक महेश्वर (१०-३) और लोकक्षयकृत् (११-३२) कहा है।

लोभ [१-३८, ४५, १४-१२, १७, १६-२१],
लुब्ध [१८-२७]

√लुभ् (गाभ्यँ) लोभ करना।

नरकके तीन द्वारमें काम क्रोधके साथ लोभ भी है। लोभ निलज्ज होता है और अधा भी होता है। जो चीज अपनी नहीं है उसे तो वह चाहता ही है किन्तु जो चीज अपने कामकी नहीं है उसे भी वह चाहता है। लोभीका मन (चित्त) मारा गया रहता है। लोभा पहलचेता मनुष्य पाप-मुष्य नहीं देखता। भूखसे अधिक खानेवाला जिस तरह बीमार पड़ता है, अथवा तरनेवाला गलेमें पत्थर बाधनेसे जिस तरह डूब जाता है उसी तरह लोभी मनुष्य सग्रह बढ़ाकर जीवन-यात्रामें डूब जाता है। कमसे कम चीजाका ध्यान करके हीन तो बन ही जाता है। लोभ रजोगुणका लक्षण है।

[वायय सरहद पर अंग्रेजी फौजके साथ सजन कीर्तिकर थे। पठानाने फौज पर आक्रमण किया। लडाभीमें अंग्रेज अफसर मारा गया। घबराये हुये लोगोको डॉ० कीर्तिकरने अुत्साह दिया और जेक युक्ति रची। वे शामद अूट पर सवार थे। अुन्होंने अूट दौड़ाया और अपने पासकी थलियोमें से मुटठी मुटठी रुपये अिधर अुधर फेंकना शुरू किया। लोभके अघे पठान लडना भूलकर रुपये बीनने लगे। अितनेमें हिन्दी फौजने गोली चला कर अुहे साफ कर दिया। अगर पठान लडत तो सब हिन्दी हार जाते और पठानोको अुनका सारा माल-असबाब भी मिलता। लेकिन वे लोभसे अघे हो गये थे।]

बाल गतिस काम और क्रोधके क्षीण होनेकी सभावना है परंतु लोभ कभी क्षीण होता ही नहीं।

वणसकर [१-४१, ४३], चातुर्वर्ण्यम् [४-१३]

‘चातुर्वर्ण्य’ के नीचे वर्णके स्वरूपका विवेचन किया ही है। स्मृतियामें चार वर्णोंके साथ अनुलोम प्रतिलोम विवाहके अनेक प्रकार बताये हैं।

व भी घण-व्यवस्थाके अन्तगत ही है। लेकिन जहा घणका विचार ही छोड़ दिया जाता है अथवा विवाह-बाह्य सम्बन्ध गुरु हाना है तब घणसकर आ जाता है। गीतापालमें घणसकर अत्यन्त अनिष्ट माना जाता था। भिन्न घणके विवाह (जिहें वणातर विवाह कहन है) तो होत ही य वे समाज माय य।

अजुनन जिस घणसकरके दोष बताय ह व व्यभिचारमूल्य ह। वणोंका खयाल ही टूट जानसे कौनसा पगा कौन करे अिसकी व्यवस्था टूट जाती है। अमर्याद प्रतियोगिता (competition) गुरु होता है कलह बढ़ता है जीवन-सहयोगका स्थान जावन-सभप लेता है और सामाजिकताका नाश होता है। वही नरक है। जहा घणसकर आया वहा पति पत्नीकी अयाय निष्ठा टूट जाती है कुल धमका नाश होता है और भ्रमर सामाजिक जीवन भी नष्ट होता है।

वाद [१०-३२]

आजकल अध्यात्मवाद जडवा पूजावाद साम्यवाद आदि गणोंमें विशय दृष्टिक अथमें वाद गत आता है। वादी प्रतिवादी शत्रुमें वाद है ही। लेकिन गीतामें जहा — वा प्रवन्ताम अटम् वहा है वह तो तब ग्रास्त्रमें वाद जल्प वितण्डा आदि गल आत ह वहाका ही वा गब्द लिया है। वितण्डा जल्प य दोना चर्चा-सवाकके बुरे प्रकार ह। केवल तत्त्वप्राप्तिके लिअ जिज्ञासु वृत्तिसे या सत्य स्थापनाके लिअे जा सवा चलाया जाता है चर्चा की जाती है वह है वा। लडाओ करके अपनी बातकी स्थापना करना जगली प्रकार है। प्रतिपक्षीमें याय बुद्धि धमबुद्धि और कल्याण-वृत्ति जाग्रत करके यायको स्थापित करनेका प्रकार अिष्ट है। अिमन्त्रिअ सब राष्ट्राको भी चाहिय कि व भगवानकी वादरूपी विभूतिकी आराधना करें। यही युगधम है।

गीतामें केवा प्रजावाद ब्रह्मवा और अयायवा असे शत्रु भी आये ह।

विकर्म [४-१७]

‘वि’ का अर्थ होता है विरुद्ध अथवा विरोध।

सामान्य तौर पर मनुष्य हितकर या लाभदायी कम ही करता है। मनुष्यमें अगर दीर्घदृष्टि रही तो वह उसे कम छाड़ दगा जो तुरन्त लाभ देते ह किन्तु परिणामम नुकसान करते ह। और अगर मनुष्य अधा रहा, विवेकशून्य रहा अथवा अधमनिष्ठ रहा तो अपने हितक विरोधी समाजविराधी शास्त्रविराधी कम यानी विक्रम कर प्रठेगा।

कम जरूरी होते हुअे भी आलस्य प्रमाद, अनुत्साह आदि दोषके कारण जब मनुष्य अमे कम नहीं करता तब वह अकम है।

कभी कभी मनुष्य असी खूबीस कम करता है कि अहंकार और फलाना अुसमें नहीं आती। जिसका परिणाम यह हाता ह कि कम अुसे बचनकारक नहीं हाता। जैसे कम भी अकम कह जाने ह। जिस तरह कममें अकम और अकममें कम दखना ही पडता है।

कम अकम और विक्रमकी यह हा गयी सामान्य मीमाना। श्री विनोदाने विक्रम शब्दके ‘वि’ अुपसर्गका अर्थ किया है विरोध। अहंकार त्याग और फलानवित-त्याग सिद्ध हो अिमलिअे जा विरोध भावनासे और विरोध प्रकारके कम किये जाते ह जैसे कमोंको ही श्री विनादाने विक्रम यानी विशेष कम कहा है। अनुका कहना है कि ४-१७ श्लोकके बाद जा अनेक यनक प्रकार आये ह वे सब विक्रम ही ह (श्लोक २२ स ३२)। (जिसक साथ कम और ‘अकम’ शब्द भी देख लीजिये।)

विगतकल्मष [६-२८]

‘पूतपापा’ और विगतकल्मष का अर्थ जेक ही है। जिसका कल्मष यानी पाप और मल निकल गया है वह विगतकल्मष है।

‘पूतपापा’ शब्द देखिये।

विगतज्वर [३-३०]

विगत ज्वर यस्मान स विगतज्वर विगतभनाप विगत गोक। ज्वरका असली अर्थ है बुखार। जिस परसे श्रेय मनाप, विन्ता आदि सब विकार भी अुमीमें आ जाने हैं। दपज्वर, मन्ज्वर,

मदग्बर आदि शब्द प्रचलित ह ही। भगवान कहन ह रि विगतग्बर
होकर अध्यात्म वृत्तिसे लडा।

अस परसे अहिंसावादी कहते ह कि स्थूल युद्धमें कोभी भी मनुष्य
बिना युत्तजनाने लड नहीं सक्ता। असलिअे यहा स्थूल युद्ध बरनवा
विधान नहीं है। गीतामें अपन विचाराने साथ निरतर लडते रहनवा
ही जुपल्य है।

विगतभी [६-१४]

विगता भी यस्मात् स। बचपनसे ही निभय आत्मी मिलना
मुश्किल है। आहार निद्रा भय आदि बातें नव प्राणियामें स्वाभाविक
ह। मनुष्यमें भी स्वाभाविक ह। परन्तु मनुष्य प्रयत्नपूर्वक साधना
द्वारा भीतिको दूर कर सक्ता है। दवी सम्पत्ति सत्त्वगुण योगसिद्धि
आदिमें अभय अथवा निभयताका महत्त्व विनाप बताया है। जो मनुष्य
अपरिग्रही है अपने देहके प्रति भी अुदासीन है और जो ब्रह्मचयका
पालन करता है अुसके लिअे निभयताका अनुरीलन सुसाध्य होता है।

विगुण [३-३५, १८-४७]

विगत गुण (अपि)—गुणरहित अथवा दोषयुक्त होते हुअे भी।
जिसमें अक भी गुण नहीं है अथवा गुणकी कमी है अुसे भी विगुण
कहत ह। जिसमें कुछ दोष अर्थात् वगुण्य है अुसे भी विगुण कहते
ह। असलिअे विगुणके अय होने ह गुणरहित अथवा अल्पगुण अप
र्याप्तगुण अथवा सदोष।

विचेता [९-१२]

विगत विवेक यस्य स। चेतस्का अय है मन। जिसका मन
चला गया है यानी जिसका विवेक चला गया है अुसे विचेता कहते
ह। विचेताके अय हाते ह बुद्धिशून्य मूल दुखी असमजसमें पडा
हुआ और विवेकशून्य। आसुरी सम्पत्तिके लोग कम सोचते ह। राक्षसी
प्रकृतिके लोग विल्कुल ही नहीं सोचते। य दोनो विचेता होते ह।
विचना का विरुद्ध शब्द है सचेता (११-५१)।

विजितेन्द्रिय [६-८], विजितात्मा [५-७]

चित्तनामा और जितेन्द्रिय गज्ज दमिवे ।

आमाका जिद्र कहा है । यह सारा विश्व (जिम् = जिदम्) जा दयना है, अनुभव करना है वह जिद्र है । यह जिद्र अथवा आत्मा जिन मापनाकी मददसे विषयाका अनुभव करता है पान पाता है व अन्द्रिया है ।

अन्द्रियामें चन्द्र अन्द्रिया बहुत ही वेगवान हाती है जोरसे अपने विषयाकी आर दौडता ह । चन्द्र अन्द्रिया मन्द हाती हैं । दुष्टान्न वेगवान अन्द्रियाका दमन करनेसे, अन्न पर विजय पानेसे व आत्माके वग रहकर अत्तम सवा देनी ह और जा अन्द्रिया अविकसित हाती ह अत्रुःप्रामाहन् दकर अन्नकी गक्ति बगानेमे वे अपना काय पूण रूपम करनेमें नमय होनी ह । अन्नके द्वारा आत्मा विजयी होना है ।

विज्ञानम [९-१, १८-४२]

विगप पानका विज्ञान कहत ह । ज्ञान (अवबोधने) । गीतामें विज्ञान गज्जका अर्थ है आमाका अनुभवयुक्त पान आत्म-मायात्कार । आजकल विज्ञान गज्जका प्रयोग भौतिक विद्या, Science, के अर्थमें किया जाना है ।

चतुर्विधा नाम विद्यानाम धारणम हि यथायत ।

विज्ञानम अितरत विद्यात येन धर्मो विद्ययते ॥

(ब्रूमपुराण अ० १४)

गिन्पी आन्धिके पानका भी विज्ञान कहत हैं ।

बौद्धाके चार पयामें से अेक पयका विज्ञानवाग्नी कहत हैं । जब म किमी घटका दलना ह तब यह घट है करके जानना यह अन्नके कहनेक अनुसार प्रवृत्ति विज्ञान है । घटको जाननेवाला मैं ह जसा जा आनपान हाता है वह है आलय विज्ञान । जिने हम आत्मा कहत ह अन्नाका शौद्ध परिभाषामें विज्ञान कहा जाना है ।

विदितात्मा [५-२६]

विदित (=ज्ञात) आत्मा यपाम् त=सम्यग्ज्ञाना ।
जिन्हान आत्माको जान लिया है आत्माका साक्षात्कार किया है
अुह विदितात्मा कहते ह ।
अपनको पहचानना यह मवमे बठिन और सबम महत्वका
काम है ।

विद्याविनयसम्पन्ने [५-१८]

√विद् (ज्ञाने) जानना । अिमस विद्या ग- आया है । व- ग-
भी जिती धातु परसे आया है ।
√नी (प्रापण) ले जाना । अिस परसे विनय ग- आया है ।
विनयका सामाय जय होता है नम्रता गानीनता औचित्यना पालन ।
विनयका दूसरा अथ है समय मस्कारिता अिन्द्रिय-जय । विनय अयका
विनयनका अथ शिक्षण शिक्षा भी हाता है ।
वर्णाश्रम यवस्थाकी अवेम्भा थी कि ब्राह्मण विद्या और
विनयसे सम्पन्न हो नान और सस्कारिता विद्या और चारित्र्य दानामें
समृद्ध हा ।

जिस तरह ब्रह्म निर्दोष और सम है अुसी तरह गीताका ज्ञान
पुरुष भी निर्दोष और सम हाता है । अुसका साम्ययोग अुमे सबके
प्रति समान वृत्ति रखना सिखाता है । विद्या विनय सम्पन्न ब्राह्मण
हो गायके समान समाजोपयोगी और सस्कृतिका आधार रूप पवित्र
जानवर हो युद्धमें अुपयोगी और राजाके बभवका चोतन असा हाथी
हो समाजमें जिसे अगुचि समझते ह असा कुत्ता हा जयका असे
कुत्ताका मास पकाकर खानवाला चाण्डाल हो जिसे सत्य नान हुआ
है असे पण्डितकी सबके प्रति अेकमी दष्टि रहती है ।

विधि, विधान [१७-११, १३ २४]

वि + √धा (धारणपोषणयो दान च) √धि (धारण) ।
विधि और निपध दोना ग- प्राय साथ आने ह । जहा धरनकी
आज्ञा या सिफारिश है अुस कहते ह विधि और जहा न करनकी आज्ञा

है उसे निषेध कहत ह। घममें दाता आ जात ह। कानूनमें भा दोना हान ह। शास्त्राको भी विधान कहत ह क्यकि शास्त्र विधि निषेध द्वारा शासन करना है। विधानाक्त और विधिदृष्ट का अर्थ है शास्त्राक्त। जिसमें विधिका पालन नही है उसे विधिहीन कहते हैं।

विधिदृष्ट [१७-११], विधिहीनम [१७-१३], विधानोक्त [१७-२४]

विधिदृष्ट = विधिविहित = शास्त्रमें कहा हुआ। विधिका अर्थ है शास्त्र। करनेकी आज्ञाको विधि कहते ह (न करनेकी आज्ञाको निषेध कहते ह)। विधि निषेध मिलकरके जा शासन बनता है उसे शास्त्र कहत ह।

विधिका ही विधान कहत ह। विधानाक्तका अर्थ है शास्त्रमें कहा हुआ।

शास्त्र विधिके कहनेके विपरीत जा हो उसे विधिहीन कहते ह। ये सब विघेपण यन यागादि क्रियाकाण्डके सम्बन्धमें आते ह।

विधेयात्मा [२-६४]

विधेय = सयत। आत्मा = अंत करण। जिस मनुष्यने अपनी वान-ताआको काबूमें रखा है अन्त करणका स्वाधीन रखा है असा मस्कारी पुरुष विधेयात्मा है। शिष्य और सेवकको भी विधेय कहत ह क्यकि व आज्ञाकारी हात ह। जब हमारा अन्त करण हमारी घम-बुद्धिकी आज्ञामें रहता है तब हम विधेयात्मा बनत ह। असा अंत करण या तो निष्काम होता है या केवल घमाविच्छेद कामका ही सेवन करता है।

विभक्तम [१३-१६, १८-२०], प्रविभक्तम [११-१३, १८-४१], अविभक्तम [१३-१६, १८-२०]

√भज् (सवायाम्)।

√भज् (आमदने) तोडना चीरना विभाग करना, अलग करना।

विश्वमें जा परम तत्त्व है वह जेऊ अखण्ड हान हुजे भी विभिन्न-सा दीख पडता है। जो मनुष्य अभेदमें भेदका देख सकता है

वही सच्चा पानी है। अजूनका जब विरारूप-रूपान हुआ तब अुगने यह अतिल विरव जा सामाय दुष्टिका प्रविभक्त पाना भिन्न भिन्न टुकडामें रूपामें बटा हुआ दीग पडता है अुग विरारूप-रूपामें अवत्र हुआ दसा (११-१३)।

विभक्त भूतमात्रामें जा अविभक्त आत्म-नत्पना रूपा है अुसका पान सात्विक है क्पाकि अुगमें सच्चा अ-आत्मरूपान है। (भगवान कहत ह कि स्वय अुन्हान प्रजाके स्वभाय-गुणक अनुसार अुनक कम बाट निय ह। प्रविभक्तानि (१८-४१)।

तत्त्वर्णियान देता है कि भक्के तत्व धाणजीवी छिष्ट और कम महत्वके अल्पसात्तर हात ह और अभदक तत्व स्पावी गहर और अधिक महत्वके सारपूण हाते ह। अिमलिभ जीवनमें अभक्के हा महत्व है। भदकी आर ध्यान देनेस सगडा और रापय बडना है प्रम और सगठन टूट जाता है आत्मगक्ति क्षीण हानी है और जीवन तुच्छ बनता है। समानता और अभदके तत्त्वा पर दुष्टि समनम प्रम बडता है अुदारता बडती है सहनशीलता आती है और जीवन कृताय हाता है। अिसीलिअ बह सात्विक और सच्ची दुष्टि है।

विभूति [१०-७, १६, १८, १९, ४०, ४१]
आत्मविभूतय [१०-१६, १९]

वि + √भू (सत्तायाम् प्राप्ती अवकल्कन च) होना जीना पाना
गुद बनना सोचना।

विभूतिका अय है सम्पत्ति समृद्धि बल्याण माहात्म्य तत्र प्रभाव शक्ति विस्तार अश्वय सिद्धि। जिन जिन चीजामें कुछ न कुछ श्रष्टता या शक्ति या अुत्कटता दील पडती है वे भगवानकी विभूति ह।

विभूति आवेश और अवतार भगवानक प्रकट होनक भिन्न भिन्न प्रकार ह। किसी ब्यक्तिका सारा जीवन अीश्वरी शक्तिसे अनुप्राणित हुआ जब हम देवत ह तब हम अुसे अवतार कहते ह। जब किसी समयके त्रिअ और विगिष्ट कायके लिअे ही अीश्वरी शक्तिका प्राकटय पाया जाता है तब वह आवेश कहा जाता है। और

जब भीश्वरी शक्तिका कोजी अक अश पाया जाता है तब सामान्य विभूति कहते ह (१०-४१)।

विमुक्त [९-२८, १४-२०, १५-५, १६-२२], **विनिर्मुक्त**

वि + √मुच (मोचणे)। मुक्तको ही विमुक्त कहते ह। विशेष रूपेण पूणतया मुक्त। जो मनुष्य वामनाआके बचनस पूणतया मुक्त हुआ अमीको मोक्ष मिलता है। विमुक्तश्च विमुच्यते। मनुष्य वासनारूपी शरीरको जब छोड देता है तभी पूणतया मुक्त हाता है (कठ० ५-१)।

विमूढात्मा [३-६, ६-३८, ११-४९, १५-१०],
विमूढभाव [११-४९]

वि + √मुह (वचित्ये) बेभान होना भूल करना माहमें फस जाना। अिन्द्रियाके विषय-अुपभोगसे जिसका अन्न करण विमूढ हा गया है और असलिअे जिसका सदाचार भी घ्यथ हो गया है वह विमूढात्मा है।

विविक्तदेशसेधित्वम् [१३-१०]

अेकान्तमें रहनेकी रुचि जानियाका लक्षण है। नीचे विविक्तसेवी शब्द देखिये।

विविक्तसेवी [१८-५२]

√विच (पथक भावे) अलग करना अथवा अलग रहना जुदा करना। अस परसे विविक्तम का अथ है अेकान्तका स्थान, जस नदी पुलिन गिरि, गुहा।

गुहादीन् विविक्तान् देशान् सेवितुम् शीलम् अस्य अिति विविक्त सेवी। मनको शान्त, निर्विकार और योगके योग्य बनाना हा तो कुछ समयके लिअे अेकान्त-सेवन आवश्यक है। (अिसीने साथ 'अरतिर-जनससदि भी देखिये।)

विशुद्धात्मा [५-७], आत्मविशुद्धये [६-१२], विशुद्धया
बुद्ध्या [१८-५१]

जिसने अपने हृदयका जोर बुद्धिका दापरहित और सस्कारा
बनाया है।

विषय [२-५९, ६२, ६४, ४-२६, १५-२, ९, १८-५१]

√विष (सेचन याप्तौ विप्रयोग) सिंचन करना टालना
फटना जुदा करना।

हमारी अिन्द्रिया जिनके प्रति दौडती ह जिनका जुपभाग करती ह
और जिनमें बद्ध होकर पडती ह वे सब विषय ह। अिन्द्रियाके अुपभागक
साधन विषय होते ह। रूप रस गंध स्पश और गन् ये चानेन्द्रियाक
विषय ह। साहित्यमें ग्राम जनपद आदि प्रदेशको भी विषय कहते ह।
सत कहते ह कि विष और विषयमें कोओ भद ही नही है। अगर है ता
अितना हा है कि विष पीकर हम जेकबारगी छूट जाते ह विषयके
सेवनसे मरते ही रहना पडता है।

विषयेन्द्रियसयोग [१८-३८]

जीव सुखको टूला रहता है। वह मानता है कि अिन्द्रियाके
द्वारा रस गंध रूप शद और स्पशका आस्वाद लेनेसे सुख मिलेगा।
जुसे कुछ सुख तो मिलता ही है। किन्तु वह सुख क्षणिक हाता है और
बादम जुसी सयोगमें से दु ख और बुराअिया पदा हाती ह। जसा कटु
अनुभव होत हुआ भी जीव अपनेको मुधारता नही। प्रत्युत अनेक जम
वही विषय और अिन्द्रियाके सयोग द्वारा मिलनेवाली अुत्तेजना अथवा
समाहनका अनुभव लेत रहता है। यह जो दु खपरिणामी सुख अुसे
मिलता है वह रजोगुणी है।

आत्माक चित्तनसे जब बुद्धि निमल होती है तब जुस स्वच्छताका
आरोग्यपूण सुख सात्त्विक सुख है। जुसमे विषयेन्द्रिय-सयोग नहा
हाता है।

विषयध्यानम् [२-६२, ६३, १५-९]

जिद्रियाके द्वारा विषयाका सवन करनेस बचन पदा हाता ही है किन्तु मनुष्यका अिमके अलावा मनक द्वारा विषयाका चिन्तन जयवा ध्यान करनेकी जिच्छा और आदत हाती है। असमें जिद्रियाका प्रत्यक्ष सयाग न हात हुअे भी पतन तो होता ही है। जब जिद्रियाका सयम करके केवळ मनम विषयाका सवन किया जाता है तब अस सयमका फल तो मिलता नहा है किन्तु नुकमान होता रहता है। अस सयमको मिथ्याचार कहा है (३-६)। [मिथ्याचारका विवेचन देखिये।]

विषयाके ध्यानस पतन किम तरह होता है अिमका क्रम स्थितप्रज्ञक वणनके साथ आया है। (२-६२ ६३)।

विपाद [१८-३५], विपादी [१८-२८], विपीदन [१-२७], विपीदन्तम [२-१, १०]

वि+√सद (विशरण-नाति-अवसादनेपु) टूटना जाना डूबना सडना थकना।

विपादके विरुद्ध है ह्य और अुल्माह। विपादके अय होते ह दुःख निरुल्माह निरागा (विपाद चेतना भग अुपायाभावनागयो) (माह निमित्तान् गाकात यत मना-दोत्रल्य यस्मिन मति सव-व्यापार अुपरमौ भवति स विपात्)

तमोगुणी लाग पुष्पाय-नागक विपादको भी झटसे नही छाडत। मिट्टीका डेला जब गिरता है तब वह टूट जाना है जयवा कमस कम पडा रहता है। जब खरका गेंद नीचे गिरता है तब जोरामे अुच्छन्ता है। अेक विपात्का प्रतिनिधि है दूसरा अुल्माहका।

तामस कर्ताका गीताने विपादी कहा है क्यकि असके स्वभावमें हमगा निरुल्माह रहता है।

अजुनके अनुल्माहको गीताने विपादयाग कहा है। समस्त गीता सुननक बाद अिस विपादका नाग हुआ और अनुनने प्रसाद पाया (१८-७३), असल्लिअे विपादका विरोधी शब्द है प्रसाद। जिसने प्रसाद

पाया जुसे प्रसन्नात्मा कहते ह । प्रसादस्तु प्रसन्नता ।' अमी प्रसन्नता भगवानकी कृपासे प्रसादसे ही प्राप्त होती है ।

गीताकी गति विपादसे प्रसादकी ओर है ।

विसग [८-३]

वि+ √सृज(विसर्गे)छोडना बाहर फेंकना पदा करना गिराना ।

विसगका अर्थ है त्याग, विरोध मृष्टि सृष्टिकी अत्युत्पत्तिका व्यापार दान पानीका बरसना । विसगक अर्थके लिये भूतभावोदभवकर गद दखिये ।

वीतरागा [८-११], -भयक्रोधा [२-५६, ४-१०]

विगत राग यम्य त वीतरागा । जिनमें से राग यानी आसक्ति दूर हुआ है उसे लोग वीतराग ह । यतियाका यह विगणण है । राग और द्वेषकी जोड़ी होनेके कारण राग (अनुराग)क दूर हाने ही द्वेष भा दूर होता है । फिर क्रोधके लिये कोओ स्थान भी नहीं रहता । राग द्वेष क्रोध ये सब अनात्मवादियाके लक्षण ह । आत्मवादी होने पर ये तीना चले जाते ह और जो आत्मवादी ह वे हर हालतमें सदा निभय रहते ह । इसलिये स्थितप्रज्ञका वणन करते समय भगवानन अुह वातराग भयक्रोध कहा है । मोक्ष-मार्गी नानी, तपस्वी भक्ताका भी यही लक्षण है ।

वेगम [५-२३], अम्बुवेग [११-२८]

वेगका अर्थ है त्वरा गति शोभ हाजन निश्चय अुत्कटता (रक्त अथवा विषका) अभिमरण अुतावली विकाराका योग ।

नन्ीके पानीकी त्वराका अम्बुवेग कहा है । (ननिया जहा युवान हानी ह वहा अुनका अम्बुवेग तीव्र हाता है जहा वे बूढी होता ह वहा वही वेग मन्द हाता है ।)

काम त्राधानि विकार जब मनमें पदा हाने ह तब अुनका वेग प्रथम मन्द होता है । जब अुस पोषण मिलता है तब वह दुधप बनता है समुद्रवेग कहा जाता है । बधगास्त्रमें कहा है कि पेगाव या गोष जानकी आवश्यकता अुत्पन्न हाने पर अुम रोकना नहीं चाटिये ।

'वेगान् न धारयेत्'। रोकनेसे अनेक रोग होत ह। क्षयरोग तक हानेका डर रहता है।

जो लोग मनमें काम और क्रोध आदिका सेवन करते ह और बाह्य कामको ही रोकत ह, अुनके शरारमें और मनमें अनेक प्रकारकी विवृत्तिया पत्ता होनी ह जा सकसक भो हो सकनी ह। अिसल्लिअे केवल बाह्य समय पर्याप्त नही है। मनमें ही अुनके वगको स्यान नहा दना चाहिय अयथा मिथ्याचारके सब दोष आ जाने ह (३-६)। *Desires suppressed breed pestilence*

वेदवादरता [२-४२]

यहा वदका अथ वदके कमकाण्डस है। कमकाण्डो लाग यन यागादि क्रिया-कलापमें फस हुअे रहत ह और बध-मुक्त नहा हान। वे कहते है कि वदमें बताये हुअे कम करनस स्वर्गादि फल मिलता है और न वेदाका अिससे कोअी भित प्रयाजन है न जीवन्ता। असाको 'वदवादरता' कहकर गीताने अुनकी निन्दा की है।

वेदात्तृत् [१५-१५]

भगवान कहते ह कि सब वेदामें मेरी ही वार्ते भरी ह। वदाक द्वारा मेरा ही ज्ञान प्राप्त करना चाहिये। समस्त वेदाका म जानता ह और वेदान्त तो मेरे ही बनाये हुअे ह।

वेदके मूल-मन्त्रोको सहिता कहते ह। अुनके बाद गतपथ गापथ आदि ब्राह्मण ग्रन्थ आत ह। अुनके अतमें ज्ञान चर्चा करनेवाली उपनिषदें जाती हैं। अिन तीनाको वेद कहते ह। यह ज्ञान चर्चा वदिक साहित्यक अन्तमें आती है, अिसल्लिअे अुसे वेदान्त कहते ह। वदिक साहित्य और वदिक उपदेाका निचाड होनेसे भी अु ह वेदान्त कहत ह।

भगवान कहते ह कि वेदान्ताका बनानेवाला म ही हू। वदके ऋषियाको मन्त्र द्रष्टा कहत ह कयाकि ध्यानमें अिन मन्त्राका अु ह दान हुआ। अुन्हाने ये मन्त्र बनाये नही। वदज्ञान ता सनातन स्वयभू ह। निमल हृदयके अपियाके मनमें अुनका प्रतिबिम्ब-भास पहा अिनल्लिअे वे कवल मन्त्र द्रष्टा ह।

विदु वेदमें अपियोक्तो मन्वृत्त भी कहा है। वहा अुसका जितना ही अथ है नि मन्वोकी गद रचना अुनकी है। जिसी अथमें भगवान अपनेको वंदातकृत कहते हागे जयवा सब पान भगवानका ओरसे ही प्रगट हाता है जिसलिअे भी व अपनेका वेदान्तकृत कहते हागे।

वराग्यम् [६-३५, १३-८ १८-५२]

वि + √रज (राग) रजित हाता प्रेममें फसना रगता अनुरक्त होना। रज धातु परमे हा रजोगुण शब्द आया है। जिस जासक्तिका रग जब दूर किया जाता है तब अुम वृत्तिको वराग्य कहते ह।

विषयद्विषय-सयोगम जा जासक्ति पदा होती है वह वराग्यस दूर हाती है। चचत्त मनका कावूमें लानेके लिअे सबसे अच्छा अुपाय वराग्य है। विषयोपभागमें जो दोष ह वे ध्यानमें आनेसे वराग्य पदा हाता है। जिद्विषयार्थक प्रति जब वराग्य पदा होता है तब ही जात्मज्ञानका अुन्य हाता है और ज्ञानादयके बाद ही ब्रह्मकी प्राप्ति हाता है। वही जीवन निदि है।

वश्यकम् [१८-४४] वश्य [९-३२]

वेदमें विट अथवा विगका अथ होना है सामान्य पुरुष। जा लोग ब्राह्मण या क्षत्रिय जमी विशय जातिके नही ह व सब विश कहे जाते ह। तीसरे वणक लाग विग अथवा वश्य कहे जाते ह। अुनका मुख्य काम है — घेनी करना गायागा पालन करना माल अेक जगहसे खरीन्कर बेचनक जिअ दूसरा जगह ल जाना और यापार करना। जिसलिअे आज ना लोग खतीका काम करते ह व सचमुच तो वश्य ह। क्षत्रिय भा ग्नीका काम तब तक करते रहते ह जब तक अुनको युद्धका जामत्रण नहा है। जमानका मालिक ही जमीनकी रभाके लिअे लडेगा और जमीन बटून बडा न हो ता मालिक ही अपनी जमीन जातगा।

खतीके लिअ गाय-बल जावश्यक ह। जिसलिअे जो खेती करेगा वह गाय-बल रखेगा हा क्वाकि गाय-बल दूध परिधम और खाद देकर मनुष्यका जमाधारण सवा करते ह और मजदूरी भी खेतीको और बजारकी। जिम तरह गाय-बल मनुष्यक कुटुम्बी बने ह अुह

हत्यासे बचाना, अह नही मारना, यह है मनुष्यका धर्म। मनुस्मृतिमें लिखा है कि भगवानन गायकी रक्षाका भार वश्या पर रखा है। मनु कहते ह कि वश्याको कभी असी बुद्धि नही हानी चाहिये कि गायका रक्षा म न करू। गायकी रक्षा वश्यधर्मस ही होनी चाहिय याना जसे वनानिक ढंगसे गापालन हो कि गोपालनका अयगास्त्र ही गायका और अुसके वश्या बचाव।

किसी भी समाजमें ब्राह्मण और क्षत्रियाकी सख्या थोडी रहगी और गूढ़ भी थोडे ही रहने चाहिये। जा लाग सस्कार ग्रहण नही कर सकते, जा काओी वौशल्य हासिल नही कर सकते ह और जिनकी योग्यता केवल परिचर्या (menial service) करने तक ही सीमित है अमे लोग ही गूढ़ रहगे। अुनकी सख्या बढनेस समाज डूब जायगा। अिसलिअे समथ और निरोगा समाजमें गूढ़ाकी मख्या नहाने वरावर होगी। बाकी रहा हुआ विराट समाज वश्य ही हागा। अिसलिअे वेदोमें सामांय जन-समुदायका ही विग् अथवा वश्य कहा है।

जा सम्पत्ति समाजमें हाती है अुसके पीछे कुदरतकी देन पंगुआका स्वाध-न्याग और मनुष्यका पुरुषाध होता है। धनकी अुत्पत्तिमें सारे समाजका सहयोग होता है। अिसलिअे सम्पत्तिके अूपर अमली जजिकार समस्त समाजका ही है।

सम्पत्ति पदा हात हा अुसके अुत्पादनमें जिन जिन लोगका महयाग है अुन सबमें याय्य प्रमाणमें बटवारा करना शक्य नहा है और आवश्यक भी नहा है। अिसलिअे जा भी सम्पत्ति पना होती है वह समाज हितके लिअे किमीक सुपुट रखनी चाहिये। अगर समाज अेक कुटुम्ब है तो बटवारेकी नौबत भी नही जानी चाहिय। अब सबकी सम्पत्ति किसके हाथमें सुपुद की जाय? मार समाजका प्रतिनिधित्व करनेकी योग्यता या ता सत्ताका है अथवा धमकी। जहा सत्ता धमक अधीन नही रहती वहा सत्ता समाजका प्रतिनिधित्व नही कर सकती। अिसलिअे सम्पत्ति सत्ताके सुपुद करनेमें सतरा है। समाजका प्रतिनिधित्व करनेकी योग्यता सवामें भी हानी है। ब्राह्मण सेवक तो है किन्तु अुनके लिअे विरक्तिका धर्म बनाया

शब्दग्रह [६-४४]

गन्धर्वह्य यानी वेद। वदका ग्रह्य कर्त्ते हा ह। जत नाग्ग्रह्य गब्द है वसा ही गन्धर्वह्य है। केवल वक्व अध्ययनसे जो गान्धर्व या बौद्धिक ज्ञान होता है वह है गन्धर्वह्य। यह विद्वत्ताना प् है। सिद्धि के लिये योगीको अिससे आग जाना जरूरी होना है।

शम [६-३, १०-४, ११-२४, १८-४२]

√शम = (जुपशम) शांत होना ठण्णा पडना। गम वा अथ है सवनमभ्यो निवृत्ति। दम और गममें भ् है। दम होना है वाह्य अिन्द्रियाका अुपशम और गम होता है अत करणका (आन्तरिक) जुपगम। गमके द्वारा मनमें गान्ति और सन्नाप रहत ह। (६-३ श्लोक देखिये।)

शरीरयात्रा [३-८]

√शु (हिसायाम) फटना तोडना मारना। √थि (सवायाम्)। जिसमें आत्मा रहती है अुम देह अथवा शरीर कहते ह। यात्रा √या (प्रापण) जाना पहुचना। चलनेका यात्रा कहते ह। शरीर यात्राका अथ हाता है शरीरका चरना जीवित रहना जीवन-यापन करना। अुस लोक-यात्रा भी कहत ह।

शरीर ग् या तो √गु स आया है अथवा √गि (सेवायाम्) ने आया है। शरीर नागवान है जिस अथमें ग् धातुकी व्युत्पत्ति ठीक लगती है। शरीर आमाका जाधय है अिस अथमें थि धातुकी व्युत्पत्ति अनुबूल है। शरीर नागवत है और अुसकी निभानेमें हिंसा करनी ही पडती है। यह भाव भी शरीर ग्में निहित है।

शरीरवाङ्मनोभि [१८-१५]

जब कभी पूरे दिलसे अेकाग्रतापूर्वक कौण्तल्ययुक्त काम किया जाता है तब कहते ह कि अिस काममें शरीर वाणी और मन तीनाका सहयाग था। कम करते समय हम अथमना नही थे चित्त गाठय नही किया अगचोरी नही की। आरामतत्त्व लोण ही

धमशाठ्य करते हं जसे कजूस लोग वित्तशाठ्य करते ह। [साहित्यिकाका रिवाज तीन तीन चीजें साथ लेनेका है।] जिसलिअे चंद लाग कहते ह कि शरीर वाणी और मनसे (शरीर-वाड-मनाभि) कोओ कहते ह, "मनसा वाचा कमणा", यहा पर कम शरीरके स्थान पर आया है। और लोग तनु मन प्राणसे कहते हैं यहा पर वाणीकी जगह 'प्राण' आया है। व्यावहारिक लोग धनको महत्व देंगे ही। अतुनका सहयोग तन, मन, धनसे होता है। अब तीनकी जगह चार गळ भी लाये जाते है "मनावाक्कायकमभि — मन वाणी शरार और अुसकी नियार्ये। सबका भाव अेक ही है। इसी सिलसिलेमें मन प्राणेद्वियक्रिया " भी देखिये।

जिसमें वाणीका महत्व सबसे अधिक माना गया है क्योकि मन मनका सकल्प और शरीरकी क्रिया दानाका वाणीमें सयाग हाता है। जो मनुष्य वचन तोडता है अुसका चारिश्र्य भी नष्ट होता है और सामाजिक प्रतिष्ठा भी टूट जाती है। मनुने कहा है कि जो वाणीका शाठ्य करता है वह मानो सब प्रकारकी चारी करता है (स सबस्तेयवृत् नर)।

शान्ति [२-६६, ७०, ७१, ४-३९, ५-१२, २९, ६-१५, ९-३१, १२-१२, १६-२, १८-५३, ६२]

√गम् (अुपशमे) शान्त होना, ठण्डा पडना। मारताय आपोंका चरम जीवनोद्देग त्रिविध शान्ति है जिसलिअे हरअेक धमकायके अन्तमें शान्तिकी तीन बार घोषणा की जाती है। आधिभौतिक आधिदविक, और आध्यात्मिक शान्तिके लिअे ही सब प्रयत्न होते हैं। स्वाथ अचान द्वप, सकुचिनता, अभिमान अीर्ष्या अित्यादि दोषोंके कारण मनुष्य-समाजमें अखण्ड वधमान कलह चलता है। जिसे दूर करना और शान्ति तथा सामजस्य स्थापित करना ही अध्यात्म मागका अुद्देग है। अुपर बताये हुअे दोष रजोगुणके कारण आते ह। जब मनुष्य अिन रजोगुणी दोषाको क्षीण करता है तभी अुसके मोहादि क्लेग नष्ट होते हैं। अैस जावमुक्त योगीको शान्तरजस् कहते हैं (६-२७)।

शाश्वत [१-४३, २-२०, १०-१२, १४-२७, १८-५६, ६२], शाश्वतधमगोप्ता [११-१८]

शाश्वत् = हमेशा सदैव सनातन (शाश्वच्छांति ९-३१)। जो चीज त्रिकालमें अक्षरूप रहती है उसे शाश्वत कहते हैं। शाश्वती समा अनन्त वर्षों तक। शाश्वत और सनातन एक ही हैं। साप और नेवलेमें जा स्वाभाविक झगडा रहता है उसे शाश्वतविष विरोध कहते हैं। अध्यात्म-भाग अथवा धम साधन जात्माके स्वभाव पर निर्भर होनसे उसे शाश्वत धम कहते हैं। उसका रक्षण भगवान स्वयं करते हैं अिसलिये बुद्ध शाश्वतधमगोप्ता कहने हैं (११-१८)। सच्चे सनातन धमकी रक्षा परमात्मासे ही हो सकती है यही बात १४-२७ में भी कही है। यदा भगवान स्वयं कहते हैं कि मैं ही शाश्वत धमकी अकारितिक मुखकी और जयय ब्रह्मकी प्रतिष्ठा हूँ।

प्रवृत्ति धम जैसे सनातन होते हैं वैसे कुलधम भी शाश्वत हाते हैं। ८-२३ से लेकर ८-२७ तक शुक्ल और कृष्ण दो भाग बताये हैं और बुद्ध भी शाश्वत यानी नित्य कहा है।

आहार निद्रा भय मथुनानि जवरदस्त प्रेरणाआका कभी बुच्छेद होनवा डर नहीं है। क्योंकि य सब प्रेरणाओं प्रवृत्तिगुप्त हैं। कुदरतकी जोरसे ही उनका सगोपन होता है। बुद्ध हम स्वभावरक्षी भी वह सकते हैं।

आत्मौपम्य विश्वात्मक्य सबभूतहितैरतत्त्व कामराग विजय त्याग बलिदान अनय पानोपासना आदि प्रेरणाओं धमका विषय हैं। आत्मपरायणतासे बुद्धें पोषण मिलता है। अिनकी रक्षा करनेका भार जड प्रवृत्ति पर नहा है। आत्मपरायणताके अूपर वह निर्भर हैं। अिसलिये जम शाश्वत धमकी रक्षाना भार स्वयं परमात्माने अप पर रखा है।

प्रवृत्तिका प्रलय या विलय हान पर भी आत्मतत्त्व अखड अल्पित और अपराजित ही रहता है। प्रवृत्ति और परमात्मा दोनोंमें से अधिक शाश्वतता दूडनी ही हां तो वह परमात्माकी ही है। अिसलिये शाश्वत धमकी सुरक्षा परमात्मा पर ही निर्भर है। वही शाश्वतधमगोप्ता है।

शास्त्रम् [१५-२०, १६-२३, २४, १७-१]

√गास् (अनुशिष्टी) सिखाना समझाना, नियमन करना सुधारना, सलाह देना, राज्य करना। अिसी परसे शासन, शास्ता, शासक आदि शब्द आये ह।

गास्त्र शब्दकी व्युत्पत्ति √शस् (स्तुतौ) परसे भी बताआ जाती है, जिसके अनुसार गास्त्र केवल वणनपर होता है—शासनात् शसनात् शास्त्रम् अिति अभिधीयते।

गास्त्रके दोना प्रयोजन ह। ज्ञान और अनुभवको तकशुद्ध रूपमें व्यवस्थित करवे रखना या पेश करना गास्त्रका काम है। अिस अयमें अिसका अंग्रेजी पर्याय Science है। शास्त्र का दूसरा प्रयोजन समाजका शासन और नियमन करके समाजको कायस्थम सन्तुष्ट और प्रगति शील बनानेका है। अिसका अंग्रेजी पर्याय होगा Code। Science और Code में जो बातें जाती हैं वे गास्त्रबद्ध करके ग्रथामें सुरक्षित रखी जाती ह। किन्तु ग्रथका ही Science या Code नहीं कहते ह। अनुभव और अधिकारके अनुसार दोना बदलते रहते ह। जब म कहता हू कि म अपना जाहार स्वाद या रुचिके अनुसार नहा लूंगा, म तो विज्ञानका अनुसरण करूंगा, तब मेरा मतलब यह नहीं कि म किसी पुराने ग्रथका अनुसरण करूंगा। आहारके बारेमें जो अद्यतन (up-to-date) अनुभव और आविष्कार हुअे हो और जो मेरे जीवन सिद्धान्तके अनुकूल हा, उनका ही मैं अनुसरण करूंगा। जिस तरह खाद्य पदार्थोंके बारेमें अनुभव और आविष्कार बढ़ जाते ह और आहारका विज्ञान बढ़ता है अुसी तरह मेरे जीवन सिद्धान्त भी अनुभव चिन्तन और आदश-शुद्धिसे सुधरते ह और व्यापक होते हैं। म सिद्धान्तका अनुसरण अवश्य करूंगा, किन्तु किसी ग्रथका या किसी व्यक्ति विशेषके वचनका सदाके लिये अनुसरण करनेके लिये बाध्य नहीं हू। जो विज्ञानके या जीवन सिद्धान्तके ग्रथ पुराने और कालग्रस्त हुअे ह उनका भी मैं कुछ हद तक अध्ययन करूंगा उनकी पुगनी मेवाके लिये उनके प्रति वृत्तता और आदर भी रखूंगा नये नये आविष्कार करते समय अिन पुराने ग्रथासे लाभ

भी झुठाभूगा, किन्तु वे ग्रथ मेरे जीवन नियामक नहा बनेंगे। मैं खुद
छोड़ दूंगा।

जिसका अर्थ यह नहीं कि मैं मनमानी करूंगा। पुरान विज्ञान
और जीवन सिद्धान्तोंका जिन नये सिद्धान्ताने स्थान लिया हागा
खुद समयकर जुनका ही अनुसरण करूंगा।

गीताने यही बात कही है। तस्मात् शास्त्रम् प्रमाणम् ते अित
वचनका मतलब किसी ग्रथसे नहीं है किन्तु आजकी परिस्थितिमें जा
सर्वोच्च और कारगर जीवनास्त्र हो खुसीको प्रमाण समयनकी
यहा नसीहत दी गयी है और कहा है ज्ञात्वा शास्त्रविधानोक्तम्
(नहीं कि श्रुत्वा ग्रथगतम् वाक्यम्) नम वनुम अिह अहसि।

गीतामें शास्त्र शब्दका अर्थ शास् धातु परसे ही किया है।
कायाकाय-व्यवस्थिति यानी क्या करना चाहिये और क्या नहीं करना
चाहिये जिसका नियमन करनेका ही शास्त्रका प्रयोजन है। जिसलिजे
जो कुछ शास्त्रमें विधि विधान बताया हो खुसीके अनुसार चलना
चाहिये। असी शास्त्रविधिको (१६-२३) छोडकर जो मनमाना आचरण
करते हैं खुद न सिद्धि मिलती है न सुख।

असे भी लोग होते ह जो शास्त्रविधिको नहीं जानते किन्तु
श्रद्धासे भगवानकी पूजा करते ह। उनके लिजे भगवान कहने ह कि
जो कुछ भी काय अवधिपूर्वक किया गया है खुसका सामाय नुकसान
तो हागा ही अगर वह काय श्रद्धासे किया गया है ता जसी श्रद्धा
हो वसा फल मिलेगा क्याकि श्रद्धा श्रद्धामें भी फल होता है। (विनाय
विवरणके लिजे अवधिपूर्वक शास्त्र देखिये।)

शुक्लकृष्णे गतो

शुक्लकृष्णत तथा कृष्णगति आदि दो मार्गोंकी कल्पना हमारी
संस्कृतिमें बहुत पुरानी है। गीताने अस अनक पुराने खयालोकका स्वीकार
करके उनको नया रूप दिया है और जो विचार अनावश्यक ह उनको
खारके साथ बाजू पर रख दिया है। कहा यकी वदिक कल्पना
और कहा गीतामें बताया हूजे तरह तरहके आध्यात्मिक यज्ञ। गीताने
श्रद्ध और निष्काम भुक्त्येय किया है मही लेकिन उनकी प्रतिष्ठा

बड़ाजी नहा। चार वर्णोंका अत्साहूण जिक्र भी गीतामें आया है, लेकिन गीताका मोक्षशास्त्र या समाजशास्त्र किसी अेक वर्णके लिअे नहीं है। गीताका अपदेग किमी व्यक्ति या वर्णक अधिकारके बाहरकी चाज है असा भी गीताने कही कहा नहा है। अिसी तरह गुक्लकृष्ण असी दो तरहकी गतिके वारेमें भी है। महाभारतमें पितामह भीष्म देवयानस स्वर्ग जानेके लिअे अुत्तरायणका प्रतीक्षा करत रहे असा प्रसंग लाकर भीष्मके मुहसे सारी भारतीय ससृत्तिका रहस्य और राजधम बतानेके लिअे भारतकारने अवसर प्राप्त किया है। असे प्रथमें आयी हुअी गीता गुक्लकृष्ण गतिका भेत् छोड नहा सकती थी। किन्तु असी अनेकानेक रूड मायनाअें रूडिवादी लोगके लिअे ही थी। मोक्षमागमें असे भेदाका कोअी प्रयोजन नहीं है। अिन दो मागोंके भिन्न भिन्न नाम अिन प्रकार ह

गुक्ल	कृष्ण
दिवस	रात्रि
गुड	वच
ज्योति (अग्नि, अर्चि)	धूम
देवयान	पितृयाण
अुत्तरायण	दक्षिणायन

गाधीजीने गीताकी वेदान्तकी दृष्टिके अनुसार अिन दो मागोंको ज्ञानमाग और अज्ञानमाग कहा है।

शुभाशुभपरित्यागी [१२-१७]

जब तक मनुष्य तीन गुणके अदर है तब तक अुमे सत्त्वगुणकी वृद्धिके लिअे कोशिश करनी चाहिये। अर्थात् अगुभ गुणाका त्याग करके गुभ गुणाका विकास हो जाय असी साधना करनी चाहिये। जीवनमें अगुभ वस्तुआका सम्पर्क दूर करके गुभ वस्तुआका सग्रह करना चाहिये।

अिस तरह जब सत्त्वगुण स्थिर हो जाता है तब और भी आगे जानेके लिअे, त्रिगुणातीत बननेका आत्स गीताने हमारे सामने रखा है।

बुस हालतमें हम अितन अनासक्त, नि सग और अलिप्त हो चुकने ह कि शुभ अगुम दोनाके प्रति अुनके फलके प्रति हमारा अुदासीन भाव ही रहता है। शुभागुमके प्रति अुदासीन बनना गुणातीतका भी लक्षण है (१४-२३ से २५ तक) और भक्तवा भी लक्षण है (९-२८) क्वाकि दोनोमें अनासक्ति और तितिसा पूण वडी हुअी रहती है।

शूद्रा [९-३२, १८-४१, ४४]

√शुच् (शोके)+√दृ (भये) अयवा √दृ (गती)। जो दु खसे भागता है हिम्मत हारता है वह शूद्र है। दु ख आते ही जो पिघल जाता है और आयता नही सभाल सकता वह शूद्र है असा अय किया जाता है। चातुवण्यमें पहले तीन वण तो सस्कार ग्रहण कर सकते ह। शूद्रमें सामध्य नही है असा देख या मानकर अुनके अूपर सस्कार सपन्न बननेका भार नहा रखा है। अुन पर सामाजिक जिम्मेवारी भी कम रहती है और अय वणोंकी मत्सर किय बिना सेवा करना ही अुनका धम बताया है। फलत असे गुनाह भी ह जो करनेसे शूद्रको अपराधी नही मानते ह अयवा थोडसे ही दडसे वह मुक्त हो सकता है। हालाकि स्मृतियामें चद अपराधाके लिअे औराकी अपेक्षा शूद्रके लिअे भयानक कठोर दड बताय ह।

(चातुवण्य और वश्यकम अिन दो शब्दाका विवेचन देखिये।)

शूद्र सस्कार ग्रहण करनेमें असमय है अुसमें कुशलता भी कम है। अिसलिअ अुसे केवल परिचर्याका काम (menial service) बताया है। किन्तु सवाका महान धम अुमे मिलनेके कारण अुसकी गक्ति बडती ही जाती है। गक्ति बडनसे सामाजिक अधिकार भी हायमें आ जाते ह। अिसलिअ जो शूद्र अनुभव-बृद्ध ह अुनके प्रति आर्र दिवानका कतव्य स्मृतियोन बताया है।

जिस समाजमें शूद्राकी सख्या अधिक है अुस समाजके नेता या तो बिल्कुल नालायक ह अयवा अयस्वार्थी ह। शूद्रबहुल समाजको रक्वा या पन्थापातस पीडित समथना चाहिय। ब्राह्मण अगर सब वणोंका गुरु है ता शूद्र वणका कायमी अस्तित्व ब्राह्मण वणकी अगमता और परामवकी निगाना है।

शोकसविग्नमानस [१-४७]

शोकके कारण सविग्न, व्याकुल हुआ है मन जिसका। सविग्न और अद्विग्न अेक ही है।

शाककी भावना अच्छी नहीं है। शरीर, मन और अुत्साह तीनों पर अुसका बुरा असर होता है। शाकके आवेगके समय पाचन गक्ति अेकदम विगड जाती है रुधिराभिसरण विगड जाता है स्मृति क्षीण होती है, प्रना भेघामें दोष आता है अुत्साह तो मर ही जाता है और यवहारमें अत्यन्त आवश्यक तारतम्य बुद्धि भी नष्ट हाती है। दुःखस शोक होता है और शाकसे रोग होते ह। अिस दुःखपूण दुनियामें बार बार शोक होना स्वाभाविक है किन्तु हितकर नहीं है। अिसलिअे तत्त्वज्ञानका अध्ययन करके साधना द्वारा आत्माका साप्तात्कार करके जीवन रहस्य समझना चाहिये। शोकसविग्नमानस जजुनको विपात्के कल्मषसे अुवारनेके लिअे ही गीता कही गयी है। अतमें अजुन विपादसे मुक्त होकर प्रसादयुक्त हो गया (१८-७३)।

शौचम् [१३-७, १६-३, ७, १७-१४, १८-४२],
शुचौ [६-११], शुचीनाम [६-४१], शुचि [१२-१६]

√ शुच् (पूतिभावे क्लेदे) गीला होना स्वच्छ होना, शुद्ध होना। पानीमें भिगोकर हम वस्तुआको धोते हैं स्वच्छ और पवित्र करते ह। अिसलिअे शुचिका अय होता है स्वच्छ और पवित्र। शौच दो प्रकारका होता है बाह्य और आन्तरिक। मिट्टी या पानी लगाकर बाह्य शौच सम्पन्न किया जाता है। तपस्या और ध्यानसे तथा कृच्छ चाद्रायण आदि व्रतसे आन्तरिक शुद्धि होती है। मनमें जब राग द्वेषादि मलिनता पदा हाती है तब अुसकी विपरीत भावना करनेस यानी दूसरी बाजू देखनेसे मनकी शुद्धि होनी है।

शौच अयवा स्वच्छता सब ससृष्टिकी बुनियाद है। गुरु अपने गिष्यके गिक्षण क्रममें शौचाचारसे ही प्रारभ कर। अुपनीय गुरु गिष्य गिक्षयेत शौचम आदित (मनु०)। प्राचीन कालमें हम आर्योंकी स्वच्छताके कारण प्रतिष्ठा बहुत थी। शौचे यत्न सदा वाय शौचमूलो

द्विज स्मृत । शौचाचार बिहीनस्य समस्ता निष्फला क्रिया (मनु०) ॥
 गीताने नानके लक्षणमें जीर दवी सपत्तिके लक्षणमें भी शौचको स्थान
 दिया है। ब्राह्मण वणके लक्षणमें तो वह है ही।

शौचम [१८-४३]

√शूर (हिंसास्तम्भनयो वित्रान्तो) प्रहार करना दुष्ट रहना
 असाधारण परिश्रम करना वीरवृत्ति अथवा बहादुरी दिखलाना।
 शूरस्य भाव शौचम। यह क्षत्रियाका गुण है। शौचगुण अनेक प्रकारका
 है। युद्धमें जान पर बाजी खलनवाला जैसे शूर कहलाता था अुसी तरह
 'द्यूत' में माल पर बाजी खलनवाला जुअबाज भा शूर कहलाता था।
 और अिसी कारण युद्ध अथवा द्यूतक आमत्रणको क्षत्रिय कभी अस्वी
 कार नहीं करते थ। द्यूतके दोष ध्यानमें आनके बाद द्यूतका निषय
 हुआ और रणशूरकी पवित्रमें दानशूर बिठाया गया। अपना सबस्व
 दान देकर किय जानवाले यज्ञका विश्वजित यज्ञका नाम दिया गया।
 अयायकारी व्यक्तिके विरुद्ध जो चरित्रवान मनुष्य निर्वैर और निभय
 होकर लडा होता है और जान माल दोनाको 'योछावर करता है
 अुस आत्मवीर जीर चारिश्य शूर कहना चाहिये। अुसीका नया नाम
 है सत्याग्रही।

जिस समाजने अनुभवमूलक यह बहावत चलाओ — शतेषु जायते
 शूर सहस्रेषु च पडित। क्वना दासहस्रेषु दाता भवति वा न वा ॥

— अुस कृपण समाजकी स्थिति कसी होगी? शूरोंमें शूरतम दानशूर ॥
 हमारी ससृष्टिके गुरुने शूर और कूरका भन् बताया है। मारनेमें
 शौच है मरनके लिजे तयार हानमें शौच है। शौचको छोडकर शौच
 बानवाला सत्याग्रही होता है।

श्रद्धा [६-३७, ७-२१ २२ ९-२३, १२-२,
 १७-१, २ ३ १७], श्रद्धधाना [१२-२०] श्रद्धामय
 [१७-३]

√श्रद्धा-विश्वास रखना मानना। श्रव (=सत्य) + √धा
 (धारण-शोषणया दान च)

किसीके ऊपर या किसी तत्त्वके ऊपर जब हमारा विश्वास बढता है तब उस विश्वासको श्रद्धा कहते ह । जहा सबूत मिलना मुश्किल है अथवा सबूत ढूढनेकी अिच्छी भी नही होती उसे विश्वासका श्रद्धा कहते ह ।

अथवा जहा नियम न होनेके कारण दो पक्षाकी सभावना रहती है वहा पर दोमें से अेक पक्ष ही सही होगा असी जो मनकी धारणा रहती है वह भी श्रद्धा है । श्रद्धाकी बुनियादमें अेक ओर openness of mind होता है और दूसरी ओर शुभाशसा होनी है । जहा शकाके लिअे स्थान है वहा पर भलाअीकी अपेक्षा करनेकी जो वृत्ति हाती है उसे शुभाशसा कहते ह । जब तक किसीके विरुद्ध कोअी दोष सिद्ध नही हाना तब तक वह निर्दोष है असा समझकर चलनेकी वृत्ति श्रद्धामूलक ही है । अीश्वर है, वह कल्याणकारी है । अीश्वरकी करुणाकारिता ही अिस विश्वके व्यापारकी बुनियादमें है । भलेका फल भला ही होगा । सत्य, प्रेम स्वाय-स्याग, बलिदान अिनके आचरणस ही जावन बृताय होगा । अेककी भलाअीका कुछ न कुछ असर — अच्छा असर दूसरो पर यथासमय होगा ही । ये सत्र श्रद्धाके विषय ह । नतिक जीवन, सदाचार आध्यात्मिक साधना सेवामय जीवन अित्यादि मानवी प्रवृत्ति अिस श्रद्धाके कारण ही चलती है ।

जाज तक मनुष्य जातिने — व्यक्तिने और समुदायने — जो कुछ भी असाधारण लोकोत्तर पुरुषाय किया है वह सब श्रद्धाके बल पर ही किया है । श्रद्धा अेक अल्भुन आध्यात्मिक शक्ति है । मनुष्यके चारित्र्यकी वह अन्तिम पूजी है । श्रद्धाके बिना मनुष्य अर्हिमा-परायण नही बन सकता श्रद्धाके बिना अुत्कट प्रेम भी असम्भव है । श्रद्धामयोअ्य पुरुष यो यच्छद्ध स अेव स ।

श्री [१०-३४, १८-७८], श्रीमत् [१०-४१],
श्रीमताम [६-४१]

√श्रि (सवायाम्) आश्रय करना आश्रय लेना ।

√श्री (पाके) पकाना, अुबालना । श्री शब्दके अनेक अर्थ होते ह । कच्चेको पक्का करनेम अुसमें शोभा आती है अुसकी सेवा देनेकी

अच्छा होती है, भुगने आपसने जान हाता है। अग्नि-मे श्रीर अप
ह सोभा, वाति लावण्य, गम्पति वैभव कान्ता रात्रम्ब प्रतिगा
रुदमी, सौम्य गम्पति सिगी गुणा भुगय गाम्प्य धम यव
गामका समुगाय। अग्नि परम अिनमें ग सिगी अर गुग या विनूतिम
जो युक्त है भुग श्रीमत् कहे ह।

भगवानन कहा है कि जहां कहीं भी श्रीरा प्रादुर्भाव हो वह
मेरी ही विमूर्ति है (१०-४१)।

श्रुतिपरायणा [१३-२५]

√श्रु (अवण) गुनना कहा करना। अग्नि परने नीचेने मन्
आय ह—श्रीर (वान) थाता श्रुति धानिय थीन। श्रुतिता अप
है गुना हुआ। यागावस्थामें अथवा ध्यानमें बडे हुन अग्निमान भगवानर
जो वचन गुन बुह श्रुति कहत ह। अिस श्रुतिमें मय तरट्टका गान
पाया तथा जाना जाता है। अिगलिअ अिग वे कहे ह। अग्निपाता
कहता है कि वे कहे मत्र सनातन ह दयता-स्वरूप ह। अग्निपाता
अुनक अुच्चारणस मत्र-वेवना सन्तु हाने ह। ध्यान ही में अग्निपाता
अिन मत्राका दान हुआ। अिगी कारण अग्निपाता मत्र-दत्ता कहते
ह। वदने मत्र विमी अग्निने या पुरय विगपने बनाय हुआ नहीं है
अिसलिअे वे-विद्याको अपौरुषय कहते ह (९-२१)। [अपवव
वादमें सप्रहीत किया गया। तबसे वे चार माने जात हैं।]

श्रुतिके धा अग्निमान जो परम्परागत बातें अपन स्मरणसे
लिख डाली जुहे स्मृति कहते ह। धमसूत्रोंमें जो वेदसे सम्बन्ध रखते
ह बुह श्रुतिसूत्र कहते ह।

श्रुतिमें यजयागादि कर्मोंका भी विधान है आत्मा परमात्मा
आत्तिके बारेमें ज्ञान भी है अीश्वरकी अुपासनाके मत्र भी ह। अिनमें
से जाध्यात्मिक गान विषयक जो भाग है अुसे ज्ञानवाड कहते ह। अुसका
विवेचन और विस्तार अुपनिषदामें हुआ है। वेदके अन्तमें य अुपनिषद्
आते ह और वेदविद्याके अन्तिम सिद्धान्त अुनमें पाय जाते ह।
अिसलिअ अुपनिषत्के विषयको वेदात कहते ह। गीतामें भगवान कहते

ह कि मैं ही वेदान्तकृत् हूँ (१५-१५)। वेदमें जो शेष कर्मोंका कम बाण्ड रहा उसे त्रयीधर्म (९-२१) अथवा केवल श्रुति कहते हैं। अिस त्रयीविद्या और कमबाण्डमें ही जो फसे हुअे ह अुह गीतामें 'बन्वादरता' (२-४२) कहा है। जो लोग वेदमें बताआ हुआ बातें और भिन्न भिन्न आचार्योंके अभिप्राय केवल सुनत रहने हैं, सुननेसे और माननेसे सब कुछ हो जायगा असा समझकर स्वयं सोचते नहीं, अपनी विवेक-बुद्धिसे काम नहीं लेते, असे केवल परोपदेशका ही प्रमाण माननेवाले लोगोंको श्रुति-परायण कहा है। श्रुति ही (श्रवणम्) परम् अपनम् (गमनम्) माशमाग प्रवृत्तौ परम साधनम् येषाम् ते श्रुति परायणा। असे अधश्रद्धालु लोग भी मृत्युसे आरमनाशस बच जाते हैं।

श्रुतिविप्रतिपन्ना [२-५३]

किंतु असे श्रुति-परायण लोग जब अनेक लोगोंके पासमें परस्पर विरोधी भिन्न भिन्न बातें सुनते ह तब अुनकी बुद्धि विक्षिप्त हो जाती है। वे असमजसमें पडते ह। असोकी बुद्धिको गीताने श्रुति विप्रतिपन्ना (विक्षिप्ता) बुद्धि कहा है। जब यह विक्षेप दूर होगा तब ही मनुष्य योगको प्राप्त कर सकेगा और अुमकी प्रज्ञा स्थिर हागी।

श्रेय [१-३१, २-७, ५, ३१, ३-२, ११, ३५, ५-१, १२-१२, १६-२२], श्रेयान [३-३५, ४-३३, १८-४७], श्रेष्ठ [३-२१]

√श्री (पाके) पकाना, अुबालना। √श्री (सेवायाम्) आश्रय लेना।

प्रेम और श्रेयकी जाडी है। जो केवल सुखकर है अिद्रियाके लिअे आकषक है अुस प्रेम कहत ह। जो हितकर है कल्याणकारी है, अिहलाक और परलोक दोनोंमें अुन्नतिकर है अुसे श्रेय कहते हैं। प्राकृत मनुष्य श्रेयको ही पसन्द करता है, बुद्धिमान, धीर पुरुष श्रेयका। षठोपनिषद्में यमराज कहते ह

अयत श्रेय, अयत अुत अेव प्रेय,
ते अुभे नानार्ये पुरुष सिनीत।

तयो श्रय आवदानस्य साधु भवति,
 हीयते अर्थात् यं अु प्रयो वणीते ।
 श्रेयश्च प्रेयश्च मनुष्यम अेत,
 तो सम्परीत्य विविनक्ति धीर ।
 श्रेयो हि धीरो जभि प्रयतो वणीते,
 प्रयो मदो योगक्षमात् वणीते ॥

अहिक सुखोपभोग और योग-क्षेम सब प्रयमें गुमार किया गया है। तब श्रय हम किसे वहे? श्रय वही है जो आत्माकी अुन्नति करता है। आत्माको गिरने नहीं देता। श्रेय वही है जिससे हम दूसरेके भलेको अपना भला समझते ह। अिन्द्रिय-जयके बिना काम श्रोध लोभके नाशके बिना यह नहीं हो सकता। वेदान्तकी परिभाषामें व्ह तो ब्यक्तित्वके नाशके बिना मनको मार बिना, श्रेयकी प्राप्ति नहीं होती है।

श्वपाक [५-१८]

श्वन् + √पच् (पाके) पकाना हजम करना।
 श्वन कुत्तको व्हते ह। जुसे पकाकर जो खाता है वह चाण्डाल,

'श्वपाक' है।

सक्त [३-३५, ५-१२, १८-२२]

√सञ्ज (सधे) चिपटना आलिंगन करना।
 सक्त = लिपटा हुआ फसा हुआ आसक्त। किसी भी चीजको

जब हम लेते ह तब स्वेच्छासे लेते ह किन्तु जब चाहते ह तब अुसे आसानीस छोड नहा सकते। वह चीज हमसे चिपट जाती है और हमारा दिल भी अुसस चिपट जाता है। यही सबसे बडा वधन है। अिमे आसक्ति भी व्हते ह। आसक्तिसे जो मुक्त होता है अुसे अमन्त (३-७ १९ २५ ५-२१ ९-९ १३-९ १४ १८-४९) अयवा अनासन्त व्हते हैं।

सग [२-४७ ४८ ६२, ५-१० ११, १८-६, ९]

सग + √गम् (गती) साय जाना मिलना साय हाना। सगका अय आसक्ति भी है। गीतामें सग गत् फराने सगके अयमें आता

है जिसका त्याग गीताने अत्यावश्यक बताया है। कर्मोंका कतख और आसक्ति भी छाड़नी चाहिये। और अन्के फलका खयाल भी छोड़ना चाहिये। विषयाका केवल ध्यान करनेसे ही अन्के प्रति सग यानी आसक्ति पदा होनी है। फिर अस्में से काम क्राध माह, आदि सब अनय-मरम्परा पदा होनी है। असलिये नि सग बनना चाहिये।

सगरहितम् [१८-२३], सगवर्जित [११-५५], सग-
विर्जित [१२-१८]

जिसने सग छाड़ दिया है, प्रयत्नपूर्वक दूर किया है असे सग वर्जित अथवा मुक्तसग कहते हैं और अन्के कर्मका भी सगरहित कहा है।

सग अथवा आसक्ति अनेक प्रकारकी होनी है। सुखाभिलाषी मनुष्यमें सुखसग रहता है (१४-६); जानार्योंमें जानसग आ सकता है। कर्मके आग्रही अथवा कर्मसगी (३-२६ १४-१५) लोगका कर्मसग (१४-७) अथवा तृष्णासग (१४-७) बाधता है। जब तक मनुष्य गुणातीत नहीं होना तब तक अस्में गुणसग (१३-२१) रहता ही है। सगदोषको जीतना (१५-५) ही सबसे बड़ा पुरुषाय है। अस्के पानेके लिये अमगशस्त्र (१५-३) हायमें लेकर अश्वत्यका छेदना चाहिये।

सचेता [११-५१]

चेतस्=चित्त मन। जिनका चित्त प्रसन्न है असे सचेता कहते हैं क्योंकि अस्का मन ठिकाने पर रहता है।

जब मनुष्य धवरा जाता है आश्चयचकित होता है अथवा आपसे बाहर हो जाता है तब गान्तिसे सोचनेकी अस्की शक्ति मारी जाती है, मानो अस्का मन ही गुम हो जाता है। असेको अयमना अथवा अचेता कहते हैं। अस्की मात्रा बढ जाने पर असे निचेतम भी कहते हैं।

जब मन परसे दबाव दूर हो जाता है और मनुष्य होशमें आता है तब यह कहता है कि मरा गुम हुआ मन मुझे मिल गया है मैं

समल गया हूँ, म सबूत (११-५१) हुआ हूँ मेरी स्वाभाविक स्थिति मुझे मिल गयी है (प्रकृति गतोऽस्मि) म सचेता हुआ हूँ।
 अपहृतचेतावे (२-४४) विरुद्ध है सचेता। अपहृतचेताके लिये ही अजुनने अपहृत-स्वभाव (२-७) और अपहृतचेतस (१-३८) शब्दका प्रयोग किया है।

सततम् [३-१९, ६-१० अि०]

√तन् (विस्तारे) तानना, खींचना पलाना।
 धारावाहिक समयको सततम् कहते ह। सततम्का अर्थ है हमेशा लगातार अरुण्ड निरन्तर।

सत [९-१९ ११-३७, १३-१२ १७-२३ २६, २७]

सतका अर्थ है वह तत्त्व जिसकी हस्ती हमेशा रहती है। जसा तत्त्व तो परमात्मा ही है। गीताने ही जिस शब्दके अन्क अर्थ नेक श्लोकमें दिये ह

सवभावे साधुभावे च सत अिति अतत प्रयुज्यते
 प्रगस्ते कमणि तथा सत शब्द पाय पुज्यते। (१७-२६)

सन् शब्दकी योजना सम्भाव, साधुभाव और प्रगस्त कमके लिये होती है—The real (true) the good and the auspicious in action (१७-२६)।

सत्कार [१७-१८]

सन् + √कृ। कितोंक चारित्र्यकी वातरिक भलाओका स्वीकार करना अनुमोहन करना सत्कार है। यह मनुष्य सच्चा है साधु है त्रिवासापात्र है यातिष्यक लायक है अिम तरह अुसकी भलाओका स्वीकार करनेके लिये हम जो कुछ करते ह वह सत्कार है।

सत्यम् [१०-४ १६-२, ७ १७-१५, १८-६५]

जसा दत्ता अयना मुना गया है वसा हा (अुस अनुभवमें यत्कि चिन् फक किय बिना) दूसरकी बढिमें पटुवानके लिये कहे जानवाले बचनका सत्य कहत हैं। सत्यमें चित्तगाठप और अपलाप नहीं हाना

चाहिये। सत्य એવ જસી વ્યાપક चीज है कि अुसमें करीब करीब वाकीक सब सदगुण आ जाते हैं। महाभारतने सत्यके तेरह आकार बयवा पहलू बताये हैं

सत्य च समता च व दमश्च न सगम ।

अमात्सय क्षमा च व ह्रीस तितित्पाञ्जसूयता ॥

त्यागो ध्यान अय आयत्वम् धृतिश्च सतत स्थिरा ।

अहिंसा च व राजेद्र ! सत्याकारास त्रयोदश ॥

(शांतिपर्व, १५६-८, ९)

महाभारतमें ही सत्यकी व्याख्या की है

यत भूतहितम अत्यन्तम् तत सत्यम अिति न धृतम ।

जो अपवादरहित सब भूतके लिअे आत्यंतिक हितकारी हो वही सत्य है। अिसे बुलटा करके भी हम कह सकते ह कि सचमुच जो पूणतया सत्य है अुससे सब भूतका कल्याण ही हागा। Right wrongs no man

सत्त्वम् [१०-३६, ४१, १३-२६, १४-५, ६, ९, १०, ११, १४, १८, १६-१, १७-१, ३, १८-१०, ४०]

सत्त्वके अनेक अय ह — सत्त्व = वस्तु (१०-४१ १३-२६, १८-४०), सत्त्व = चारिश्च (१०-३६, १६-१) सत्त्व = सत्त्वगुण, सत्त्व = अन्तःकरणका स्वभाव प्रकृति (१७-३) ।

यह सत्त्व मनुष्यको कल्याणकारी स्थिरता देनेवाला सदगुण है। गीतामें अिसका विस्तारसे वणन आया है, खास करके चौन्हवें, सत्रहवें तथा अठारहवें अध्यायमें तहा गुण-संस्थानमें त्रिगुण-व्यवस्था समयाओ है।

सत्त्वसशुद्धि [१६-१]

गीताने सत्त्वतिके दो प्रकार बताये ह दैवी और आसुरी (१६-६)। अिनमें दैवी सपत्ति सग या सत्त्वतिके २६ गुण बताये हैं। दैव और आसुर दोनाके लक्षण बनाने हूअे नजरके सामने केवल

व्यक्तियोंका स्वभाव नहीं रखा है। आसुरी सम्पत्त्वा वणन करते हुए सब जगह अनेक वचनका ही 'यवहार किया है। जिससे स्पष्ट होता है कि सोलहवें अध्यायमें केवल व्यक्तिगत आदर्श ही नहीं किन्तु समाजगत अथवा राष्ट्रगत संस्कृतिका ही विचार किया है।

अब इसी सामाजिक दृष्टिसे दवी मपत्तिके छब्बीस गुणाका विचार करना है। अिनमेंसे हम अभयके दोना प्रकारका विचार कर चुक ह कि मनुष्य न किसीसे डरे न किसीको डराय स्वय निभय हा जाय और औरोको भी अभय-दान दे। अभय-वाद आती है सत्त्व सशुद्धि। इसका सीधा अय है अन्त-करणकी शुद्धि निमलता निर्व्याजिता।

हम जानते ह कि मनुष्यका जीवन बुद्धि और हृदयसे नियंत्रित रहता है। अिनमें हृदय है प्ररक मोटर और बुद्धि है नियंत्रक चक्र steering wheel। अब जिन दोनामें से किसका महत्त्व अधिक माना जाय ? अुत्तर देना कठिन है। तो भी मानवी जीवनका रहस्य समझन वालान कहा है कि हृदय ही जीवनका सार-सबत्त्व है।

मोटरकी शक्ति जसी अधी होती है वसा हृदय अधा नहीं होता। लकिन अगर हृदय गुद नहीं रहा तो बुद्धि देखते देखत ध्रुण हो जाती है। मनाब्यापारको अच्छी तरहसे जाननवाले अपनिपदकार अपियान यहा तक कहा है कि सत्यको समझनका साधन बुद्धि नहीं किन्तु अन्त-करण है — हृदयेन हि सत्यम जानाति।

जिसीलिअ व्यक्ति हो या समाज हो हृदय-शुद्धि प्रधान वस्तु है। व्यक्तिके लिअे अगर हृदय गुद हो तो जावन सरत और तिरागी रहता है और दूनराके साथ सम्बन्ध भी स्वच्छ ढगका रखा जाता है। समाजकी हृदय-शुद्धि अितनी आमान वस्तु नहीं है। अन्व व्यक्ति मिलकर ही समाज बनता है यह बात सहा है। अधिकांश व्यक्ति और साम करव प्रभावशाली व्यक्ति अगर चारित्र्यशील हा ता समाजका चारित्र्य निमल रहगा अिममें कोअी गवा नहीं। किन्तु समाजका हृदय साम ध्यक्त हाता है अुमक आगोंमें सामाजिक रस्म रिवाजा और मस्याआमें। अगर वहा पर कपट दम प्रतारणाने प्रवेग किया

तो समाजका बचन टूट जाता है, सहयोगकी शक्ति नष्ट होती है और व्यक्तियोंका अपना चारित्र्य सभालना कठिन हो जाता है।

समाजकी शक्ति असली सगठन शक्ति है। यह सगठन परस्पर विश्वासके बिना निभ नहीं सकता। जितने लोग आपसमें मानते हैं कि युतमें से हरबेकका हित और कल्याण हर दूसरेके हाथमें सुरक्षित है अतः लागेका ही एक समाज बनता है। यह परस्पर विश्वास ही सगठनकी बुनियाद है। अगर अकेले भी हृदयकी शुद्धि बिगड गयी तो कुछ हद तक सामाजिक सगठन बिगड ही जाता है। अगर समाजके धर्म भी प्रधान लोगोंमें किसी भी कारण अन्तःकरणकी शुद्धि टूट गयी और स्वायत्त, अर्थात् मत्सर, द्वेष, भय, सगाय या असूया जाग उठी, तो ब्रह्मा विष्णु-महेश भी उस समाजका रक्षण नहीं कर सकते।

असलिये भगवानने दशो सम्पत्तिमें निभयताके साथ सत्त्व-सगुद्धि का तुरन्त पुरस्कार किया है।

सत्त्वानुरूप [१७-३]

मनुष्यमें जो आत्मिक सामर्थ्य है वह उसकी श्रद्धा पर निर्भर है। श्रद्धाका प्रकार और उसकी मात्रा अच्छी हो तो वह सब कुछ साधन हासिल करके सिद्धि प्राप्त कर सकता है। असलिये गीता कहती है कि मनुष्य श्रद्धामय ही है। मनुष्यकी Personality शक्तित्वकी अूचायी और गहरायी उसकी श्रद्धाके जितनी ही होती है। जिसकी जसी श्रद्धा वैसा ही वह बनता है।

जितने महत्त्वकी यह श्रद्धा मनुष्य कैसे प्राप्त कर सकता है? गीता कहती है कि मनुष्यके भिन्न भिन्न सत्कारासे जसी उसकी अन्तःकरण शक्ति हो वसी ही उसकी श्रद्धा होती है। अिस अन्तःकरण शक्तिका सत्त्व कहते हैं। सत्त्व मनुष्यका essence सार है। अखण्ड जागृति और अखण्ड साधनासे ही अिस सत्त्वकी पूजोका संग्रह हो सकता है। अिस अेक श्लोकमें (१७-३) गीताने साधनाका निचोड दे दिया है।

हरअेक व्यक्तिका सत्त्व अलग अलग होता है। जिसका जो चायनोद्गम हो, आदग हो, उसी प्रकार उसका सत्त्व होता है। मनुष्य

सब कुछ खाय लेकिन अपना सत्व न राख। त्रिगो वैश्यवा दिवाला निरलता तो वह आत्महत्या करता था। लकिन शत्रियरा दिवाला निरला तो उसे खुसकी राम भी नही लगती। वह बड़ेगा कि लडनेमें अगर न भीरु साबिन हुआ तो मेरा सत्व गया। दिवाला निरला ता क्या हुआ वह मेरे सत्वकी बात नही है। ब्राह्मण अगर तपोभ्रष्ट हुआ, उसने पानद्राह किया तो जुमका सत्व गया। लडनेमें अगर खुमने अिनकार किया तो खुमका सत्व नहा जाता है। हरअकया सत्व खुमका प्राण है प्राणसे भी बड़कर है।

मनुष्यमात्रके लिये सामान्य असा जो कुछ सत्व हाना है असकी मगुद्धि सबसे पहले करनी चाहिये।

सनातन [१-४०, २-२४, ४-३१, ७-१०, ८-२०, ११-१८ १५-७]

सदा अथवा सना = हमगा। जिस परसे जो हमेगा है, अगण है खुस सनातन कहत हैं। तदानामृतन = खुस समयका। अद्यतन = आजका। ह्यस्तन = गत कलका। श्वस्तन = आगामा कलका। पुरानन = गये जमानेका। इसी तरहसे सनातन शब्द बना है। खुसे सदातन भा कहत ह। हिन्दुस्तानमें ब्रदिक परम्परासे जो धम निकले ह खुह मनातन धम कहत ह। अिनमें बौद्ध धम, जन धम भी आ जाने ह। बष्णव धम शक्त धम तय याग अुपासना, प्राथना-भमाज श्राह्य ममज अित्यादि सब अिस सनातन धमकी ही शाखायें ह।

यह धम किमा अब धमस या अेक धम प्रचनकसे बद्ध नही है। यह गगाके जसा बहता जीवन धम है। अनक खोद अिसमें मिलते आये ह और अिसमें स जनेक शाखाय फूटकर स्वतन रूपमें बहकर फिरसे अिमामें आबर मिली ह। अिसलिये अब यह सागरके समान विगात्र हो गया है। अब असे पुरानी मर्यादायें तोडते जाना चाहिय।

गीताने कुलधमको सनातन अिसलिये कहा है कि कुल ही प्रवृत्ति निमित्त सनातन मस्था है (कुलधम ' गल्ल देख लेना चाहिय)।

आमा मनातन है क्याकि जुमका न नाग है और न परिवतन। सनातनको ही ' विरन्तन कहते ह। आत्मा गल्लका धात्वध ही सनातनके

अथवा सान्त्वना है। ब्रह्म ही जिस विश्वका सनातन बीज होनेमें जिस विश्वका भी कभी नाश नहीं हानेवाला है। महाप्रलयक बाद भी नया सृष्टि पदा हाती है, क्योंकि अमरता असली मात्र सनातन ही है।

समचित्तत्वम् [१३-९], समबुद्धि [६-९, १२-४],
समदुःखमुक्त [२-१५, १२-१३, १४-२४], समदर्शो
[५-१८, ६-२९]

जा मनुष्य सुख-दुःखमें समान रहता है, भले-खुरेके प्रति जो अकेला तटस्थ या अल्पित वृत्ति या बुद्धि रखता है असीका समदर्शी कहते हैं। वही भक्त है, वही योगी है। असीका मन कभी विचारी नहीं होता। अस समत्वको हा गीताने योग कहा है (२-४८)। असा समत्व आने पर हायमें मिट्टीका डेला आ जाय, पर्यर आ जाय, या सोना आ जाय, ता भी असा व्यक्तिकी वृत्ति अकेली रहेगी। वह जो सबत्र समवस्थित (१३-२८) श्रीस्वर मात्र ही देखता रहेगा।

समत्वम् [२-४८], समता [१०-५], समचित्तत्वम् [१३-९], समदर्शन [६-२९], समदर्शन [५-१८], सम-दुःखमुक्त [२-१५, १२-१३, १४-२४]

सम = स + म। √मा (माने) नापना। जिस पर से अके ही नाप है जिसका अनेक सम कहते हैं। सम यानी वह सम्बन्ध जिसमें दो वानाका अकनाय नाप पाया जाता है।

मनुष्यके मन पर सुख-दुःखका प्रभाव अवश्य पढता है। जिसलिअे कभी वह फूट जाता है कभी मुरझा जाता है। असा हाना स्वाभाविक ता है किन्तु जिसमें मनुष्यकी प्रीतिता या प्रतिष्ठा नहीं है। दुःखमें अभिभूत हाना अथवा सुखके कारण आपमें बाहर हो जाना दोना अनेकाना न्दा न्न। अजिना ही नहीं किन्तु असीकी बुद्धि-शक्तिको अष्ट भी करते हैं। जिसलिअे असा मनुष्य-जीवनमें सम-वना महत्त्व बताया है। वेगव बाह्य जीवनमें और भौतिक दुनियामें समत्वकी स्थापना करना अकय है। किन्तु हृदयमें और मानकी सम्बन्धमें समत्व लाना अकय है और

जरूरी भी है। एक मनुष्य विद्वान् होगा, दूसरा नहीं होगा, तो नीदानका अेकता वाट (Vote) रहता है। यायासनके सामने अमार और गरीबका भेद नहीं रहता। वद्य बीमाराका सेवा करते समय पापी और पुण्यवातीका भेद नहीं करता। मत्पुरुष समाज-मेवामें अपना और पराया असा भेद नहीं करते। माता अपने बच्चामें बडे-छाटेका भेद नहीं करती। य सब समत्वके अुदाहरण ह। जिमी तरह मनुष्यको चाहिये कि सुख और दुखके बारेमें वह समान वृत्ति रखे। जिष्ट या अजिष्ट प्राप्त होने पर मनकी समता सा न बैठे। दानु और मित्रके प्रति अकसी सज्जनता और 'यायवृत्ति' रखे। जिसीके साथ पेश आने भलेके प्रति भला और बुरेके प्रति बुरा' असा न्याय न रखे। अध्यात्म-वृत्तिका विकास करके मिट्टाका बला पथर और सोना सबके प्रति अेकता अुदासीन रह। विद्या विनय-नम्रपत्र कोअी ब्राह्मण हो गायके समान अुपयोगी जानवर हो, हाथीके समान बलवान प्राणी हा कुत्तक समान सुच्छ पशु हो या कुत्तेका पनाकर खानेवाला कोअी चाडाल हा योगी पण्डितकी नजर सबक प्रति अेकसी रहेगी (५-१८)।

समदर्शी [५-१८] समदर्शन [६-२९]

सम + √दृग् (दृग्ने)। सत्र स्थितिमें सबक बारेमें जिसकी दृष्टि अेकसी रहती है अुस समदर्शन कहत ह। जब तक वस्तुमात्रमें और प्राणामात्रमें आत्म-दृष्टि या ब्रह्म-दृष्टि पदा नहीं होती तब तक यह समदर्शना पूरतौरसे आ नहीं सकती। भौतिक दृष्टि भेदकी देखेगी ही और जब तक भेदको महत्व दिया जाता है तब तक साम्ययोग सिद्ध नहा होगा। फिर साम्यवादीकी ता बात ही क्या करें?

समदर्शनामें सबक प्रति हृदयका भाव अेकता रहता है। प्रत्यक्ष ध्वषहारमें समदर्शना समान्ते हूअे पर तो करना ही पडता है। जमे कि मनुष्य बडाही प्रणाम लिखेगा छाटाका आगीर्वाद।

समदर्शन का समझाने अेक नाम्नीने कहा था— पण्डिता समदर्शन न तु समदर्शन। मनुष्यकी कमीकी अुसक वतनसे ही होती है अिमलिअे गात्की मर्यादक सूत्रका दुरुपयोग करके कोअी पथपानी,

मनुष्यी आदमी ममदाशिताका बहाना नहीं कर सकता। बतनमें भी समर्पिता तो सिद्ध हानी ही चाहिये।

समबुद्धि [६-९, १२-४]

सम + √बुध (बाधने) जानना, पहचानना आदर करना।

गातामें साम्ययागका अपदेश है। अुसकी सिद्धिके लिये साम्यबुद्धि आवश्यक है। स्वजनाका ही हम हित कर, परजनाका अथवा दुजनाका अहित करें, असा भेदभाव जिसमें नहीं है वह समबुद्धि है। मित्र, धनु, साधु, पापी अत्यादि सबके प्रति जिनकी अेकसी कल्याण-बुद्धि है और जो सब भूतके हितमें रत रहते हैं, अैसे समबुद्धि ही यागी हो सकत हैं और अीश्वरको पात है।

समलोष्टाश्मकाचन [६-८, १४-२४]

√लोष्ट (सघाते) डेर बनाना। अिस परसे मिट्टीके डेलेका लोष्ट कहत हैं। अमनू कहत हैं पत्थरको। यह गन्ध या ता √अन् (व्याप्तौ सघात च) जगह ध्यापना, पिड बनाना, परमे आया हागा अथवा √अस् (गमने) पेंचना परसे आया हागा। काचन कहत हैं सुवणका। यह शाय √कन् (दीप्ति-कान्ति-गतिषु) परमे आया होगा।

मिट्टीका डेला हा, सस्त पत्थर हा अथवा कीमती और कान्तिमान खाना हा, तीनाके प्रति जो मनुष्य समान भाव रखता है अुसे समला ध्यानकाचन कहत हैं। अिसका अर्थ यह नहीं है कि बाजारमें वह जिन खानाका अेष हा भावसे बेवेगा या खरीदगा। किन्तु अुमका मन तैनाके प्रति समान भावमें अेकमा अनासक्त रहेगा। अल्पितवर्तिके साम्यशाका यह लक्षण है।

समम [५-१९, ६-१३, ३०, १३-२७, २८], सम [२-४८, ४-२२, ९-२९, १२-१८, १८-५४]

गातने ब्रह्मका वषण करने हूअे कहा है — 'निर्दोषम् हि समम् ब्रह्म' — ब्रह्म दोषरहित है और सबत्र सम है। अिसलिये समनामें ही पवित्रता और भुक्ति पायी जाती है। अिसके मनमें साम्यावम्या आ

गरी खुसने अपन जन्मकी सफलता पायी। दुनियामें भले-बुरे सब प्रकारके लोग हाते ह। वे सब कसे भी हो लेविन अपने आपको तो चाहते ही ह। अिसलिअ सज्जन पुरुष साधु और पापी दोनाकी ओर अक्सा आत्मीय भाव रखते ह। वे जानते ह कि जीवनकी अनुभूतिवे लिअे मुख और दुख दोनाकी अक्सी आवश्यकता है अिसलिअ वे मुख-दुख दोनाको समान भावसे देखते हैं। प्राणियामें कसी भी भिन्नता हो अुनमें परमेश्वर तो अेक्सा रहा हुआ है। अिस वास्ते सबको व अपना ही रूप समझते ह। फलत अुनके अन्दर हितावा भाव प्रगट ही नहीं हो सकता (१३-२८)। साम्ययोगकी (६-३३) यही बुनियात् है।

समाधि [२-४४, ५३, ५४]

सम+आ+√धा=अच्छी तरहसे अक्त्र रखना। मनने विचाराको अथवा वृत्तियोको अिधर अुधर दौडनसे रोककर मनको जेक ही वृत्ति पर स्थिर बनानेको समाधि कहते ह। स्थिर अेवाग्रता ही समाधि है। मन जब अिस तरह अेकाग्र होता है तब अुसकी सब शक्तिया वे-द्रीभूत होकर असाधारण फल देती ह। अिस तरह सूयकी किरणें सूयकान्त मणि (magnifying glass)के द्वारा वे-द्रीभूत होते ही कपास आदि को जलानमें समय होती ह अुसी तरह मनकी शक्तिया योगके द्वारा समाधिमें जेक्त्र होते ही सर्वोच्च ज्ञान पानमें समय होती ह।

श्री शंकराचार्यन अुपर बताय हुआे दोना स्थानो पर (२-४४, ५३ ५४) समाधिका अथ अत करण किया है। वे लिखते ह — समः धीयते अस्मिन् पुरुषोपभोगाय सवम् अिति समाधि = अत करणम् अथवा समाधीयते चित्तम अस्मिन् अिति समाधि = आत्मा। समाहित (६-७) शब्द भी समाधिते सवध रखता है।

समारम्भा [४-१९]

सम् + आ + √रम् (रामस्य) गुरु करना आलिंगन करना जल्दबाजी करना।

समारम्भन्ते अिति समारम्भा = कर्माणि। गीतामें सकाम कर्मोंको समारम्भा कहा है। काम-सकल्प छोड देनसे (४-१९) बाकीक कम

प्राप्त, सहज प्रवाह प्राप्त स्वघन-कम ही रहने हैं। वे बघन नहीं करते।

जानी अगर प्रवृत्तिशील है तो केवल लोक-संग्रहाय कम करेगा और अगर निवृत्ति-भरण है तो केवल जीवन-यात्राय कम करेगा और कम-बघनसे मुक्त रहेगा। जिसीलिजे युम पण्डित कहा है (४-१९)।

समासत [१३-१८], समासेन [१३-३, ६, १८-५०]

जिसका अर्थ है थोड़ेमें, सक्षेपमें।

कोशी बात विस्तारसे कहनेसे थट ध्यानमें नहीं आती। विस्तार जगल जसा बनता है। जिसलिजे मतलबकी बात थोड़ेमें कहकर बादमें उसका चाहे जितना विस्तार करना जिष्ट है। सच्चे शिक्षाशास्त्री और अणुशास्त्री जिसी त्रमका अवलम्ब करते हैं। महान्भारतकारने मारा क्या प्रथम थोड़ेमें कहकर बादमें उसका विस्तार किया है। अमी रचनाका हनु ममथाने कहा है—जिष्ट हि विदुषा लोके समस्तव्यस्तधारणम्। प्रथम समासेन बादमें विस्तारसे कहना ही जिष्ट है।

सग [५-१९, ७-२७, १०-३२, १४-२], भूतसर्ग [१६-६]

√सग (विसर्ग) पण करना छोडना भेजना।

सगका अर्थ है जम, अत्युत्ति सष्टि त्याग निश्चय। निम्ने साम्य-अवस्था प्राप्त का है उसने अपने सग याना जमको माथक किया जात लिया। सगका अर्थ अत्युत्ति-काल भी होना है (७-२७ १८-२)। भूत-सर्गमें (१६-६) सगका जो अर्थ होना है वह 'भूत-सर्ग' में देविये।

'सग और 'स्वग' दाना शब्द अच्चारणमें नजनीक हानेके कारण कभी कभी भ्रम पण कर दत ह। जिसी तरह ससृति और 'ससृति' में भी भ्रम हाता है। ससृतिका अर्थ है ममार world और ससृतिका अर्थ है सस्कारिता culture।

सव [११-४०]

(सुतम् अनन विश्वम् अिति सव ।) √स=जाना, आगे बढ़ना
हमला करना बहना।

√सव् (गतौ हिंसायाम् च) जाना मारना। भगवानका ही एक
नाम है सव। ग्यारहवें अध्यायमें अजुन कहता है

अनत वीर्यामितविभ्रमस त्वम

सवम समाप्नोषि ततोऽस्ति सव ॥ (११-४०)

भगवानको सर्वोत्तम भी कहते हैं।

सवगतम [३-१५, १३-३२], सवगत [२-२४]

सव + √गम (गमन) जाना। अिस परसे जिसका अर्थ है सव
व्यापी सव जगह पर पहुँचा हुआ। केवल सव स्थानों पर ही नहा
किन्तु सव अवस्थाओंमें और सव भूमिकाओंमें जिसकी अुपस्थिति है
असी आत्माका यह विशेषण है।

सवधर्मान् परित्यज्य [१८-६६]

सवधर्मान् परित्यज्य का अर्थ है सव धर्मोंका पूणतया त्याग
करके। आजकल चन्द व्याख्यानदाता सवधर्मका अर्थ करते हैं हिन्दू
धर्म अिस्लाम हि्स्टी धर्म जित्यादि सव धर्म। किन्तु गीताकालमें तो
अस विविध धर्म थ ही नहीं। वष्णवधर्म शक्तधर्म सयासधर्म आदि
धर्मोंके रूप हाग तो सही। किन्तु यहा पर सवधर्मोंसे मतलब है देशधर्म
कुलधर्म जातिधर्म वयोधर्म गुणधर्म शरीरधर्म कालधर्म आपदधर्म
जित्यादि अक ही मनुष्यके लिअ प्राप्त होनवाले भिन्न भिन्न धर्म।
थी शक्राचार्य कहते हैं कि यहा नष्कम्भ (कर्माभाव) का
प्रतिपादन होनसे सवधर्म-परित्यागमें धर्मके साथ अधर्मका भी ग्रहण
हाता है।

सवपापं प्रमुच्यते [१०-३, १८-६६]

प्र + √मुच (मोचने) मुक्त होना।

भगवानको पहचाननसे (१०-३) और भगवानकी शरण जानसे
(१८-६६) मनुष्य तमाम पापोंसे मुक्त हाता है फिर वे पाप मति

पूर्वक या जान-बूझकर किये हा या अमतिपूर्वक यानी अनवधानसे किये हा। श्री शंकराचार्य कहते ह कि समस्त धर्मधम-बन्धन ही पाप ह। अतसे भगवान 'स्वात्मभाव प्रकाशीकरणेन मुक्ति देते ह और फिर मनुष्य कम-बन्धनमें नही फमता है।

सबभूतहिते रत [५-२५, १२-४]

महाभारतका बन्धन है 'यद भूतहितम अत्यन्तम स धम अिति निश्चय'—सब भूतकि हितकी जो बात है वही धम है अथवा सब प्राणियाका हित जिस आचरणसे होता है असीका धम्य आचरण कटना चाहिये। पशुपात रहित और अपवाद रहित सब सत्त्वाका जिससे हित यानी कल्याण हाता है वही धम है।

त्रिमीका गांधीजीने सर्वोदय कहा है।

जब कोजी मनुष्य स्वजनोंकी सेवा करता है तब स्वजनाका छाडकर औरकि हित-अनहितका वह खयाल नहा करता। जब बिल्ली अपने बच्चाका खिलानेके लिये चूहे मारकर लाती है तब वह चूहक सुख-दुखका विचार नही करती। जब कौरव-पाण्डव धमके लिये लडे थे तब अन्हाने सेनाके हाथी घोडाके प्रति हुअे अयायका विचार नही किया। जब मनुष्य सब सत्त्वके हितका खयाल करेगा तब वह न किसीको सजा करेगा और न किसीका पुरस्कार करेगा। मनुष्य जितने कम करता है व सब अेकागी ही होने हैं। किसीका भला करने दूसरेका बुरा हो ही जाता है। अयायकारीको मारा या अुनकी जायजाद जप्त की और मान लिया कि अुसका अिन्ताफ हुआ तो अुसके कुटुम्बियकि प्रति तो घातकना ही हो गयी। जो मनुष्य सब सत्त्वाका आत्यतिक कल्याण चाहता है वह गायद काअी प्रत्यन्त कम नहा कर सकेगा। सकल्पमात्रसे सबका हित चाहेगा और अुसकी सकल्प शक्तिसे सबका भला हा ही जायगा। और याय तो क्षमाके द्वारा ही किया जायगा। किमीने सही कहा है कि 'To understand all is to forgive all'। बाह्य कायशक्ति अेकागितासे हा आनी है। जो पूण है अुसमें कोअी प्रवृत्ति नही हो सकती है। 'पूणम अप्रवर्त' (कौपितकि ४-४-६)। अिमलिअे 'सबभूतहित रत'

व्यक्तिको प्रमत्त अपना आत्मिक बड़ाना चाहिये और इस तरह अपनी सत्त्व शक्ति भी बड़ानी चाहिये।

सर्वविद् [१५-१९]

√विद् (ज्ञान) जानना।

जो मनुष्य भगवान्क रूपको यथाथ रूपसे जानता है वह सब कुछ जानता है। सब कुछ याना इस सूत्रिका रहस्य भी वह जानता है और आत्मतत्त्व भी। म ही पुरुषोत्तम हूँ आत्मा ही परमात्मा है और वही सर्वत्र नरा हुआ है इस तत्त्वका जिसे साक्षात्कार हुआ वह सर्वविद् यानी सर्वज्ञ है।

सातवें अध्यायके प्रारम्भमें भगवान् कहते ह कि ओश्वर-परायण होकर योगवा सेवन करनेसे जो ज्ञान प्राप्त होता है उस जाननके बाद जाननके लिये और कुछ बाकी रहता ही नहीं (७-१२) क्योंकि उस ज्ञानके द्वारा योगी भगवान्को समग्रम् (सम्पूर्ण) और अमायम् (साधारण) निश्चित) जान लेता है। सर्वविद्याका अर्थ यह नहीं (साधारण) जगत्की और सब कालकी घटनाओं और सब तत्त्व वह कि भौतिक जगत्की और सब बातें वह जानता है। अथवा रेल्वे टाजिम-टबन्की जीवनका सम्पूर्ण तत्त्वज्ञान और रहस्य उसे प्राप्त होता है अतना ही सर्वविद्का अर्थ है।

सर्वहरो (मृत्यु) [१०-३४]

सर्व + √हृ (हरण) लना, दूर के जाना वचित करना।

अजर अमर अविनाशी जसा तो अजर परमात्म-तत्त्व ही है। अने छोड़कर बाकी जो कुछ भी है मरणशील है। श्री शंकराचार्य कहते ह कि सर्वहरमें धनादि हर और प्राण हर जसी मृत्युकी दोनों विभूतिया ह आ जाती ह। भगवान् कहते ह कि असी सर्वहर मृत्यु में ही ह। असीलिअ भगवान्का हरि कहते ह। अथवा पर आश्वर प्रलये सवहरणात सर्वहर। मामूली तौर पर मृत्यु तो किसी किसीको अुठाकर ले जाती है जिसलिअ वह अल्पहर है। भगवान् स्वय प्रलयकालके समय सबका हरण कर लेते ह। यही वस्तु भगवान्क

गीतामें (११-३२) कही है कि म लोकक्षय करनेवाला काल यानी मृत्यु ह।

भगवान् जैसे स्वयं सबहर मृत्यु ह अुमी तरह मृतमात्रके अुद्भव भी वहा है (अुद्भवश्च भविष्यताम् १०-३४) ।

सर्वारम्भपरित्यागी [१२-१६, १४-२५, १८-४८],
अनारम्भात् [३-४]

जा जो कम शरीरमे आप ही आप हा जाते ह असे कि पलकाका चलना नाडीका स्फुरण, श्वासोच्छ्वास, अन्नका पचनक्रिया अित्यादि, व आरम्भ नही ह। अिनमे बधन नहा होता। जा कम अिच्छापूवक सकल्प पूवक किये जाते ह वे अगर स्वायमे, लोभसे किये जाय तो व बधनकारक ह। अगर काम-सकल्प छाड दिया और बवल लाक-सप्रहके लिअे अथवा जीवनमात्रके लिअे कम किये गये तो पानाग्निके द्वारा अुनका बधन जल जाता है।

जो लोग रजागुणी हाते ह वे लोभी और प्रवृत्ति-परायण होनेसे अुनक कमोंका आरम्भ काम-सकल्पासे प्रेरित होता है। जा भक्त अथवा गुणातीत होते ह वे काम-सकल्प-युक्त सब आरम्भाका त्याग करत ह। असे ता कममात्र कुछ न कुछ दोष पटा करते हा ह किन्तु तमाम कमोंका त्याग नही किया जा सकता है और न करना चाहिये। काम-सकल्प-युक्त कमोंका ही आरम्भ छाड देना चाहिये। जो कुछ भी कम स्वयम समयकर किया जाता है वह प्रवाह-पतित और प्राप्त कम है अुसे हम काम-सकल्प-शून्य कर सकते ह।

जो भक्त है वह सब आरम्भाका यानी सकाम कमोंका पूणतया त्याग करता है। अपनी अिच्छाका कोअी काम वह करता ही नहा। जो काम अुसके सामने आता है अुन भगवान्का काम समझकर ही वह करता है। अिमीलिअे वह भी पानी है। पानी भक्त अिस तरहमे काम-सकल्प-वर्जित समारम्भ करनेके कारण गुणातीतकी म्पनिका पदुक्ता है। वह जानता है कि आरम्भ-मात्र दापयुक्त है जस कि अग्नि धुअेँ ध्याप्त है। अल्पिण रह्यर ही वह अुन दापामे बचना है।

सर्वेन्द्रियगुणाभासम् [१३-१४], सर्वेन्द्रियविवर्जितम्

पच पानाद्वय पच कर्मेन्द्रिय मन और बुद्धि मिल करके अिन्द्रियाणा जो समुदाय हाता है उसके गुणाके द्वारा जो भासमान और प्रतीत होता है उसे सर्वेन्द्रियगुणाभासम् कहते ह। किन्तु जो सब अिन्द्रियासे रहित है परे है असा परब्रह्म ज्ञेय यानी ज्ञानका विषय है। ब्रह्मको अिन्द्रियाकी अपाधि नहीं है। उसे अिन्द्रियाके व्यापार नहीं करन पडते और तो भी अिन्द्रियाके गुणोसे मिलनवाला फल उसे मिल ही जाता है। कानके बिना वह सुनता है आखाके बिना देखता है, मनके बिना सोचता है अित्यादि (श्वेताश्वतर ३-१९)।

सहजम् [१८-४८]

सह=साय, ज=जम हुआ।

सहज यानी जमके साय जो पदा हुआ है अर्थात् स्वधम कम। मनुष्य जब जम लेता है तो समाजमें अपना अक स्थान लेकर ही आता है और विशिष्ट स्वभाव और शक्तिया भी साय लाता है। अिह पूवजमके सस्कार भी मान सकते ह और वसपरम्परासे प्राप्त सस्कार भी कह सकते ह। कसे भी हो ये सस्कार य शक्तिया और य मर्यादाओं जमके साय आनके कारण अुह सहज कहते ह। अिन सहज विशिष्टताआके कारण किया हुआ कम सहज कम है और अुनके कारण निश्चित किया हुआ धम स्वधम है। असलिये सहज-जमको और स्वधमको न तो मनुष्य छोड सकता है और न छोडना चाहिये। अर्थात् पापकम कभी स्वधम या सहज-कम नहीं माना जा सकता।

प्रजापतिने जब प्रजाआको पदा किया तब अुनके साय यज्ञको भी पना किया। असलिये यज्ञ ही सबसे श्रेष्ठ और व्यापक सहज-जम है। अिसलिये भगवानन साफ कहा है (१८-५) कि यज्ञ दान और तप रूपी कम कभी भी छोडना नहीं चाहिये वह काय यानी कतव्य कम है। अितना ही नहीं यज्ञ दान और तप मनुष्यकी चित्तकी अिन्द्रिके लिये परम अपयोगी (पावनानि) ह।

सहयज्ञा प्रजा [३-१०]

विधाताने प्रजाआका निर्माण करके अणुक् साथ साथ यज्ञमको भी निर्माण किया और स्वयं चिन्तामुक्त हो गया। जिस तरह काओ श्रद्धालु मनुष्य मन्दिर बाधकर अणुके खर्चके लिये काओ खेत बाध देता है और स्वयं निश्चित हाता है अुसी तरह प्रजाआकी हस्ती और परम्परा टिकानेके लिये प्रजापतिने अुहें यज्ञम दे दिया और अपनी सृष्टिको स्वावलम्बी स्वयमतिक बना दिया। जिन्दा मनुष्य अपने पैरसे चलता है, मरे हुअे या बीमारको अुठानेके लिये चार आदमी लाने पडत हैं, अुसी तरह यज्ञमका पालन करनेवाली प्रजा स्वावलम्बी और स्वतन्त्र बनती है। यज्ञम छोड देनेस वह निर्मान्य नि सत्त्व और परतन्त्र बनती है। प्राणी-मष्टि और वनस्पति-सष्टि प्राणवायु पदा करनेमें अेक-दूसरे पर निर्भर रहती है। अणुका यह परस्परावलम्बी जीवन (symbiosis) यज्ञ ही है। प्राकृतिक शक्तिया अेक-दूसरेके अुपर निर्भर रहकर ही विश्वचक्रका चलाती हैं। प्राणी-जगत भी यज्ञचक्रके अुपर निर्भर रहकर अपना जीवन कृताय करता है (३-१० से १६)।

सकर [१-४२, ३-२४]

सकर=मिश्रण, व्यवस्थाका अभाव। आर्योंने वण-व्यवस्थाकी स्थापना की और नियम बनाया कि गादिया अपने अपने वणमें ही होगी। किन्तु वणान्तर विवाह हाते ही जाते थे। अने मिश्र विवाहाका वणसकर विवाह कहते थे। प्रथम प्रथम गायद सकरके प्रति विज्ञाप विरार नहा हागा। बादमें सकरके अनुलोम और प्रतिलोम असे विभाग हुअे। वणोंकी प्रतिष्ठा (१) ब्राह्मण (२) क्षत्रिय (३) वैश्य (४) गूढ अिस क्रमसे घटती है असा मानकर अुच्च जातिका मनुष्य अपनेसे नीची जातिकी कन्यासे विवाह करता तो अुसे अनुलोम विवाह कहते थे। अिसके विपरीत अगर कोओ अुतरने वणका पुरुष अपनेस अुच्च वणकी कन्याके साथ विवाह करता तो अुस विवाहको प्रतिलोम (against the grain) विवाह कहते थे। गास्त्रकाराने पहले प्रतिलोम विवाहाका निषेध किया और अनुलोमको चालू रखा। किन्तु अिससे

बुच्च-नीच भाव अवरन लगा। असलिभे अनुलाम विवाहका भी निषेध करना पडा। तथा फिर तां सकरमात्र पापमूत्रक यानी समाजहित विरोधी माना गया। अस ही कालमें समाज-व्यवस्थापन लोगान कहा-
 "सकरो नरकायव।"

चद लोगोका कहना है कि शास्त्रविधिके अनुसार जो अनुलोम या प्रतिलाम विवाह होते हं-जुह सकर नही कहना चाहिय। जहा विवाह बाह्य स्त्री-गुरूपोका सम्बन्ध होता है वहा पर ही सकर प्रजा पदा हाती है और श्राद्ध-सस्कार (पिण्डोदक क्रिया) (१-४२) नष्ट होते हं तथा पितरको नरक-वास मिलता है।

[सामाय तौर पर पाया गया है कि समाजमें कभी कभी असा काल आता है जब सामाजिक स्थिति और आदस भदके अनुसार अल अलग जातिया बनानी पडती हं और जात्यतर विवाह बन्द करण पडन हं। विगिष्ट गुणाके विकासके लिअ यह पाथक्य आवश्यक माना गया है।

किन्तु जब असे पाथक्यसे समाजके छोट छोट टुकडे बन जाते हं सध शक्ति और सहयोग क्षीण होते हं और भेदके साथ बुच्च नीच भाव आनके कारण द्वय मत्सर और विग्रह पदा होत हं तब समाजके नेता मिथ्र विवाहकी सिफारिश करने लगते हं।]

सकल्पप्रभवान् [६-२४]

सम+ √कल्प (सामर्थ्य) योग्य होना सामर्थ्य रखना कल्पना करना।

सकल्पका अय है अिच्छाशक्ति मनना निश्चय विचार कामना। मनमें पहले सकल्प अुठना है बादमें अुसके अनुसार क्रियायें होन लगती हं। अगर अिद्रियाको रोकना है तो मूलमें सकल्पको ही अुठनसे रोकना चाहिये। यहा सकल्पप्रभवान् शब्द कामानका विरापण है। सकल्पमें से अुत्पन्न हानेवाले सब कामाका त्याग करके मनको आरममस्य बनाना चाहिये। असलिअ कहा है जो सबसकल्प-सयासा (६-४) है वही योगारूढ हा सकता है जो मनुष्य अस्तयन्त-सकल्प है (६-२)

वह यागी नहीं बन सकता। जिसे कमयाग सिद्ध करना है उसे अपने सार समारम्भ यानी वम काम-सकल्य-वर्जित करना चाहिये।

संयास [५-१, २, ६, ६-२, १८-१, २, ७, ४९]

सम्+नि+√अम् (क्षेपणे) फेंकना। जा कुछ भी माया-ज्जाल या आमक्ति अपने पास हो उसे अत्र करके पूणतया फेंक देना ही संयास है। उसे वासनाया और परिग्रहवे बधनया त्याग करनेमे ही मनुष्य मुक्त हो सकता है।

मायासमें सब वस्तुआका गानपूर्वक त्याग किया जाता है। वम यागमें केवल फण्णा और आसक्तिता त्याग किया जाता है दानाका परिणाम अत्र ही है।

गीताने अठारहवें अध्यायमें जो त्यागकी मीमाणा की है उसे समग्रतमे संयास-योगका रहस्य ध्यानमें आ जाता है। (१८-२ अि०)

सम्पद् [१६-३, ४, ५ और १६ वा अध्याय पूरा]

सम्+√पद (गतौ) जाना पहुँचना। सम्पद्का सामान्य अर्थ होता है धन दौलत, वैभव, किमी गुणवा अल्प। किन्तु गीतामें यह गल् सम्पत्तिक अर्थमें लिया जाता है। [सग गल्वा मूल अर्थ है अल्पति, किन्तु गीताने भूत-या गल्में यही सम्पत्तिका भाव भी कुछ हाठ लिया है (१६-९)।]

गीतारा कहना है कि सात्विकी, राजसी और तामसी अिन तीन प्रकृतियाँ स (०-१२, १३) सात्विकी प्रकृति दवी सम्पद्को पदा करती है और राजसी आगुरी गगल्को।

तमोगुणा रागगी प्रकृतिमें मे विपत्ति ही पैदा हागी।

सम्भावित [०-३४], आत्मसम्भावित [१६-१७]

सम्+√भू (मत्तायाम्, प्राप्ती अवकलने) होना रहना पाना, भावना, गूढ करना। सम्भावितका अर्थ है प्रतिष्ठित। समाजमें अिन आन्तर मिलना हो, अिमकी प्रतिष्ठा हा अुमे सम्भावित कहूँ है। सम्भावित

लोग मान घन, सत्त्व घन सत्य-सम्पन्न होते ह। अवीति होनेकी अपेक्षा वे मरणको अधिक पसन्द करते ह।
 कीर्ति तो लोग देंगे तब मिलती है किन्तु रजोगुणी और वामुरी वृत्तिके लाग अपने ही मनमें अपनी कदर करते हं। अपन ही मनमें मानते ह कि हम सबगुण-सम्पन्न ह। असे अपनको बड़ा माननवाले लागाको आत्मसम्भावित (१६-१७) रहते ह। फलत वे विनयभूय बनते ह।

सयम [२-६९, ४-२६, ३९, १०-२९]
 सम् + √यम् (जुपरम) रोकना कर्ममें रक्षना बंद करना

अक्वट्ठा करना।
 सामाय तीर पर निग्रह और सयमका जय अक ही है। निग्रह बाहरसे हो सकता है और सयम आन्तरिक होता है। योगशास्त्रमें धारणा ध्यान और समाधिके समुदायको सयम कहा है।

बिना सयम अिन्द्रियाके विषय सेवन करनेसे मृत्यु नजदीक आती है। जिसन सयम सिद्ध किया है उसका मृत्युका डर कम होता है मृत्यु उससे दूर जाती है। सत्य अहिंसा ब्रह्मचय अस्तेय अपरिग्रह अिन पाचोको यम कहते ह। यमाके द्वारा सयम सिद्ध होता है। अग्निने कहा है — यम सयमितो यन यम तस्य करोति किम ? जिसन आन्तरिक यम सिद्ध किया है उसका यमराज क्या बिगाड सकता है ?
 दुर्दान्त वासनाओका सयम करना और वाम विकारका धमके अकुगमें रक्षना यही है ससृष्टिका सब-सामाय स्वरूप। सत्य अहिंसा और सयम अयवा तप ये ही ससृष्टिकी बुनियादके तत्त्व ह।

सवत्त [११-५१]

सम् + √वृत्त (वतन) रहना जीना। सवृत्तका अर्थ है स्वस्य हुआ। अजून कहता है कि अम्भुत विश्व-दान करके म हृषित और ध्ययित हो गया या। अब तुम्हारा सौम्य रूप देखकर सवृत्त यानी स्वस्य हा गया ह।

सशय [४-४२, ६-३९, ८-५, १०-७, १२-८],
सशयात्मा [४-४०]

सशयका अर्थ है शका अनिश्चय, सकट, अध्रद्धा। [किसाने कहा है कि हृदयमें सशयका स्थान देनेकी अपेक्षा बन्दूककी गोली रहने दना बेहतर है। गीता कहती है कि सग्यालु मनुष्यका नाश हाता है—सग्यात्मा विनश्यति ४-४०।]

गीता यह नही कहती है कि सगय टालनेके लिये अध्रद्धा रखनी चाहिये या जिनासाका दबाना चाहिये। अगर मनमें सगय पदा हुआ तो भुस दूर ही करना चाहिये क्यकि सग्यात्माका न सुख रहता है और न अिस लाककी सफलता मिलती है। फिर परलोककी तो बात ही क्या है (४-४०)? सगयशील मनुष्य दुर्देवी ता होता ही है किन्तु मनमें सगय रखकर चलना तो सामाजिक और आध्यात्मिक गुनाह भी है। श्री शकराचार्य कहते ह—
“सग्यात्मा तु पापिष्ठ सर्वेषाम।”

सस्पर्शजा [५-२२]

विषयेन्द्रिय-सयागमे हानेवाले। (मात्रास्पर्शा शब्द देखिय।)

सात्त्विक [७-१२, १४-१६, १७-४, ११, २०, १८-९,
२०, २३, २६, ३७], सात्त्विकी [१७-२, १८-३०, ३३]

अन्तर बाह्य मष्टिमें सत्त्व, रजस् और तमस अिन तीन गुणाका ही विस्तार है। यह आविष्कार साख्योने किया है। अिस सिद्धान्तका पूरा पूरा विस्तार भगवानने ही गीतामें सब प्रथम किया दीम्ब पडता है। ज्ञानयुक्त जो गुण है वह सत्त्व है, अिसमें नानका करीब करीब अभाव है वह तमोगुण है और दानकि कम या ज्यादा अनुपातस हुअे मिश्रणका रजोगुण हाता है। रजागुणमें अनेक प्रकार पाये जात ह।

असे तो केवल अेक ही गुणवाला सत्त्व होता ही नही। जो गुण दूसरे दोना गुणाको दबाकर बडा हुआ दीम्ब पडना है अुसीका नाम अुसे दिया जाता है (१४-१०)। रजस और तमसको

दवाकर जब सत्त्व सामन आता है तब अुस गुणवाले मनुष्यको सात्त्विक कहते ह। सत्त्वगुणमें ज्ञान प्रकाश शान्ति सन्तोष परोपकार, अहिंसा आदि सब गुम गुण होने हैं।

साम्येन [६-३३], साम्ययोग, समबुद्धि [६-९]

मनुष्य जब कम करता है तब अुसने फलने प्रति अुसका कुछ न कुछ कम या ज्यादा अधिकार रहता ही है। किन्तु गीता कहती है कि वह अधिकार ही बचनको पदा करता है असलिजे अुसे छोड दो। फलका अधिकार छोडनेसे कर्ता बचनमुक्त होता है समाज सुखी होता है और मनुष्य-जातिका चारित्र्य अुचा अुठता है। फलका खयाल छोडनेसे समता प्राप्त होती है और कमकी कुशलता भी आती है। अिमीको साम्ययाग कहते ह। साम्ययोगमें आप-पर भाव नष्ट करनकी बात है। साम्ययोगी पक्षपात रहित सबका हित चाहता है। अुसके स्वभावमें बानूनकी कठोर यायनिष्ठा नहीं किन्तु सबहितकारी अुसके प्रेममूलक यायनिष्ठा प्रगट होती है। समाजका सच्चा कल्याण अिसमें है कि अस साम्ययोगियोंकी सख्या समाजमें बड और कल्याण अिसमें है कि अस साम्ययोगके अनुकूल हो।

साम्यवादके द्वारा सम्पत्तिमें समानता लानेस और राज्यसत्तामें सबका समान अधिकार रखनेसे आजके कुछ सामाजिक दुख दूर हागे सही किन्तु नय दुख पन्ग नहीं हागे अिसका कोअी विश्वास नहीं दिला सकता है। साम्ययोगके वायुमडलसे ही जन-समाजका कल्याण होनवाला है। गायद साम्ययोग और साम्यवाद दोनाके सहयोगसे सतयुगकी स्थापना हो सकेगी।

अजुनन साम्ययोगका नाम नहीं लिया किन्तु वह कहता है कि साम्य अिसमें प्रधान है असा जो योग आपन कहा है अुसे सिद्ध करना अुसमें स्थिर होना म कठिन देखता ह। ज्ञानकी निष्ठा पूण होने पर यह साम्य-अवस्था आती है अिसमें (१) सुख-दुख लाभ अलाभ दोनाकी ओर चित्तवृत्ति समान रहती है (२) आप और अलाभ दोनाकी ओर चित्तवृत्ति समान रहती है (३) गुम और अगुम जो कुछ भी पर स्वकीय और परकीय साधु और असाधु दोनाकी ओर अक ही हितकारिणी दृष्टि रहती है और (३) गुम और अगुम जो कुछ भी

वतय सामने आ पड़ें दोनवि प्रति अकसा बुदासीन भाव, गुभाशुभ परित्यागिता आ जाती है।

साख्ययोगी [३-३, ५-४]

साख्य और याग ये दो हमारे प्रधान दशन ह । गीताके टीकाकार कभी कभी साख्य और योगमें परस्पर विराध मानते ह हालाकि गीताने चिडकर कहा है कि अज्ञान लोग ही असा भेद बताते ह जानकार लोग दोनाको अक ही समझते ह (५-४, ५) ।

अमली बात यह है कि साख्यकी भूमिका अलग है और योगकी भूमिका अलग । दोनो अक-दूसरेके पूरक ह । साख्याने अपनी व्यवस्थामें श्रीश्वरको माननेकी आवश्यकता नही देखी किन्तु अन्होंने श्रीश्वरका अिनकार भी तो नही किया । अगर साख्य-तत्त्वज्ञान कहता कि श्रीश्वर केवल भ्रममात्र है, अुसे नही मानना चाहिये तब तो अुसमें और ज्ञानयोगमें विरोध आता ।

यागमें साख्यकी व्यवस्थाका स्वीकार करके अुसके आधार पर चित्तवृत्ति निरोधका और श्रीश्वरके साथ जुड जानेका असली माग बताया है । जेव है तत्त्वज्ञानका विभाग और दूसरा है साधनाका विभाग ।

ज्ञानयोग और कमयोगमें भी विरोध माननेका कारण नही । अक ही स्थान पर पहुचनेके ये दा परस्पर पोषक माग हैं । अपनी प्रकृतिअनुसार दोमें से किसी अक पर ज्यादा भार देनेकी बात है ।

कमयोगीको अपने योगके लिअे ज्ञानके बिना चलता ही नही और जानी भी कम-साधनाके बिना ज्ञानका साक्षात्कार नही कर सकता । गाय वह साधनाके कमको कम न कहकर कुछ दूसरा नाम देगा ।

“सिद्धि [३-४, ४-१२, २२, ७-३, १२-१०, १४-१, १६-२३, १८-१३, ४५, ४६, ५०]

√मिद्ध (ससिद्धी) पहुचना कामयाब होना, सिद्धि हासिल करना ।

गीतामें सिद्धि प्रधानतया योगकी सिद्धि है अथवा ज्ञान सिद्धि — जीवन मिद्धि । कमकी सिद्धि भी गीतामें आजी है, अर्थात् कमकी

सिद्धि ज्ञानमें परिसमाप्त होता है जिसे नैवम्य सिद्धि भी कहते हैं ।
सिद्धि यानी फल प्राप्ति ।

अठारहवें अध्यायमें गानात्र निष्कप रूप जा १०-१५ द्वाक
दिये हैं (१८-५० से ६६) व यान पटन लायक है । क्याकि जनमें
सिद्धि प्राप्त होने पर मनुष्यकी कसी हालत होती है यह सधामें
किंतु पूणतया बताया है ।

सुखदुःख [२-१४, १५, ३८ ६-७, १२-१३, १८,
१३-२०, १४-२४, १५-५]

√सुख (सुखत्रियायाम्) प्रसन्न करना ।

√दुः (अपताप) जलाना, कष्ट देना अथवा दुष्टम् जनति
जिति दुःसम् — जा प्रतिकूल दगम पादता है ।

मनुष्यके सबसे 'यापक' और सावभौम अनुभव ये दो ही हैं — सुख
और दुःख । 'अनुकूलवेदनीयम् सुखम्' 'प्रतिकूलवेदनीयम् दुःखम्' ।
जिसका अनुभव अनुभूल होता है जिष्ट होता है जिसे हम स्वभावतः
चाहते हैं वह सुख है । 'अनुग्रह-लक्षणम् सुखम्, अनागतेषु सकल्पजम्' ।
जिष्ट विषयकी प्राप्तिके साथ ता सुख होता है, परंतु विषय प्राप्त
न होने पर भी कबल अनुकूल स्मरणसे भी सुख होता है । नम्याधिकार
सुखके चार विभाग बताये हैं — (१) वषयिकम् (२) आभिमानिकम्
(३) मानोरथिकम् और (४) आभ्यासिकम् । विषयोका सपक या
सस्पृश यानी साक्षात्कार होनेमें जो सुख पैदा होता है वह पहला
सुख है । दूसरा अधिकार, पांडित्य धनित्ता आदिके अभिमानमें होता
है । तीसरा विषयके केवल ध्यानसे होता है । और जो किया प्रथम
तो कष्टप्रद मालूम होती है किंतु जादत पडे जानेसे जो सज्ज
मुकर और सुखकर जाती है — जम दण्ड बठक या सूयनमन्वार
आदि — वह आभ्यासिकम् है ।

तत्त्वज्ञ देखते हैं कि जिसे हम सुख कहते हैं उसके भी परिणाम
दुःखकर होते हैं । जिसलिसे भगवान पतञ्जलि कहते हैं — 'दुःखमेव
सर्वम् विवर्कितम्' — जो समझदार मनुष्य है उसके लिसे सब दुःख

रूप ही है। मनुष्यका अनुभव कहता है कि अिन्द्रिया जिस सुखकर बनाता ह, वह हितकर हाता ही है असा अनुभव नही है और जिन्हें दुःखकर वतानी ह वे सब चीजें नुकसानदेह हैं असा भी नही है। जिसलिअे गानी मनुष्यका कभी भी सुख-दुःखकी प्रेरणाक अनुमार नहा चलना चाहिये।

नतिक क्षेत्रमें तो सुख-दुःख हमारे नियन्ता हो ही नही सकते किन्तु गारारक हित-अनहितमें भा सुख-दुःखकी प्रेरणा हमगा कामकी नहा हाती। जीम जिसे पसन्द करती है वह स्वास्थ्यकर होना ही है असा अेकान्तिक अनुभव नही है। जीम जिसका अिनकार करती है वह स्वास्थ्यक लिअे हानिकर है ही, असा भी निश्चय नही हो सकता।

अिमलिअे सुख और दुःखकी सूचना और प्रेरणाकी ओर अुदा-सान ही रहना चाहिये। यही गीताका साम्ययोग है। जो हितकर है वही हम कर, अुससे सुख मिला तो अुसका स्वीकार हम कर। किन्तु सुख कारण अुसकी मात्रा हम न बढावें। अुलटा सुखका आक-पण बग हुआ देखते हा चतकर सतक रह। जिसी प्रकार विद्वद्गिामें दुःखक वारेमें भी समचना चाहिय और चलना चाहिये। जिसीमें मनुष्य-जावनकी प्रतिष्ठा है। जा मनुष्य अ्या बनकर सुख-दुःखके बग हो जाता है वह दुनियाके सामने और अपनी बुद्धिके सामने भी अप्रतिष्ठित, तुच्छ और हीन हा जाता है। जिसीलिअे गीताने बार-बार कहा है कि सुख और दुःखके प्रति समान भावने अुदासीन रहा।

सुकृतदुष्कृते [२-५०]

अच्छे और बुरे कम। सामाजिक जीवन अयवा घामिक-नतिक जावन पुण्य और पापकी कल्पना पर निभर है। जिसमें आत्माका विराम है और समाजकी अुन्नति है अुस पुण्य अयवा सत्कम कहने हैं। जिस कमस आत्माका मकाच होना है, अवनति होती है समाजका स्वास्थ्य दूर जाता है, घनि नष्ट होती है वह दुष्कम अयवा दुष्कृति है। जो कम अयवा वामना मनुष्यका पात करनेवाली है वह पात-क है। जो लोग पापी हैं अुहें दुष्कृत (४-८) अयवा दुष्कृति (७-१५) कहने हैं।

साम्ययोगी अपने सामने आनेवाले मुहूर्त और दुष्टन दानाएँ प्रति अविकल्पित भावसे तटस्थ रहता है (Beyond Good and Evil) जमा अज्ञाना वषणन किया है।

[मुहूर्त शब्दका व्यापक अर्थ लेना चाहिये। अस्तित्वमें एक क्या है कि जब आत्माने अिन्द्रियाँ तैयार कीं तब त्रिन श्रुतामाने अपन लिअे आत्माने अर स्थान मागा। अतः अुर पृथ अर गाय दी। अुसस अुनको सन्तोष नहा हुआ। फिर अेर घाटा िन्दा। जब अुससे भी अुह सन्तोष नही हुआ तब पुन्य (मानवी शरीर) े दिया। तब अिन्द्रिया कहन लगी कि यह अाटा किया — मृतम् वत'। तबसे पुष्टपवा मुहूर्त कहन लगे।

मानवी शरीरका अिसल्लिअे मुहूर्त कहन ह कि मनुष्यका ही भले-बुरेका खयाल है अिस शरीरके द्वारा ही वह आध्यात्मिक मायता करता है, साथ साथ वह बुरे काम भी कर सकता है। मायता पूरी होने पर साधनाका सामन यह शरीर छाटा जा सकता है।

और अेक जगह पर आत्माका हा मुहूर्त कहा है। क्या पर नी आत्माका अर्थ शरीर ही होगा।]

सुदुराचार [१-३०]

अिसका अर्थ होता है अत्यन्त दुराचारी। यहा मु केवल अत्वटता दिखाता है। जो मनुष्य आत्माको भूल जाता है शरीरकी प्रेरणाके वश होता है और समाज दोह करता है वह दुराचारी बनता है। किन्तु जब वह अीश्वरकी ओर मुडता है तब अुसका निश्चय, सक्ल्प सुधर जाता है और फिर तो अुसे साथ ही समझता चाहिये। दिन पर दिन अुसका सक्ल्प अुसका आचार सुधरता जाता है।

अिसा तदुस्त आत्मीका शरीर जब अिगडने लगता है तब अूपर अूपरस वह अच्छा दिख पडे और अुसमें काफी शक्ति भी हा तो भी अुसे रोगी ही कहना चाहिये। अिसके विपरीत अगर काभी रागी शरीरसे क्षीण हो, अिक्ल हा किन्तु दवा लेकर रोगमुक्त हा गया है

और दिन पर दिन उसका शरीर सुधरता हो तो क्षीण होते हुए भी उसे निरोगी कहना चाहिये।

यही नियम सदाचार दुराचारके लिये लागू है।

सुहृन् मित्र अरि-अुदासीन-मध्यस्थ द्वेष्य-वधु [६-९]

सुहृत्का अर्थ है अनुकूल है हृदय जिसका अर्थात् हितेच्छु। प्रत्युपकारकी अपेक्षा रखे बिना जो उपकार करना है वह है सुहृद्।

सामायतया जो स्नेह रखता है भला चाहता है वह मित्र है।

√मिद (स्नेहने)।

अरि=शत्रु; अुदासीन=तटस्थ (दगलमें या अखाडेमें न अुतरा हुआ) न किसीक पक्षका।

मध्यस्थ=लडनेवाले दोनों पक्षका हित चाहनेवाला और दोनोंकी संधि करनेकी कोशिश करनेवाला।

द्वेष्य=वह जिसके प्रति हमारे मनमें नफरत हो।

वधु=रिश्तेदार सगा-सम्बन्धी।

योगी समबुद्धि होनेके कारण अपरके सबके साथ तथा साधु और पापी आदि सबके प्रति समान भाव रखता है। किसीके प्रति पणपात नहीं दिखाता है। वही सचमुच श्रेष्ठ है।

सती [८-२७]

√स-जाना दौडना, फलना। सुति=माग, सृष्टि=जन्म।

गीताने जीवात्माके लिये दो माग बताये हैं—एक सफेद है और दूसरा काला। काले रास्तेस बार-बार जन्म लेना पडता है। सफेद रास्तेस मोक्ष मिलता है फिर जाना नहीं पडता। इसी धातु परसे ससृति=संसार शब्द आया है।

(गुणलक्षणों गती शब्द देखिये। ८-२६)

स्तब्ध [१६-१७, १८-२८]

√स्तम्भ् (रोधने धारणे च)। स्तब्धका अर्थ है अक्कड नम्रता रहित अभिमानी, निष्करण। आमुरी सम्पत्तिके लोगामें यह वृत्ति अभिमानके कारण आती है।

स्तेन [३-१२]

√स्तन (चौर्य) चोरी करना। जिस परसे स्तेनका अर्थ है चोर। जो मनुष्य असामाजिक वृत्तिका है सामाजिक उत्तरदायित्वको नहीं पहिचानता और अपन स्वायत्ता ही खयाल करता है वह चोर ही है। देवाकी (प्राकृतिक शक्तियाकी) कृपासे जो भोग मिलते ह उनको बदलेमें जो मनुष्य देवाका हविर्भाग नहीं देता है वह चोर है। ('यज्ञ' और हवि शब्द भी देखिय। ४-२४)

स्थितप्रज्ञ [२-५३ से ७२] स्थितधी २-५४, ५६], स्थिरबुद्धि [५-२०], स्थिरमति [१२-१९], स्थिर्यम् १३-७

स्थिरस्य भाव स्थयम = दृढता।
√स्था (गतिनिवृत्तौ) + अि।

गीतान स्थयको ज्ञानके लक्षणामें स्थान दिया है। चंचलतासे न काओ काम हो सकता है न कोओ प्रगति। मोक्षमार्गमें तो अत्यन्त दृढता और जसाधारण सकल्प-सामर्थ्यकी आवश्यकता है।

गीतामें आदर्श पुरुषके वणन स्थान स्थान पर दिय गय ह। स्थित प्रज्ञ बुध चानी पण्डित धार भक्त गुणातीत योगी ब्रह्मभूत मनीषी सिद्धिम् प्राप्त अित्यादि जनक नाम ह। अिनके लक्षणामें थोडा थोडा फक है किन्तु सब मिल करने जब ही आत्मा पुरुष होता है। ऊपर बताय भिन्न भिन्न नाम गीताके आत्मा पुरुषकी विभूतिके भिन्न भिन्न पहरू ह। अिन सब पहरूआमें स्थितप्रज्ञका नाम सबसे प्रथम आता है।

श्री शंकराचार्य कहते ह कि अध्यात्म मार्गमें सिद्ध पुरुषाके जो धर्म साधनाय कहते ह व ही साधकके साधनाके तत्त्व हाते ह। सबत्र अव हि अध्यात्मशास्त्रे कृताथलन्थाणि धानि तानि अव साधनानि अपदिश्यते यत्नसाध्यत्वात्। धानि यत्नसाध्यानि साधनानि तानि च भवति लक्षणानि।

जिस तरह भगवानन स्थितप्रज्ञ कसा हाता है जिसका वणन करन समय स्थितप्रज्ञ बननेके लिय कया कया करना चाहिय वह सब मविस्तार बताया है।

जिन श्लोकाका आश्रमकी साय प्रायनामें चलाकर गाधीजीने बाजकलके साधक भारतका जिनकी ओर विशेष ध्यान खीचा है।

मनुष्यके जीवनमें अिद्रिया अुस अपने अपने विषयाकी ओर खाना ह। अुनके वग होनेसे मनुष्यका शरीर क्षीण ता होता ही है अिद्रियाकी शक्ति मन्द होती ही है, किन्तु असम बडा नुकसान यह हाना है कि जावनरूपी नौकाकी पतवार जो बुद्धि है वही भ्रष्ट हा जाती है। अस हानिको टालनेके लिअे भगवानने बनाया है कि सकाम वृत्ति छोडकर साम्य समाधिमें बुद्धिका अचल स्थिर बनाना चाहिये (२-५३)।

अिस अुपदेशका महत्त्व ध्यानमें आनेके कारण अजुनने भगवानस कहा कि आपके स्थितप्रज्ञकी कबल व्याख्या मुझे नहीं चाहिये। याग और समाधि प्राप्त कर जा स्थितप्रज्ञ होता है अुसका रहन-सहन चाल-चलन कसा हाता है अुनकी बातें कसी हानी ह यह सब मर नामने चित्रके समान स्पष्ट कीजिये। गीतामें स्थितप्रज्ञ नाम प्रथम अजुनके ही प्रश्नमें आया है।

भगवानके परमप्रिय आत्मार्थी शिष्य अजुनने साधकाके लिअे यह नाम दिया है।

स्थितप्रज्ञका अर्थ है आत्मनि स्थिता प्रतिष्ठिता प्रज्ञा बुद्धि यम्य म — जिसकी बुद्धि 'म आत्मा हू भूतसध नहीं असी भावनामें स्थिर हो चुकी है, दृढ हुआ है वह स्थितप्रज्ञ है।

अव भगवान अुनके मिद्व हूअे स्वभावका वणन करत है। दुनियाके लोग धन अश्वय अधिकार और अुपभोगके पीछे दौडने हैं। स्थितप्रज्ञ मनमें अुठनेवाली जिन सब वामनाआको फेंक दता है। फग्न अमा मनुष्य न किसीस डरता है न किसीक वगमें आता है।

वह 'स्वात्मनि सतुष्ट' हानेके कारण अुसे न कोअी खरीड सकता है न धमका सकता है।

वेदान्तमें दुनियावी आकषण अथवा वासनाके तीन प्रकार बनाये ह वित्तपणा लाकषणा, पुत्रपणा। धन-अधिकारकी अिच्छाको वित्तपणा कहते हैं। अपना जीवन अपने शरीरमे, अपनी आयुसे अधिक बड जाय कीर्ति और प्रभावके रूपमें हमारा जीवन देग और कालमें व्यापक बन

जाय भैसी भिच्छाका लोभपणा कहते ह। महामाराजी कसामें माई पणारा विस्तार बितना हा सबता है भिग्वा भुनहरण स्या है।

सागरी ओषणा हाती है पुत्रपणा। दिन भणगारे अर दर रैन करव भुनवा अपन स्वभाव अपन आत्मा और धन प्रतिष्ठा भानी हैमियत दर अहैं अपने सस्नारगि सग्न करवे भुनक द्वारा जानवी और (मरणक यग हाा हूअ भा) मरण पर विजय पानवी और भक वगम अमर होनका पागता हाता है। अिन तीन प्रकारका वासनाप्रति जो भुक्त हुआ वही आत्मनि सुप्त होगा।

असका जीवनमें रहन मुग-नुराव प्रसग ता आ ही जाव। मुग प्राप्त हान पर भुसवे प्रति अनुराग हाता भगता लालच बडना और दुख आने पर अससे भय पाना और असक प्रति मनमें शोध लाता यह मनुष्यका स्वभाव है। किन्तु स्थितप्रण अिगतो भूषा भुक्ता है। अनुरागि भय शोध वह छोड देता है। दुग भा पर भुनारा मा भुद्धिग नहा हाता सुख पान पर यह लालचमें नहो पमता। भिगातिभे भुमे स्थितप्रण कहत ह।

जिस तरह किमी राजाको काभी छागीसी वस्तु भेंट दी जाय तो वह आपसे बाहर जाकर हप-मुलकित नही हाता अती तरह आभारा बभव और स्वानन्-साभ्नाय जिसन पहचान लिया वह किना गुभ अथवा अिष्ट वस्तुकी प्राप्तिसे गदग होकर असका अभिनन्दन नही करेगा और आत्मवीर होनेके कारण वह अनिष्ट अगुम वस्तु आ पडने पर अससे दव नही जायगा और अुतरा द्वप नही करेगा। हर्ष और विपादके कारण बुद्धि मन्द हाती है। दोनासे जो भुक्त है अमे आत्मवीरकी प्रज्ञा स्थिर प्रतिष्ठित रहेगी।

हमार शास्त्रकारान कछुअके दृष्टातसे दो काम लिये ह। कछुअका दृष्टात भगवानको भी दिया जाता है और असके भक्तका ना। कहा जाता है कि कछुअी अपने बच्चाको खिलाता पिलाती नही है केवल जहा वही भी हो वह अपने बच्चाकी जोर प्रमदृष्टिसे देखती है और भुसकी दृष्टिके अमृतसे ही बच्चाको पोषण मिलता है। भगवान अमी भूमदृष्टिसे ही अपने भक्ताका पालन करत है।

भक्ताके लिअे भी कछुअेका दृष्टान्त दिया जाता है। तनिक् भी खतरा दीख पडा तो कछुआ अपने हाथ-पर और सिर अदर खीचकर अपनी पीठरूपी ढालके अन्दर सुरक्षित हो जाता है। यह सबकी देखी हुअी बात है। अुसी तरह जब अिद्रियाको फसानेके लिअे विषय नजदीक आते ह तब हमारा यह साधक प्रमादमें न फमकर अपनी अिद्रियाका खाच लेता है और अिस तरहस सुरक्षित रहता है। किन्तु यह हुअी बाह्य सुरक्षितता। अिसस आदमी सचमुच वच नही जाता। विषयाका केवल सवन नही करनेस वे दूर होते ह मही, किन्तु अुनकी चाह नष्ट नहा होती। वह ता बीज जसे वारिणीकी राह देखत ह वसे राह देखती पडी रहती है। आत्म-दशन हान पर ही वह चाह सूख जाती है या जल जाती है।

अिसके बाद अिद्रियाका आक्रमण कस हाता है सूक्ष्म अघ पातमे स्पूल अघपात कमे बढता है यह सब पतनका क्रम बताकर भगवान बहने हं कि सब अनथका मूल कारण है विषयाका ध्यान। अुसे छाडनस बुद्धिमें स्वास्थ्य प्रसन्नता, निमलता यानी प्रमाद आता है और असे प्रमाद ही बुद्धि साफ हाती है। बिना योगके यह साध्य नही है। मयम और योग जागृति और सतत प्रयत्नके द्वारा आत्म-दशन किया, ता मनुष्यकी स्थिति समुद्रके समान गभीर होनी है। सब नदियाकि जल भर कर लाने पर भी समुद्रमें बाढ नही आती और बारह मास सूयके लपनेस समुद्र सूख नही जाता। जो कामवासी है अुसे असी मागर शान्ति नही मिलती, जो आत्मतप्त है निस्पह निमम निरहकार है अुनीका शान्तिका स्वराय मिलता है। अुसकी अुम भव्य स्थितिको बाह्यी स्थिति कहा है कयाकि देह छोडने पर वह सीधा ब्रह्म-शक्तिमें ही लीन हो जाता है।

अेक प्रनाकी शुद्ध, जाग्रत और स्थिर रखनेस यह मारा वभव प्राप्त होता है।

स्थिरा हृद्या [१७-८]

सात्त्विक आहारके लक्षण बनानेवाले जो शब्द आये है अुनमें रम्य स्थिग्य तो स्पष्ट हैं। अिनमें रम है जैम फलामें होता है और जो

स्वादिष्ट हाते ह बुहे रस्य कहा है। जिन पदार्थोंमें तेल घी आदि
 पौष्टिक तत्व हैं बुहें स्निग्ध कहा है। स्नह यानी तेल अथवा घी।
 हृद्य यानी हृत्पत्रको सतोप देनवाले और आरोग्यके लिये
 लिप्तकर। स्थिरका अर्थ होता है कायमी पुष्टि और प्राण बढानवाले।
 ससृष्टतम मित्र आन्त्रिके तीक्ष्ण स्वात्को कटु कहते ह। भाषामें
 कट कहत ह कडुअको। जितना भद्र ध्यानमें रखना चाहिये।
 (हृद्य गल भी देख लीजिये।)

स्पर्शा [२-१४ ५-२२ २७]

√स्पर्श (सस्पर्शन) स्पर्श करना सम्बन्ध होना।
 जब जिद्रिया अपन अपन विषयाके सम्पर्कमें जाती ह विषयाका
 स्पर्श करती ह तब अह जो अनुभव होता है वह या ता सुखदायक
 होता ह या दुःखदायक।

स्पृहा [४-१४ १४-१२]

√स्पृहा (अप्रीत्यायाम) चाहना लालच रखना।
 स्पृहाका अर्थ है सबसामाय वस्तु विषय तृष्णा लालसा। लाभका
 ही यह अर्थ रूप है। जो कम करता है बुसे असका कम ज्यादा
 कट मित्रता है। असने वारेमें तटस्थ रहना मनुष्यको शोभा देता है।
 कटका वामना ही छोड दना योग्यका माग है। कमफलक लिज तथा
 भुगम अधिक लाभके लिये लागायित रहना (जिसे स्पृहा कहते ह)
 मनुष्यका अकर्म नीचे गिराना है। असी स्पृहाक कारण रजोगुणी
 मनस्य बढत कुछ पुरुषाय करन पर भी बूचा नही चत्ता।

स्मृति [१०-३४ १५-१५ १८-७३] स्मृतिभ्रश
 [२-६३] स्मृतिविभ्रम [२-६३]

√स्मृ (चिन्तायाम्) याद रखना मनमें लाना। स्मृतिमें चानका
 अपचिन्ति और अन्त करणकी जागृति दा वार्ने आती ह। मनुष्यने जा
 कुछ नी दसा है सुना है अथवा अनुभव किया है बुस वह प्रपतया

कभी भूल ही नहीं सकता। जिस तरह अपनी स्मरण शक्ति पर पूरा विश्वास नहीं रखा जाता, उसी तरह विस्मरण-शक्ति पर भी विश्वास रखना कठिन है। कभी कभी वेमौके पुरानी बात अचानक याद आ जाती है जिसे हम मानते थे कि मनस हमणाके लिजे चगी गयी है। कहते हैं कि भरणके समय मन अतनी अत्युत्तमास मारे जावनकी समालोचना करता है कि वचपनस हुअे मवकं सब प्रयान अनुभव जाग्रत हा जाते ह। अिमालिअे गास्त्रकार कहते हैं— अन्त मति सा गति ।' भूल-बुरे सब सस्काराका अेकत्र स्मरण हानेक बाद जो सस्कार प्रभावगाली हा जुन्हाका मार साथ लेकर मनुष्य जिस जमका छाडता हागा और वही मार अुसके नये जमका पूना वा मर्यांग हाती होगी।

यह हुआ स्मृतिका सावभौम रूप। अब विस्मृति अुमे कहते ह कि जब मौका आ पडने पर वस्तुआका स्मरण नहीं होता। ना लोग मनका अेकाग्र कर सकते हैं अुनकी स्मृति तेज रहती है। आ लाग निस्पृ रहते हैं अुनकी स्मृति भी गुद रहती है। आ मनुष्य कामुक है, लामो है या श्राघस अथा हुआ है अुसकी स्मृति तो अुमे छाड ही जाती है किन्तु अुसके अन्त करणकी जागृति भी अुस छोड जाती है। फिर वह न करने लायक काम भी कर बठता है और करनेके काम मौके पर भूल जाता है। फलत अुसका आत्म विश्वास और आत्म-मम्मान दोना नष्ट हाते ह। अस स्थितिको स्मृतिभ्रम या स्मृति विभ्रम कहते ह। अससे बुद्धिका नाश होना है और बुद्धिनाशका ही अय है सवनाग।

स्वकर्मनिरत [१८-४५]

स्वधर्मका जिमे गुद पान है वह समय समय पर अपना स्वकर्म सुरन्त पहिचान लेना है और बिना किमी प्रमादके अुनीको करता है। अब कर्मका सिद्धान्त है कि कतव्य प्राप्त स्वकर्म न करनेस मनुष्य गिरता है और स्वकर्म छाडकर जो अय कर्म करता है वह भी वचनमें आ पडता है। अेकमें कतव्य-अ्युक्तिका दाप आना है और

दूसरमें आरम्भरा दोष या गणामत्राया दार। अिन दाता शोभासे मुक्त हरखेक मनुष्यका अुविन कम वण और आश्रमसे अनुगार निश्चिन किया गया है। अुग अपने स्वकममें अभिरता मनुष्यको जीवन गिद्धि मिशनी है क्वाकि मनुष्य पादे ता अुग कमका भा मणवानकी अम्यचना बना गयता है (१८-४५ ४६)।

गनाम वृत्तिग कम करनत बधन पना हाता है। कमपणर त्यागग कमक स्वाभाविक दापग भी हम मुक्त हात ह। अिन पणरपाणक अुपरात अगर स्वकम भी हम भगवानकी पूजाक रूपमें करत है ता वह अुत्तम पण देता है। भक्तिकी वृद्धि होता है और मागणी गिद्धिका भी मनुष्य अधिवारी होता है।

स्वजन [१-२८, ३१ ३७, ४५]

स्वजनका अय है रिशतगार कुटुम्बीजन अपन पणक लोग। अजुनके मनमें गवसाधारण युद्ध विरोधकी युक्ति नहा थी वह अहिंसास प्रेरित नहा हुआ था। अपन कुटुम्बीजन और गुरुजन ही युद्ध करनके अिअ अुपस्थित हुआ ह (१-२६ २७) यह दगकर अुगक मनमें कृपा पदा हुआ। स्वजन-वात्सल्यके कारण वह युद्ध विमुग हाता चाहता था। भगवानने अुसे समझाया कि जो जानी है योगी है, पणपान रहित है व स्वजन-परजनका भेद नहीं करते।

अपम निज परो वेति गणना लघुचेतताम।

अुदारधरितानाम तु वसुधय कुटुम्बकम ॥

यह आदमी अपना है यह पराया है असे हिंसाक ओछे लोग ही रखत ह। छात्र मनक लाग ही आप-पर भाव मनमें लाते ह। किन्तु जा अुदार हूय ह, जिनका धरित्र अुदार है महान है अुनके लिअे यह नारी पृथ्वी भी अक छोटासा कुटुम्ब दिग पडता है। [ससृष्टमें गणुआक लिअे अेक गब्द है सपत्न (११-३४) जिसका अमली अय है विमाताका पुत्र। हमारे गणु भी हमारे भात्री ही ह जिसलिअे अुनने पगडा हुआ ता भी यद भुलना नहीं चाहिये कि वे हमारे भात्री ही है। अुनका नाग या अहित नहीं करना चाहिये।]

स्वधर्म [३-३५, १८-४७], स्वकर्म [१८-४५, ४६],
 परधर्म [३-३५, १८-४७], सर्वधर्म [१८-६६], देशधर्म,
 कालधर्म

अब ही मनुष्यके, परिस्थितिके अनुसार अनेक धर्म होते हैं।
 पारारम्भिकके अब टीकाकारने नीचेके धर्म बताये हैं

दाघर्म कालधर्म, कुलधर्म जातिधर्म शरीर धर्म, वयोधर्म गुण
 धर्म और आपद धर्म। दशकाल तथा परिस्थितिके अनुसार धर्म बदलत
 रहते हैं। वृण और आश्रमके अनुसार भी धर्मभेद होते हैं। अतः सबका
 प्रत्येक प्रसंग पर विचार करके स्वधर्मका निश्चय किया जाना चाहिये।
 स्वधर्ममें जो चीज नही बैठती वह या तो अधर्म है या परधर्म है।
 अधर्म तो बुरा है ही, किन्तु परधर्म भी बहुत बार अनुभव-परिणामी
 और अज्ञानके भयावह होता है (३-३५)।

मनुष्यके जन्मे धर्म अवश्य होते हैं कि जो सबके लिये समान
 हैं। अनाको (स्वधर्म और परधर्मके अन्त) स्वधर्म कहना चाहिये।
 मनुस्मृतिमें अहं सावर्णिक धर्म कहा है। अहं हम सावर्णिक धर्म
 ही कह सकते हैं। यह सबसमान धर्म ही धर्मका प्रधान अंग है।

गीतामें जहाँ 'सर्वधर्मान्' शब्द आता है वहाँ अपूर्णका अर्थ नहीं
 है। वहाँ तो केवल दशधर्म कालधर्म आदि साधारणिक धर्मोंका ही अल्लेख
 है और जन्म धर्मोंका परित्याग करके (१८-६६) अश्वरकी ही गणना
 जानेका उपदेश किया है। अतः हम प्रपत्ति धर्म अथवा प्रपत्ति-योग
 कह सकते हैं (२-७)।

स्वभाव [५-१४, ८-३]

स्वभाव मनुष्यकी असली स्थायी प्रकृति होता है। अब या अनेक
 जन्मके सब संस्कार मिल करके यह स्वभाव कौड़ी कायमी रूप ले
 लेता है। जिस तरह गीला करना पानीका स्वभाव है जलाना अग्निका
 स्वभाव है, असी तरह हरअके मनुष्यका स्वभाव भी बना हुआ रहता
 है। फल यह है कि जब भूत अपना स्वभाव बदल या छोड़ नहीं
 सकता, परन्तु मनुष्यका विसा नहीं है। यद्यपि अनुभव कहता है कि

स्वभावो दुरतिश्रम (स्वभावको लग्न जाना करीब करीब अशक्य है।)। गीताने भी कहा है 'प्रकृतिं याति भूतानि' (प्राणीमात्र अपनी अपनी प्रकृतिका ही ढग लने ह अपने अपने स्वभावके पीछे चलत ह), तो भी जम्मास और वराग्यके साधनसे स्वभावमें फक किया जा सकता है।

जिसका कारण यह है कि हरअेककी आत्मा मूलमें गुड बुड नित्य और मुक्त रहती है। वह शुभकारी और सबसमय होती है। उसके अपर अनानके और वासनाके पटल आनेसे उस जीव-दशा प्राप्त हानी है। जिस जीव-दशाके सब सस्कार चाहे जितने मजबूत हा दाघ और अुत्कट साधनाके द्वारा व धोये जा सकते ह। साधना और जीश्वर-कृपा अेक जसा तेजाव है कि युसमें सब दोष गल जात ह जड जाते ह। जिसीलिअे कहा है

निसगश्च स्वभावश्च अित्येव भवति द्विधा
निसग सुददान्यासजय सस्कार अुच्यते
जजयस्तु स्वत सिद्ध-स्वरूपो भाव अुच्यते

गीताने कहा है 'स्वभावो अध्यात्मम अुच्यते।'

प्रत्येक शरीरमें परब्रह्मका जो अतरात्मभाव है उसका नाम है अध्यात्म। अध्यात्म या स्वभावके लिअे योग्य अंग्रेजी शब्द Personality है।

स्वगपरा [२-४३]

जिस दुनियावी जीवनक अन्तमें क्या प्राप्त होनेवाला है अथवा क्या प्राप्त करना चाहिये जिस विषयमें प्रत्येक धर्ममें कुछ न कुछ कहा ही है। मरणके बाद कुछ है ही नहीं जसा कहनवालाको लावा यतिक अथवा चारुवाक कहा है। अिह नास्तिक भी कहा गया है। जा आस्तिक हाते ह वे मानते ह कि मृत्युक बाद या तो मनुष्य स्वगमें जाता है या नरकमें जाता है या किसी अय लोकमें जाता है। वहा दीघकाल रहनक बाद फिरसे किसी न किसी यानिमें जम लकर अिम दुनियामें फिरसे आना है। लेकिन अगर अुत्तम

वराह्य-साधना कर तो जहा पुनजन्म नहीं है और स्वर्गादि लोक भी नहीं हैं, उसे मासको अथवा ब्रह्मनिर्वाणको पाना है। यही सबसे श्रेष्ठ स्थिति है। जिमीकी प्राप्तिके लिये जीवनका सदुपयोग करना चाहिये। गीताका यही अभिप्राय है। गीताके तत्त्वज्ञानका अन्तर-भीमासा अथवा वेदान्त कहते हैं।

पूव-भीमासावादी लोग मोक्षको नहीं मानत। जूनके अनुसार मन यागादि कम करके मन्त्र-देवताका सतुष्ट करना और मरनेके बाद स्वर्ग प्राप्त करना ही सबसे श्रेष्ठ पुण्याय है। जिसीलिये उसे लागका स्वर्ग-परायण अथवा स्वर्गपर कहा है। स्वर्ग ही है परम् अयनम्' जिसका वह स्वर्ग-परायण है।

स्वर्गमें कभी भी बूढ़े नहीं होनेवाले और कभी नहीं मरनेवाले देव रहते हैं। व अमृत नामका स्वादिष्ट पय पीते हैं अप्सराओंके गान सुनते हैं कभी सोने नहीं बुनकी आर्वे कभी पलकती नहा।

जा मनुष्य यत्नादि करके स्वर्ग जात है व कमदेव है। जब तक बुनका पुण्य सत्तम नहीं हो जाता है तब तक ही व उसे स्वर्गमें रहते ह, देवके समान आहार विहार करते हैं। बुनके स्यात छाटे व या अपर नीचे हानक कारण वे आपसमें शीषा और अभिमान करते ह और पुण्य क्षीण हाने पर नीचे ढकल जात ह। जमे स्वर्गकी जिहें कामना है व स्वर्गपरा कहलान है। जमके लिय समाधि सिद्धि कठिन है।

जो लो स्वर्गमें हाते ह व आखिरकार जिहलानके जिद्रिय जन्म मुक्त (साधाधित और परिवर्धित सस्वरणक रूपमें) चाहते हैं। बुन स्वर्ग-भुनके लिये जिहलानके मुक्तका त्याग करना अहाचयका पालन करना यह लो परलानके मुक्तके विवास पर ही निभर है। वचनमें समय रहनेमें प्रीत युवासस्थामें दाम्पत्य-भुन अच्छा मिलेगा, उसे निवारा हिमावकी अपना जिनका मूल्य अधित नहीं है।

बुच्च जीवनका मयाल रहनेवाते लाग जिहलानमें वराह्यमूलक गयम पगद कर्त है। बुनके लिये मरणात्तर स्वा नहीं किन्तु मास अभीष्ट है।

स्वर्गकी अिद्रिय-सुखमूलक कल्पना सब धर्मोंमें है और सब धर्मोंके सन्ताने बराग्यका अथवा भक्तिका पुरस्कार करके स्वर्गको गौण बनाया है।

स्वर्ग [२-३७, ४३, ९-२०, २१], स्वर्गलोक [९-२१]

सब धर्मोंकी पौराणिक कल्पना है कि स्वर्गलोक जिस मृत्यु भूमिके परे वही है। या तो आवागमें या अुससे भी अुपर है या जमीनके अदर।

आजकलके लोग कहते ह कि ज़मी भूमि पर और इसी जीवनमें आदश रूप रहनेसे स्वर्गका अनुभव होता है।

स्वाध्याय [४-२८, १६-१, १७-१५]

स्व + अधि + √ध्य (चिन्तायाम) ध्यान करना। अपने सस्कार बनानेके लिअे वेद अुपनिषद् गीता आदि ग्रंथका जो नित्य पाठ किया जाता है अुसे स्वाध्याय कहते ह। व्यवहारके लिअे जो कुछ विद्या सीखी जाती है अुसे स्वाध्याय नहीं कहते। इसीलिअे श्री शंकराचार्य लिखते ह "स्वाध्याय अदष्टायम अध्वयनम" — अदष्ट कामके लिअे जो अध्वयन किया जाता है वह स्वाध्याय है।

जो ग्रंथ हमें जीवन-दृष्टि देते ह और हमारे चारित्र्यके सस्कार दृढ करते ह अुनका नित्य पठन-मनन करना अति आवश्यक है।

सब वर्णोंका आदश और चारित्र्य स्थिर रखनेका कतव्य ब्राह्मणोंका माना जाता था। इसलिअे जुहू वर्णाश्रम धर्मके आध्यात्मिक-सामाजिक आदर्शका अपना पान हमेंगा अुपस्थित, जाग्रत रखना पडता था। इसीलिअे व स्वाध्याय-परायण होते थे। अगर समाज-गुह ब्राह्मणोंका स्वाध्याय कायम रहा तो समाजका स्वास्थ्य टिकगा। अगर अुनका स्वाध्याय मलिन हो गया तो समाज गिरेगा। इसीलिअे गीताने स्वाध्यायको यत्न कहा है।

तत्तिरीयोपनिषदमें (१-९) शिक्षाध्यायके नव अनुवाकमें ब्राह्मणोंक कतव्य क्या है जिसके विषयमें भिन्न भिन्न अपिषोके अभिप्राय दिवें

हैं। जिनमें स्वाध्याय और प्रवचन जिन दोनों पर सबने भार दिया है। स्वाध्याय और प्रवचन ही ब्राह्मणका तप है जैसा भी ब्रह्मसंहिता में कहा है। ब्राह्मणोंके लिये जो अंतर बातें लिखी हैं व भी स्वाध्यायके साथ आनेके कारण यहा ध्यानमें लेने लायक है—अतम, सत्यम, तप, अग्नय, अग्निहोत्रम्, अतियय, मानुषम, प्रजा, प्रजन, प्रजाति, सत्यम तप । जिन सब बातोंका स्वाध्याय और प्रवचनके साथ अनुशीलन करना महत्त्वका है ही।

हर्षामयभयोद्वेग [१-१२, १२-१५, १८-२७]

√हृप् (तुष्टौ) सन्तुष्ट होना, अलसित होना रागटे सडे होना (१-२९ १८-२४) । अमय = त्राघ । √मृप् (सहने, तितिशायाम्) सहन करना, क्षमा करना । जिस परसे अमयका अय होता है सहन नहीं करना, असहिष्णुता त्राघ, वेग । अद्वेग = चिन्ता अस्वस्थता । अद् + √विज् (मय-चलनयो) ।

प्राकृत मनुष्य स्वभावतया हृष, श्रोध भय अद्वेग अित्यादि वृत्ति यासे दब जाता है। पानी और भक्त योगी सुख-दुःखने, हृष-शाकसे अर्थान् हृष अमय, भय अद्वेगसे मुक्त रहता है, जिनके प्रभावके नीचे नहीं आता ।

हृष और शोकने अभिभूत होना मनुष्यकी प्रतिष्ठाके लिये हानिकर है । हृष और शोकका अनुभव मनुष्यको भले ही हो, किन्तु वे सिर पर नवार होकर हमें अपना दास बनाकर नचावे अथवा दबा दें यह आत्म प्रतिष्ठाके लिये शोभादायक नहीं है ।

हितम् [१८-६४], प्रियहितम् [१७-१५], सबभूतहितम् ५-२५, १२-४], हितकाम्यया [१०-१]

√धा (धारण-पोषणयो दाने च) अथवा √हि (गतो) । हित = लाभ कल्याण योग्य, अनुकूल । जिस सिलसिलेमें श्रेय और प्रेयका विवेचन देखिये । वहीं पर प्रिय और हितका भी अय दिया है । अहिक और पारलौकिक दोनों प्रकारका कल्याण जिनमें है असी

हिततम बात भगवानने गीताके अन्तमें अपने अिष्ट शिष्यसे कही है (१८-६४, ६५, ६६) कि सब बातें छोडकर अन्तरात्मा परमात्माकी ही शरण जाना, अुसीकी भक्ति और अुपासना करना ।

हिंसा [१३-२८, १८-२५, २७]

√हिंस् (हिंसायाम्) मारना, कतल करना नुकसान पहुंचाना, दुख दना ।

जब तक मनुष्यमें द्वेषभाव है आप-पर भाव है सकुचित स्वाय है सर्वात्मक्यका अभाव है तब तक हिंसावृत्ति कम या अधिक रहती है । अुमे दूर करना ही धम है । हिंसा गरीरकी प्रकृति है और अहिंसा आत्माका धम है । अिन दानके बीच सनातन गजग्राह अथवा खीचातानी चालू रहती है । अिनमें हिंसाको दबाकर जब अहिंसा प्रभावशाली होती है तब मानवता बढ़ती है सस्कृतिकी प्रगति हाती है और अध्यात्म परिपुष्ट होता है । जब सर्वात्मक्य भाव स्थिर हाता है तब हिंसावृत्ति समूल नष्ट होती है (१३-२८) । हिंसा तमागुणका लक्षण है और अहिंसा सत्त्वगुणकी ।

हृदयदौर्बल्यम् [२-३]

निश्चय शक्ति निश्चय शक्ति प्रतिज्ञा-पालनकी शक्ति ये सब शक्तिया केवल विचारसे नहा प्राप्त हाता । यह सब हृदयका गुण है । मन्त्रल्य शक्ति — Will power का अुत्पन्न हृदय — Emotion — से हाता है । मन्त्रल्य शक्ति अगर क्षीण हुनी ता कहते हैं कि यह हृदय-दौर्बल्य है । शत्रियाके लिअे हृदय-दौर्बल्य लज्जाजनक दाप है । [अतिहासिक कालमें भारतीय प्रजाते अेक राजाका वध अिमलिअे शिया कि यह प्रतिज्ञा-पुत्र था ।] दुर्घोषन आदि शत्रुआका व आगिरवार स्वजन हा हैं अुन्हें कस मारू असा कृपाम जत्रुनमें हृदय-दौर्बल्य आया कृआ दक्कर भगवानने प्रथम अुसकी निभत्सना का और कालमें अुम अामनान देकर अुमकी हृदय-शुद्धि की ।

हृदय [१-१९, ८-१२, १३-१७, १५-१५], हृद्देश
[१८-६१], हृत्स्यम् [४-४२]

हृद् और हृदय एक ही शब्द है। जिसका अर्थ होता है प्रेम, द्वेष हृष अित्यादि भावनाआका उत्पत्ति-स्थान। अपुनियदामें प्राणको और आत्माको भा हृदय कहा है और हृदि+अयम्=हृदस्थानमें रहनेवाला अमा अर्थ बताया है। अुसीको महाभारतमें हृद्+शय कहा है। जिस अर्थमें अुसके लिये पुरुष शब्द भी आ सकता है [पुरि (गरीरे) गैते=पुरुष]।

शरीरमें जहा छातीके बायें ओर खूनका पम्पिंग चलता है अुस स्थानका भी हृदय कहते हैं।

जब हृष शोक, प्रेम द्वेषादि Emotions का वेग बढता है, तब हृदयमें या तो खून अेकदम बढता है या कम होता है, निचोया जाता है। जिसलिये लोगाने मान लिया है कि भावना वासना, विकार आदि Emotions का स्थान यह हृदय यानी Heart ही है। किन्तु प्रेम द्वेषादि भावनाआका अुद्गम मस्तिष्कमें ही होता है। 'हृत्' नामक यह स्थान शरीरके किसी हिस्सेमें ढूढनेकी आवश्यकता नही है।

हृद्य [१७-८]

हृदयप्रिय। हृदयको जो चीज माती है, अनुकूल हाती है, प्रसन्न करती है अुसे हृद्य कहते ह। जो रस जिह्वाको पसन्द आता है अुसे भी हृद्य कहते ह और जो काव्य दिलको माता है अुसके रसको भी हृद्य कहत ह। आहारमें हृद्य तत्व वे ह जो मधुरता देते हैं, अुहें Carbohydrates कहते हैं।

हेतु [१-३५, ९-१०, १३-४, २०, १८-१५,],
फलहेतु [२-४७, ४९], हेतुकम् [१६-८, १८-२२]

√हि (गती+तु=कारण अुद्गै प्रेरक कारण।)

हेतुमदभि (ब्रह्मसूत्रपद)

न्याय या तर्कशास्त्रकी पद्धतिके अनुसार जिसमें काय-कारण भाव बताया है उसे।

ही [१६-२]

√ही (लज्जायाम्) लजाना, शर्मिदा होना ।

ही का अर्थ है लज्जा, वीरता, शर्म । कोसी खराब काम करनेकी बात सामने आते ही जब मन खूब अडुठता है तब अनुभव करता है तब उसे ही कहते हैं । ही चारित्र्यकी खुराक है । केवल खराब काम ही नहीं किन्तु अविनयका काम करते भी सज्जनाको ही मालूम होती है । उसे अपने पराक्रमका वर्णन करना, अपने दिये हुये दानको प्रगट करना इत्यादि ।

शब्दोकी सूची

[गीताके कुल पदाकी सख्या लगभग ३८३२ या ३८६५ है।
अिनमें मे यहा करीब ७४५ शब्द मननयाग्य समयकर लिये ह।
अिन करीब साठे सात सौ शब्दामें से भा जिन शब्दाका विशेष मनन
करना गीता चित्तनके लिअे खास अुपयोगी है अुहे सूचिमें तारकाकित
किया है। असे शब्द करीब ३११ होंगे। गीताप्रेमी सज्जन समय-
समय पर अिन शब्दाका मनन करत जाय, ता हमें विश्वास है कि अुनका
गीता चित्तन परिपुष्ट होगा।

गीताभक्तिसे प्रेरित होकर ही यह मनन गीताभक्ताके सामने
रखा है। अेक गीताप्रेमी दूसरे गीताप्रेमीसे जब वार्तालाप करता है
तब मनमें कोअी अयया-भाव अुठ ही नही सकता। यही विश्वास
अिन प्रवृत्तिके पीछे है।]

- | | |
|----------------------|-------------------|
| * अकम ३ | अभित्वम् १० |
| अकृतबुद्धि ४, १९७ | * अद्रोह १२ |
| * अकृतबुद्धित्वात् ४ | * अद्वेष्टा १२ |
| * अकृतात्मा ४ | अधर्माभिभव १३ |
| अकृत्स्नविद् ९९ | अधिकार १३ |
| * अक्रिय ५ | * अध्यात्मचेता १३ |
| अक्रोध १०२ | * अध्यात्मम् १४ |
| अघम् ६ | अनयचेता १५ |
| * अघायु ६ | अनयभाक १६ |
| * अघापलम् ६ | * अनययोग १६ |
| * अपानम् ७ | अनश्नत १० |
| * अनपस्काय ९ | * अनसूया १६ |
| अतिमान ९ | * अनहवादी १७ |
| अतिमानिता ३५ | अनामयम् १८ |
| अत्यश्नत १० | अनारमान् ६४, २९९ |

- जनायजुष्ट १८
 * जनिक्त १९
 अनिर्विण्णचेतस् २० १७५
 * जनुद्विग्नमना २०
 जनुद्वेगकरम् २०
 जनुप्रपन्न २०१
 * अनुबन्ध २१
 अनुमत्ता २१
 अनुगासितारम् २२
 * अनुस्मरणम् २२
 * अनन्वयमसिद्ध २२
 अन्तराराम २३
 * अतर्ज्योति २४
 अतर्मुख २४
 अन्तवासी ५७
 * अन्नम् २४
 * अयदेवताभक्ता २५
 अपरा २६
 * अपरिग्रह २६
 अपलायनम् २७
 अपहृतचता २८
 * अपुनरावृत्ति २८
 * अपाणुनम् २९
 अपाहनम् ३०
 अप्रकाश १९४
 * अप्रवृत्ति ३१ २०४
 अप्रप्रप्नु ३१
 अपलाकाक्षी ३१
 * अवृद्धि ३२

- * जभक्त ३२
 * अभयम् ३३
 * अभिक्त्रम् ३४
 अभिजात ३४
 अभ्यसनम् ३५
 अभ्यास १९३
 * जन्म्यासयाग ३५
 अमानित्वम् ३५
 * अमृतम् ३६
 अम्बुवेग २६६
 * अयत्न ३८
 अयति ३९ २४३
 * अयुक्त ३९
 अरतिजनससदि ४०, ११८
 अथकाम ४०
 * अथ ४१
 * अर्थार्थी ४२
 * अपितमनोबुद्धि ४३
 * अलोलुप्त्वम् ४३
 * अल्पमेधा ४४
 * अविधिपूर्वकम् ४५
 * अविभक्तम् ४५ २६१
 अयक्त ४६
 * अयभिचार ४७
 * अयवसायी ४८
 अशास्त्रविहितम् ४८
 अगुचिद्रता ५०
 असक्तबुद्धि ५१
 असक्त ५१

- अनवनाना ५१
- * अनगन्धेन ५०
- अमन ५२
- अनन ५२
- अमत्कृतम् ५३
- अमकृत ५३
- * अमप्राहान् ५४ २३८
- * अहकार ५४
- अहजन ५५
- * अहिमा ५५
- * आचार ५६
- * आचार्योनामन ५७ ७
- आततापिन ५९
- * आमनूष ५९
- * आत्मबुद्धिप्रसाद ६०
- आत्मयागान् ६०
- आत्मरति ६१
- * आमवान् ६१
- आमविनिग्रह १७१
- आत्मविभूतय २६२
- आत्मविगुह्ये २६४
- आमजमाविता ६२ ३०३
- * आमा ६२
- * आत्मोपम्य ६३
- * आरभ ६४
- * आश्रयन ६४
- * आन ६५
- * आवर्तिन ६६
- * आथम ११२

- आसनम् ६६
- आसने ६६
- * आनुर ६७
- * आस्तिवयम् ६८
- * जाहार ६९
- अिच्छाद्वेषसमुत्प ७०
- * अिन्द्रियकामि ७१
- अिन्द्रियग्राम ७१
- ओग ७२
- * जीश्वर ७२
- वीश्वरभाव ७२
- * अुन्नकुल्यम ७३
- युत्माह १६७
- अुदार ७४
- अुदासीन ७५
- अुदासीनवत् ७५
- * अुपरम ७५
- अुनामना ७५
- * अुष्मपा ७६
- * अुत्तम् ७७
- * अुत्तु ७७
- * अुपि ७८ १५३
- अेकमवित ७९
- * अेकस्य ७९
- * अेकाग्रम् ८०
- अोरपि ८०
- * आम् ८१
- अरान् ८२

करणीय ८२
 कृतय ८२
 कर्ता ८३
 कर्तारम् ८३
 * कम ८३
 * कमवध ८४
 * कमयोग ८६
 * कमसयास ८७
 कल्याणकृत् ८८
 कवि ८८
 कामकाम १५७
 कामधुक् ८९
 * कामरागबलाविता ८९
 कामरागविर्वर्जितम् ८९
 * काम ९०
 कामात्मा ९०
 कामोपभोगपरमा ९०
 * काम्य ९०
 * कायक्लेशभय ९१
 * कापण्यलोप ९१
 काय ८२
 * कार्यावाययवस्थिति ९२
 कालधम ३१९
 * काल ९३
 कालेन ९३
 * कीर्ति ९४
 * कुलधम ९५
 कटस्थ ९८
 * कृतकृत्य ९८

कृतनिश्चय ९८
 * कृतांते ९९
 कृत्स्न ९९
 कृत्स्नकमकृत् ९९
 * कृत्स्नविद् ९९ १००
 कृपण ९१, १००
 * कृपा १००
 * कौशलम् १०१
 क्रतु १०२
 * क्रोध १०२
 * क्षत्रकम १०३
 * क्षमा १०४
 * क्षमी १०४
 क्षात्रधम १०३
 क्षाति १०४
 * क्षेत्रम् १०६
 * क्षेत्रम् १०६
 ख १०७
 गति १०७
 * गुण १०८
 * गुणकमविभागम् १११
 * गुणातीत ११०
 * गुह्य ११३
 * गौरक्ष्यम् ११४
 चक्र ११५
 * चलितमानस ११५
 चातुर्वर्ण्यम् ११६ २५५
 * चित्तम् ११६

- चेतस् ११६
 चलाजिनकुणोत्तरम् ११७
 * छिन्नद्वधा ११७
 छिन्नसगय ११७
 जगत् ११८
 * जनमसदि ४० ११८
 * जमबन्धविनिमुक्ता ११९
 * जपयण ११९
 जातिधर्मा १२१
 जिगीषताम् १२१
 जिजीविषाम १२१
 * जितमगदोषा १२२
 जितारमा १२२
 * जितेन्द्रिय १२२
 * जीवभूत १२३
 जीवभूताम् १२३
 पानचक्षु १२४
 पानगम्यम् १२८
 * पानतपसा १२४
 पानदीप १२४
 पाननिर्भूतकल्मषा १२५
 पानप्लव १२४
 * पानयण १२५
 * पानयोग १२६
 * पानयागव्यवस्थिति १२६
 * पानसग १२८
 पानसन्धिन्नसगय ११७
 * पानम् ७
 पान सविज्ञानम् १२७
 पानाग्नि १२४
 पानाग्निदग्धकर्माणम् १२८
 पानासि १२४
 ज्ञानी १२८
 * नेयम् १२८
 ज्वर (विगतज्वर) १२९, २५७
 सतम् १३०
 तत्त्वज्ञान १३०
 तत्त्वज्ञानायदशनम् १४५
 तत्त्वदर्शिमि १४५
 तत्त्वदर्शी १३०
 तत्त्ववित् १३०
 * तत्त्वम १३०
 * तदभावभावित १३१
 तद्विद् १३२
 * तप १३२
 * तपोयण १३२
 * तम १३४
 * तमोद्धार १३४
 * तितिष्ठा १३५
 * तुल्यनिदात्मसस्तुति १२५
 तुल्यप्रियाप्रिय १३५
 तुल्य १३५
 * तुष्टि १३६
 * तृष्णा १३७
 तृष्णासगसमुद्भवम् रज १३७
 तेज १३८
 तेजस्वी १३८
 * तेजाऽऽसभवम् १३८

त्यक्तजीविता १३९
 * त्यक्तसवपरिग्रह १३९
 * त्याग १४०
 त्रयीधम १४१
 त्रगुण्यविषया १४१
 त्रिविद्या १४१
 * दक्ष १४१
 * दण्ड १४२
 * दम १० १४४
 * दम १४३
 * दया १४४
 * दप १४५
 * दशन १४५
 दाक्ष्यम १४१
 दातय १४६
 दातयम् १४६
 दानम् १४६
 दिय १४७
 दीघसूत्री १४८
 * दुरासदम् १४८
 दुर्मेघा ४४ १९७
 दुःखतोपानुदशनम् १४५
 दुःखागोकामयप्रदा १८
 दुःखहा १४८
 * दुःखम १४८
 दुःखालयम् १४९
 दृढनिश्चय १४९
 * दृढश्रत १४९
 * दृष्टिम १५०

देव १४७
 * देवद्विजगुरुप्रान्पूजनम् १५१
 * देवयज १५३
 * दवयि ७९, १५३
 देगधम ३१९
 * देहम् १५५
 देही १५५
 दव ६७ १५६
 दवयन १५३
 * द्रव्ययन १५६
 * द्रन्द्रमोह १५६
 द्रन्द्रातीत १५६
 * धमकाम १५७
 * धमसमूढचेता १६०
 * धमसस्थापना १६१
 * धम १६२
 * धर्मात्मा १६३
 * धर्माविरुद्ध १६४
 धम्य १६४
 धारणा १६५
 धीर १६५
 * धति १६५
 धतिगृहीतया १६५
 * धृत्युत्साह १६५
 * ध्यानयोग १६७
 ध्यानम् १६७
 * नख ७३ १६९
 * नष्टात्मन् १६९
 नातिमानिता १७०

पूर्व १९३
 पथकत्व १९४
 * प्रकाश १९४
 * प्रकृति १९५
 प्रजहाति १९६
 प्रजहि १९६
 प्रजहीहि १९६
 प्रजापति १९६
 ना १९६
 ना १९७
 प्रजावाद १९७
 प्रणव ८१ १९८
 प्रणिपात १९८
 प्रणिधाय १९८
 प्रतिजान १९९
 प्रतिजानीहि १९९
 प्रतिष्ठा २००
 प्रतिष्ठाप्य २००
 प्रतिष्ठितम् २००
 प्रतिष्ठिता २००
 * प्रत्यक्षावगमम् २००
 * प्रत्युपकाराथम् २०१
 प्रपन्नम् २०१
 प्रभवम् २०२
 प्रभव २०२
 प्रभविष्णु २०२
 प्रभु २०२
 प्रमाण २०२
 * प्रनागालस्यनिद्रा २०३

* प्रलय २०३
 प्रविभक्तम् २६१
 प्रविलीयते २०४
 * प्रवृत्ति ३१ २०४
 प्रगातात्मा २०५
 * प्रसाद २०५
 प्रिय २०७
 * प्रियहितम् २०६ ३२३
 प्रियाय २०८
 प्रत २०८
 * प्रत्य २०८
 प्रोतम् २०९
 फलहेतु २१० ३२५
 * फलम् २०९
 फलावाक्षी २१०
 * बलम् २१०
 बहुमत २११
 बहुगावा २११
 बाला २११
 बुद्धि ३२ १९७ २११
 बुद्धिग्राह्यम् २१२
 * बुद्धिनाश ३२ २१२
 बुद्धियुक्त २१३
 * बुद्धियोग २१३
 बुध २१३
 ब्रह्म २१४
 * ब्रह्मवम् २१४
 * ब्रह्मवमसमाधिना २१५
 * ब्रह्मचय २१५

मृनि २३७
 मुमुक्षु २३७
 मुह्यति २३८
 * मूढप्राह २३८
 मड २३८
 मृत्यु २३०
 * मृत्युससारवत्मनि २३८
 मृत्युससारसागर २३८
 मेघा १९७ २३९
 मधावी १९७ २३९
 * मत्र २३९
 माक्ष २४०
 मोघकर्मा २४०
 माघनान २४०
 मोघम २४०
 मोघाग २४०
 * मोहनम् २४१
 * माह २४१
 मौन २३७
 यनचक्र २४१
 यनगिष्टम २४२
 * यन ३८ २४१
 * यनचता २४२
 यति ३९ २४३
 यष्टय १४६
 युक्त २४४
 युक्तचता २४४
 युक्तचष्ट २४४
 युक्तनम २४४

युक्तस्वप्नावबोध २४४
 युक्तात्मा २४४
 * युक्ताहारविहार २४४
 युगपत २४५
 * युगम् २४५
 * योग २४६
 योगधारणा २४७
 * यागध्रष्ट २४७
 यागससिद्ध २४७
 योगस्य २४७
 यागी २४८
 योगश्वर २३२
 योनि २४८
 * रज १३७ २४८
 * रस २४८
 * राक्षनी २४९
 रागद्वपी २५०
 राजगुह्य २५०
 राजविद्या २५०
 राजपि ७९ १५३
 राज्य २५०
 राज्यसुसम २५०
 * रात्रि २५१
 * लघ्वासी २५१
 * लाभालाभी २५२
 रुच २५५
 * लोतमहेश्वर २५३
 * लोकमग्रह २५४
 लाव २५४

- * लाम २५५
- * षणसकर २५५
- * वाणिज्यम् ११४
- वात्मल्य १००
- * वाद २५६
- * विक्रम २५७
- विगतकल्मष २५७
- विगतज्वर १२९ २५७
- * विगतभी २५८
- विगुण २५८
- विचेता २५८
- विजितात्मा २५९
- * विजितेन्द्रिय २५९
- * विज्ञानम् २५९
- विदितात्मा २६०
- * विद्याविनयसपत्ने २६०
- विधान २६०
- विधानाकन २६१
- विधि २६०
- विधिष्णु २६१
- विधिहीनम् २६१
- विधयारमा २६१
- विनियतम् १७३
- विनियम्य १७३
- विनिमक्त २६३
- विनिवन्त १७५
- विनिवृत्तनामा १७५
- * विभक्तम् ४५ २६१
- विभूति २६२

- विमुक्त १७५, २३६ २६३
- विमूढभाव २६३
- विमूढात्मा २६३
- विविक्तदेशेवित्त्वम् २६३
- विविक्तमदी २६३
- विशुद्धया बुद्ध्या २६४
- विशुद्धात्मा २६४
- * विषय २६४
- विषयध्यानम् २६५
- * विषयेन्द्रियमयोग २६४
- * विषाद २६५
- विषादी २६५
- विषोदन २६५
- विषीदन्तम् २६५
- विसग २६६
- वीतरागभयक्रोध २६६
- वीतरागा २६६
- * वेगम् २६६
- वेदवादरता २६७
- * वृत्तवृत् २६७
- * वराग्यम् २६८
- वश्य २६८
- * वश्यकम् २६८
- व्यक्त ४६, २७०
- व्यवनाय ४८, २७०
- व्यवमायात्मिका ४८, २७०
- व्यवगिन २७०
- * व्यवस्थितौ २७१
- व्रत २७१

गच्छ २७२
 शम २७२
 गरीरयात्रा २७२
 * शरीरवाडमनोभि २७२
 * शांति २७३
 गारवत २७४
 * शाश्वतधमगोप्ता २७४
 * शास्त्रम् ४८ २७५
 शास्त्रविधिम् ४८
 * शुक्लवृष्ण गती २७६
 शुचि २७९
 गुचीनाम २७९
 शुची २७९
 * गुभाशुभपरित्यागी २७७
 शुश्रूषा ५७
 गद्गा २७८
 शौकसविग्नमानस २७९
 * शौचम् २७९
 * शौयम् २८०
 श्रद्धाणा २८०
 * श्रद्धा २८०
 श्रद्धामय २८०
 श्री २८१
 श्रीमत् २८१
 श्रीमताम् २८१
 * श्रुतिपरायणा २८२
 श्रुतिविप्रतिपन्ना २८३
 * श्रय २०६ २८३
 श्रयान् २८४

श्रुष्ट २८३
 स्वपाक २८४
 सक्त २८४
 सग २८४
 सगरहितम् २८५
 सगवजित २८५
 सगविवजित २८५
 सचेता २८५
 सततम् २८६
 सत २८६
 सत्कार ५३ २८६
 सत्त्वम् २८७
 सत्त्वसशुद्धि २२३ २८७
 * सत्वानुरूपा २८९
 * सत्यम् २८६
 * सनातन १९० २९०
 समचित्तत्वम् २९१
 समता २९१
 * समत्वम् २९१
 समदशन १४५ २९१ :
 समदशिन १४५ २९१
 * समदर्शी २९१ २९२
 समदुःखमुख २९१
 समबुद्धि २९१ २९३ ३०६
 * समलोष्टाश्मकाचन २९३
 * समम् २९३
 सम २९३
 * समाधि २९४
 समारम्भा ६४ २९४

समागत २९५
 समामेन २९५
 मग २९५
 मव २९६
 मवगतम् २९६
 सवगत २९६
 सवघम ३१९
 * मवघमन् परित्यज्य २९६
 सवपापं प्रमुच्यत २९६
 सवभूतहितम् ३२३
 * सवभूनहित रत २९७
 सवभूतात्मभूतात्मा ६३
 मवविद् २९८
 सवहर (मृत्यु) २९८
 * मवर्त्तनपरित्यागी ६४, २९९
 मवर्त्तना ६४
 मवर्त्त्रियगुणाभामम् ३००
 सवर्त्त्रियविवर्जितम् ३००
 * सहजम् ३००
 महज समाधि २४५
 * सहयता प्रजा ३०१
 * मवर ३०१
 * मवल्पप्रभवान् ३०२
 मयाग ३०३
 मम्पद् ३०३
 मम्भावित ३०३
 * सयम ३०४
 सवृत्त ३०४
 * मगय ३०५

मगयात्मा ३०५
 समार २३८
 मम्पगजा ३०५
 * सात्त्विक ३०५
 सात्त्विकी ३०५
 * साम्ययाग ३०६
 माम्येन ३०६
 * नाट्ययोगी ३०७
 मिद्धि ३०७
 * मुद्धृतदुष्कृते ३०९
 मुखदुःख ३०८
 मुद्धुराचार ३१०
 मुद्दन् मित्र-अरि-शुदामीन
 मध्यम्य-द्वेष्य-शत्रु ३११
 मृती ३११
 मवा १९८
 स्तब्ध ३११
 स्तेन ३१२
 स्थितधी ३१२
 * स्थितप्रज्ञ १९७, ३१२
 स्थिरबुद्धि ३१२
 स्थिरमति ३१२
 स्थिरा हृद्या ३१५, ३२५
 स्थयम् ३१२
 स्नेह १००
 स्पर्शा ३१६
 स्पृहा ३१६
 * स्मृति ३१६
 स्मृतिभ्रग ३१६

- स्मतिविभ्रम ३१६
 स्वकम ३१९
 * स्वकमनिरत ३१७
 * स्वजन ३१८
 * स्वघम ३१९
 स्वभावनियतम् १७३
 * स्वभाव ३१९
 * स्वग नरक ७३
 * स्वगपरा ३२०
 स्वगलोक ३२२
 स्वग ३२२
 * स्वाध्याय ३२२

- * हर्षामपभयोद्ग ३२३
 हितम २०६ ३२३
 हितकाम्यया ३२३
 * हिता ३२४
 हृत्स्यम् ३२५
 * हृदय ३२५
 हृदयदौबल्यम् ३२४
 हृदशे ३२५
 हृद्या ३१५ ३२५
 हेतु ३२५
 हेतुमद्भि (ब्रह्मसूत्रपद) ३२६
 हेतुकम् ३२५
 ही ३२६

